शरत् के नारी पात्र

रामस्वरूप चतुर्वेदी



शरत् के नारी पात्र

रामस्वरूप चतुर्वेदी



शरत् के नारी पात्र

शरत् के नारी पात्र

[शरत् के नारी पात्रों का उनकी रचनाओं की समयानुक्रमणिका के आधार पर आलोचनात्मक अध्ययन]

•

रामस्वरूप चतुर्वेदी

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक : 42

प्रथम संस्करण : 1955
द्वितीय संस्करण : 1993

मूल्य : 110 /- रुपये

शरत् के नारी पात्र

लेखक
रामस्वरूप चतुर्वेदी

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इंस्टीट्यूशनल एरिया,
लोदी रोड, नई दिल्ली-110003

मुद्रक
अंकित प्रिंटिंग प्रेस,
शाहदरा, दिल्ली-110032

आवरण शिल्पी : सत्यसेवक मुखर्जी

SHARAT KE NAARI PATRA by Dr. Ramswarup Chaturvedi. Published by Bharatiya Jnanpith, 18, Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-1 0003 and printed at Ankit Printing Press, Shahdara, Delhi-110032.
Second Edition : 1993 Rs. 110.00

जिससे बांग्ला साहित्य के अध्ययन की प्रेरणा मिली

तथा

शरच्चन्द्र के उन सभी वास्तविक-अवास्तविक चरित्रों को

जिन्होंने जीवन के मर्म को

अधिकाधिक समझ सकने के प्रयत्न में

सहयोग दिया है।

"सुसभ्य मनुष्य की स्वस्थ, संयत तथा शुभ बुद्धि नारी जाति को अधिकार अर्पित करने के लिए कहती है, वही मनुष्य की सामाजिक नीति है और उसी से समाज का कल्याण होता है। समाज का कल्याण इस बात से नहीं होता कि किसी जाति की धर्म-पुस्तक में क्या लिखा है और क्या नहीं लिखा है। नारी के मूल्य का विवेचन करते हुए हम अब तक इसी नीति और इसी अधिकार की बात कहते आये हैं। हमने supply और demand अर्थात् उपज और माँग की कीमत भी नहीं कही और यह आशा भी नहीं की कि कोई ऐसा समय आएगा, जब कि पुरुषों की संख्या बहुत बढ़ जाएगी और स्त्रियाँ बिलकुल विरल हो जाएँगी। नारी का मूल्य निर्भर करता है पुरुष के स्नेह, सहानुभूति और न्याय-धर्म पर। भगवान् ने उसे दुर्बल ही बनाया है और पुरुष उसके बल के इस अभाव की पूर्ति ऊपर बतलाई हुई वृत्तियों की ओर देखकर ही कर सकता है, धर्म-पुस्तकों की बातों की बाल की खाल निकालकर और उनके अबोध्य अर्थों की सहायता से उसकी पूर्ति नहीं कर सकता।"

'नारी का मूल्य' —शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय

भारतीय आलोचना : बांग्ला और हिन्दी साहित्य के सम्पर्क की पृष्ठभूमि में

भारत संघ की राजभाषा या कि सम्पर्क-भाषा बनने के बहुत पहले से हिन्दी सभी भारतीय भाषाओं को जोड़ने का काम करती आयी है। इस रूप में हिन्दी क्षेत्र समस्त भारतवर्ष का हृदय-स्थल कहा जा सकता है, न केवल भौगोलिक अथवा शुद्ध भावात्मक दृष्टि से बल्कि रूपक को और प्रमाणित करते हुए समस्त संस्कृति का संचरण करने की दृष्टि से। हृदय सम्पूर्ण शरीर में रक्त-संचार का माध्यम है। हिन्दी क्षेत्र (या प्राचीन मध्यदेश) समूचे भारतवर्ष में राष्ट्रीय संस्कृति का संचार करता रहा है, एक प्रदेश के विचारों-अनुभवों का संक्रमण दूसरे प्रदेश में करता हुआ। कुछ वर्ष हुए हिन्दी में अनूदित उपन्यास-साहित्य पर एक शोध-कार्य देखने का अवसर हुआ था। शोध-कर्त्ता ने वहाँ तथ्यों और आँकड़ों के सहारे दिखाया था कि हिन्दी में सारी आधुनिक भारतीय भाषाओं से उपन्यासों के अनुवाद हुए हैं, संख्या की दृष्टि से बांग्ला के सर्वाधिक। इसके साथ ही एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष उस अध्ययन से यह भी निकलता था कि अनेक भाषाओं में अनुवाद सीधे न होकर हिन्दी के माध्यम से हुए हैं, यानि कोई बांग्ला उपन्यास मराठी या कि गुजराती में सीधे बांग्ला से न होकर हिन्दी अनुवाद के माध्यम से आया है। स्पष्ट ही इन सभी प्रकार के अनुवादों के आधार पर—वे चाहे उपन्यास के हों, या कविता के, या नाटक के—भारतीय साहित्य की अवधारणा बनती है। बंकिम, रवीन्द्र, प्रेमचन्द, क. मा. मुंशी, वि.स. खाण्डेकर, सुब्रह्मण्य भारती बांग्ला, हिन्दी, गुजराती, मराठी, तमिल लेखक तो हैं ही, साथ ही उनका भारतीय चरित्र और परिवेश भी इस रूप में उभरता है।

पिछले कुछ समय से इस सन्दर्भ में यह सजगता बढ़ी है कि आलोचना के परिदृश्य पर हम भारतीय पाठक रिचर्ड्स, एलियट, सार्त्र, रोलाँ बार्थ या कि डैवीडोव के विचारों, सिद्धान्तों से तो परिचित हैं, उन पर अधिकारपूर्वक विवेचन भी करते हैं, पर मढेंकर, टोपीवाला, रामचन्द्र शुक्ल, कारंथ और बुद्धदेव बसु के साहित्य-चिन्तन से हम प्रायः अपरिचित हैं। होना यह चाहिए था कि भारतीय

साहित्य की अवधारणा को आगे विकसित करने में आलोचना का गुणात्मक योग होता, पर अनेक कारणों से आलोचना की यह भूमिका बहुत कम गतिशील हुई। यहाँ आलोचना का दायित्व वस्तुतः दुहरा बनता है। एक ओर तो एक साहित्य के लेखक पर दूसरे साहित्य के आलोचक द्वारा लिखे जाने से समझदारी का सेतु बनता और प्रशस्त होता। दूसरी ओर समूचे भारतीय साहित्य के परिदृश्य पर हुए आलोचनात्मक चिन्तन पर समग्र रूप में विचार-विमर्श चलता। यहाँ स्मरणीय है कि 'आलोचना' पद का प्रयोग ही इस दृष्टि से है कि प्रस्तुत विवेचन के केन्द्र में आधुनिक साहित्य है। संस्कृत और अन्य प्राचीन भारतीय साहित्यों के सन्दर्भ में इस अनुशासन के लिए 'काव्यशास्त्र' प्रयोग समीचीन होगा। इस दृष्टि से 'भारतीय आलोचना' का अर्थ और सन्दर्भ आप से आप आधुनिक काल से जुड़ जाता है, जो प्रायः समूचे भारतीय परिदृश्य पर 19वीं शती से आरम्भ माना जाता है।

भारतीय आलोचना की उपर्युक्त दो प्रक्रियाओं में से 'शरत् के नारी पात्र' (1955) का सम्बन्ध पहली प्रक्रिया से जुड़ता है, अर्थात् जहाँ एक भारतीय साहित्य का समीक्षक दूसरे भारतीय साहित्य के लेखक की रचनात्मकता को अपनी आलोचना का उपजीव्य बनाता है। हिन्दी पाठक का बांग्ला साहित्य से सम्पर्क एक प्रकार से वह बिन्दु है जहाँ से इस रूप में भारतीय साहित्य और भारतीय आलोचना का सूत्रपात होता है। माईकेल मधुसूदन और रवीन्द्र का काव्य, बंकिम तथा शरत् के उपन्यास, द्विजेन्द्रलाल राय से लेकर बादल सरकार के नाटक दो भारतीय भाषा-क्षेत्रों के बीच आरम्भिक सेतु का कार्य करते दिखते हैं। पुन-र्जागरण काल के आरम्भ में 19वीं शती से ही हिन्दी क्षेत्र के निवासियों की बंगाल की ओर उन्मुखता से यह सम्पर्क सम्भव होता है; कलकत्ता उस समय तत्कालीन व्यावसायिक तथा इस सांस्कृतिक उन्मेष का केन्द्र बनता है। बांग्ला ही नहीं, आधुनिक हिन्दी साहित्य, पत्रकारिता तथा प्रकाशन-क्षेत्र की सक्रियता भी बहुत कुछ वहीं से आरम्भ होती है। यह संयोग नहीं कि 'शरत् के नारी पात्र' के उपजीव्य लेखक, आलोचक तथा प्रकाशक तीनों का कलकत्ता नगर से कम-बढ़ सम्बन्ध रहा है। हिन्दी क्षेत्र की बंगाल से यह रचनात्मक स्तर पर क्रिया-प्रतिक्रिया अनेक रूपों में फलप्रद हुई है। कबीर से रवीन्द्रनाथ का, और रवीन्द्रनाथ से निराला का सम्पर्क इस स्तर पर प्रतीक रूप में श्रेष्ठतम उपलब्धियों का उत्प्रेरक कहा जा सकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रकाशन-संस्था भारतीय ज्ञानपीठ ने अपना विस्तृत कार्यारम्भ कलकत्ता में किया। ब्रिटिशकालीन राजधानी की तरह दिल्ली वह बाद में पहुँची। अपने नाम के अनुरूप पहले उनका ध्यान भारत के परम्परागत वाङ्मय की ओर अधिक रहा, पर क्रमशः झुकाव समकालीन साहित्य की ओर

होता गया, जहाँ भारतीय साहित्य की परिकल्पना अभी बहुत उभर कर नहीं आयी थी। 'शरत् के नारी पात्र' अध्ययन जब प्रकाशित हुआ 1955 में तब वह ज्ञानपीठ की लोकोदय ग्रन्थमाला में बयालीसवाँ ग्रन्थ था—अब यह ग्रन्थांक 1993 में पाँच सौ पचास को पार कर गया है—और उर्दू शायरी के सीमित सन्दर्भ को छोड़कर किसी अन्य समकालीन भारतीय साहित्य पर उनका कोई प्रकाशन नहीं था। हिन्दी आलोचना में भी इस प्रकार के अन्तःप्रादेशिक साहित्यिक सम्पर्क को चरित्र-परिकल्पना की सूक्ष्म दृष्टि से सक्रिय करने वाला कोई व्यवस्थित ग्रन्थ था, नहीं कह सकता। रवीन्द्र-काव्य की कुछ व्याख्याएँ ज़रूर थीं, जिनमें निराला का 'रवीन्द्र कविता कानन' सहज स्मरण हो आता है। तथा शरत्-साहित्य पर कुछ परिचयात्मक-आलोचनात्मक पुस्तकें थीं। फिर, जैसा कहा गया, स्वयं ज्ञानपीठ का रुझान कई स्तरों पर भारतीय साहित्य की परिकल्पना को विकसित और पुरस्कृत करने में बढ़ा, जिसके व्यावहारिक रूप में उत्साहवर्धक परिणाम सामने आये। ज्ञानपीठ पुरस्कार की संस्थापना ने—जिसकी रजत जयन्ती तीन वर्ष पूर्व मनायी जा चुकी है—समूचे भारतीय साहित्य को पहली बार एक साथ मूल्यांकित करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया। इस पुरस्कार की धन-राशि (आरम्भ में एक लाख, अब दो लाख) अपनी जगह थी, पर इसकी चयन-प्रक्रिया ने इसे और स्मरणीय तथा विश्वसनीय बनाया। किसी भी पुरस्कार की मर्यादा को बनाने में ये दो तत्त्व प्रधान होते हैं, और इन दोनों ही स्तरों पर ज्ञानपीठ पुरस्कार उत्तरोत्तर महिमामण्डित होता गया है, साथ-साथ भारतीय साहित्य की व्यापक परिकल्पना को और सुदृढ़ बनाता गया है। व्यावहारिक स्तर पर इस पुरस्कार के माध्यम से ज्ञानपीठ भारतीय भाषाओं के अनेक समकालीन क्लासिकों को प्रकाशित कर सका है। इसके अतिरिक्त इधर स्वतन्त्र रूप से भी उन्होंने 'भारतीय कवि' 'भारतीय कथाकार' आदि मालाओं के अन्तर्गत विविध भाषाओं की महत्त्वपूर्ण रचनाओं का प्रकाशन आरम्भ किया है। ज्ञानपीठ के अतिरिक्त साहित्य अकादेमी, नेशनल बुक ट्रस्ट तथा भारत सरकार के प्रकाशन-विभाग ने केन्द्रीय सहायता से भारतीय भाषाओं के साहित्य को एक से दूसरी भाषा में प्रस्तुत किया है। काफी पहले प्रेमचन्द द्वारा संस्थापित पत्र 'हंस', उत्तर प्रदेश हिन्दी समिति, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् जैसी संस्थाओं ने भारतीय भाषा तथा साहित्य के अलग-अलग परिचय-वृत्त प्रकाशित किये थे। अभी हाल में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग ने मेरे सुझाव पर भारतीय साहित्य के व्यवस्थित अध्ययन का प्रारूप प्रस्तुत करके वैदुषिक क्षेत्र में ऐसी पहल की है।

इस सन्दर्भ में अब भारतीय आलोचना की परिकल्पना को प्रसरित होने के लिए विस्तृत अवसर तथा व्यापक क्षेत्र मिल रहा है। इस दिशा में अग्रणी अध्ययन डॉ. नगेन्द्र द्वारा सम्पादित हुआ है 'भारतीय समीक्षा' (1975)। अलग-अलग

साहित्यों में समीक्षा अथवा आलोचना के विकास को दरसाने वाले निबन्ध यहाँ संकलित हैं सम्पादक की विस्तृत भूमिका के साथ, जहाँ भारतीय समीक्षा के व्यापक रूप को स्पष्ट करने का यत्न हुआ है। नगेन्द्र के प्राचीन भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र के ऐसे ही अध्ययनों के क्रम में उनकी यह पुस्तक इस सन्दर्भ में उपयोगी आधार-भूमि प्रस्तुत करती है, पर उससे ऊपर नहीं उठ पाती। यह सम्भवतः उसका क्षेत्र नहीं, और सम्पादक की रुचि की यह सीमा भी है। व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में कार्यशील रहने के बावजूद डॉ. नगेन्द्र का प्रधान क्षेत्र संस्कृत काव्यशास्त्र और सैद्धान्तिक आलोचना का रहा है। इसी पृष्ठभूमि में वे 'भारतीय समीक्षा' शीर्षक अपनी भूमिका में भारतीय समीक्षा की व्याख्या इस रूप में करते हैं— "'भारतीय समीक्षा' का एक तीसरा अर्थ भी हो सकता है : विविध भाषाओं की सामान्य प्रवृत्तियों और उपलब्धियों की संहति ही 'भारतीय समीक्षा' है। इस परिभाषा के अनुसार 'भारतीय समीक्षा' उस समीक्षा-पद्धति का नाम है जो—

भारतीय भाषा-साहित्य के सन्दर्भ में संस्कृत और पाश्चात्य समीक्षा-तत्त्वों के समन्वय से विकसित हुई है;

प्रादेशिक अथवा प्रान्तीय साहित्य की विलक्षणताओं से मुक्त है;

सार्वदेशिक गुणों से समन्वित है;

और भारतीय साहित्य की समग्र चेतना को प्रतिफलित करती है।

मेरे विचार से यही अर्थ सर्वाधिक शुद्ध एवं संगत है, और इसी के आधार पर 'भारतीय समीक्षा' के स्वरूप का निर्णय और विकास-क्रम का निरूपण किया जा सकता है।"

यहाँ डॉ. नगेन्द्र की उपर्युक्त परिभाषा तथा व्याख्या का विस्तृत विवेचन करने का अवसर नहीं है, फिर भी सामान्य रूप में यह तो कहा ही जा सकता है कि डॉ. नगेन्द्र ने भारतीय समीक्षा के अपने द्वारा गिनाये गये लक्षणों में जो दूसरा निर्देश किया है वह नितान्त आदेशात्मक है, शायद उनकी काव्यशास्त्रीय प्रकृति के अनुकूल। यदि प्रादेशिक साहित्य की विलक्षणताओं को परे कर दिया जाएगा तो भारतीय समीक्षा का जो रूप विकसित होगा, वह नितान्त सामान्य कथनों का एक समुच्चय-मात्र होगा, और जो न प्रादेशिक साहित्य के वैशिष्ट्य को प्रकट करेगा और न उस वैशिष्ट्य का योगदान भारतीय आलोचना के स्वरूप में कर पाएगा। वैशिष्ट्य को सार्वजनीन बनाना साहित्य की प्रक्रिया है, और इसी प्रक्रिया का अगला चरण साहित्य की आलोचना या समीक्षा है।

वैशिष्ट्य की अनदेखी करने के ही कारण नगेन्द्र द्वारा प्रस्तुत भारतीय समीक्षा की उपर्युक्त विस्तृत व्याख्या तथा परिभाषा में व्यावहारिक आलोचना का कोई उल्लेख नहीं आता, जो व्यावहारिक आलोचना संस्कृत परम्परा में भले न

रही हो पर आधुनिक भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों विकास-क्रम में साहित्य के अर्थ-संवर्धन का महत्त्वपूर्ण उपक्रम है। इस दृष्टि से साहित्य यदि जीवन की पुनर्रचना है तो आलोचना साहित्य की। स्पष्ट ही बात यहाँ उच्च कोटि के साहित्य और वैसी ही आलोचना की हो रही है। इस सन्दर्भ में एक भाषा का समीक्षक जब दूसरी भाषा की रचना से प्रतिकृत होता है तो व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में भारतीय आलोचना का प्रवाह बनता है, जिसके फिर मन्थन से सैद्धान्तिक आलोचना का स्वरूप उभरता है। स्वयं सैद्धान्तिक आलोचना पर जब बल अनुपात से बाहर दिया जाने लगता है तो वह एक स्वतन्त्र अनुशासन के रूप अधिक विकसित होने लगती है और साहित्य से उसका सम्बन्ध कमतर होने लगता है, जो न आलोचना के हित में है और न साहित्य के ही।

'शरत् के नारी पात्र' प्रस्तुत लेखक की पहली और हर दृष्टि से आरम्भिक आलोचना-कृति है। इस दृष्टि से आज इसके मूल पाठ में संशोधन की प्रक्रिया व्यावहारिक नहीं रह गयी है। स्पष्ट ही सैंतीस वर्ष की लम्बी अवधि में आलोचक की भाषा का मुहावरा और दृष्टिकोण काफ़ी कुछ बदला है। नहीं बदला है तो उसका भारतीय आलोचना की अवधारणा के प्रति लगाव जो और ऊपर उठकर साहित्य मात्र के प्रति लगाव में बदल जाता है। हिन्दी साहित्य से भारतीय साहित्य, और भारतीय साहित्य से साहित्य मात्र तक की यह यात्रा हर प्रबुद्ध पाठक तथा आलोचक के लिए काम्य है।

14 जुलाई 1993 प्रयाग, —रामस्वरूप चतुर्वेदी

भूमिका

[प्रथम संस्करण से]

प्रस्तुत पुस्तक मेरे शरत् के नारी पात्रों पर तीन वर्ष के लम्बे व्यवधान में समय-समय पर लिखे हुए क्रमागत निबन्धों का संकलन है, जिनमें से अधिकांश धारावाहिक रूप से मासिक 'सुमित्रा' में प्रकाशित हुए थे। स्वतन्त्र रूप से लिखे जाने पर भी ये निबन्ध एक निश्चित योजना के अन्तर्गत हैं, और पुस्तकाकार में प्रकाशित होते समय इनमें कुछ सामग्री बढ़ाई गयी है। पूरे ग्रन्थ की योजना जुलाई 1951 ई. में बनी थी, और इस की समाप्ति दिसम्बर 1954 ई. में हुई। समयानुक्रमणिका के आधार पर शरच्चन्द्र के नारी पात्रों का यह प्रथम विस्तृत तथा वैज्ञानिक अध्ययन है। सच तो यह है कि इस प्रकार के अध्ययन अभी हिन्दी में स्थिर थीसिस रूपों के अतिरिक्त साधारणतः देखने में नहीं आते। हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में इस दृष्टिकोण से इसे अपने ढंग का प्रथम प्रयास कहा जा सकता है।

विश्व-कथा-साहित्य में शरच्चन्द्र के नारी-चरित्रों का अपना विशिष्ट स्थान है। नारी-जीवन के विभिन्न तथा विरोधी पहलुओं ने उनके उपन्यासों तथा कहानियों में अत्यन्त मार्मिक अभिव्यक्ति पायी है। बंगाल के नारी-समाज की मुक्ति में शरच्चन्द्र का कितना अधिक हाथ रहा है, इसे वहाँ के सामाजिक इतिहासकार आने वाले वर्षों में भलीभाँति पहचान सकेंगे। भारतीय नारी की दुरवस्था शरत् की कला की मूल प्रेरक शक्ति रही होगी, ऐसा मानना बहुत असंगत नहीं कहा जा सकता। उपन्यासकार का प्रसिद्ध निबन्ध 'नारीर मूल्य' मानो उनकी कला का 'मेनीफेस्टो' है। तत्कालीन नारी-जीवन की दुर्दशा का विवेचन तथा समाधान उन्होंने अपने इस विस्तृत निबन्ध में प्रस्तुत किया था, और इसी का कलात्मक निरूपण उन्होंने अपने कथा-साहित्य में किया है। बंगाल की नारी की अपरिसीम वेदना उनकी रचनाओं में उमड़ पड़ी है। शरच्चन्द्र की आत्मा मूलतः एक कलाकार की आत्मा है, परन्तु मानव-जीवन की गहरी सहानुभूतियों तथा समस्याओं ने उनकी कला को एकांगी नहीं बनने दिया है। कला और उद्देश्य उनकी कृतियों में इतने घुले-मिले दिखाई देते हैं कि उन्हें अलग-अलग करके नहीं पहचाना जा सकता।

अपनी इस पुस्तक के द्वारा मैंने शरच्चन्द्र के नारी-समाज की एक विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करने का यत्न किया है। शरत् के सभी उपन्यासों तथा कहानियों के नारी-चरित्रों का इसमें विश्लेषण किया गया है; केवल उनकी अपूर्ण कृतियों को इस समीक्षा में सम्मिलित नहीं किया गया। पुस्तक में न केवल उपन्यासकार के नारी-पात्रों का स्वतन्त्र विश्लेषण किया गया है; वरन् उसकी नारी सम्बन्धी साधारण विचार-भूमिका का भी विवेचन हुआ है। साथ ही समीक्षा का क्रम शरत् की रचनाओं की समयानुक्रमणिका पर आधारित होने के कारण, इससे उनकी नारी सम्बन्धी विचारधारा के स्वाभाविक विकास को भी समझा जा सकता है। पुस्तक के अन्त में तीन परिशिष्ट जोड़कर विवेचन को यथासाध्य अपने में पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया है।

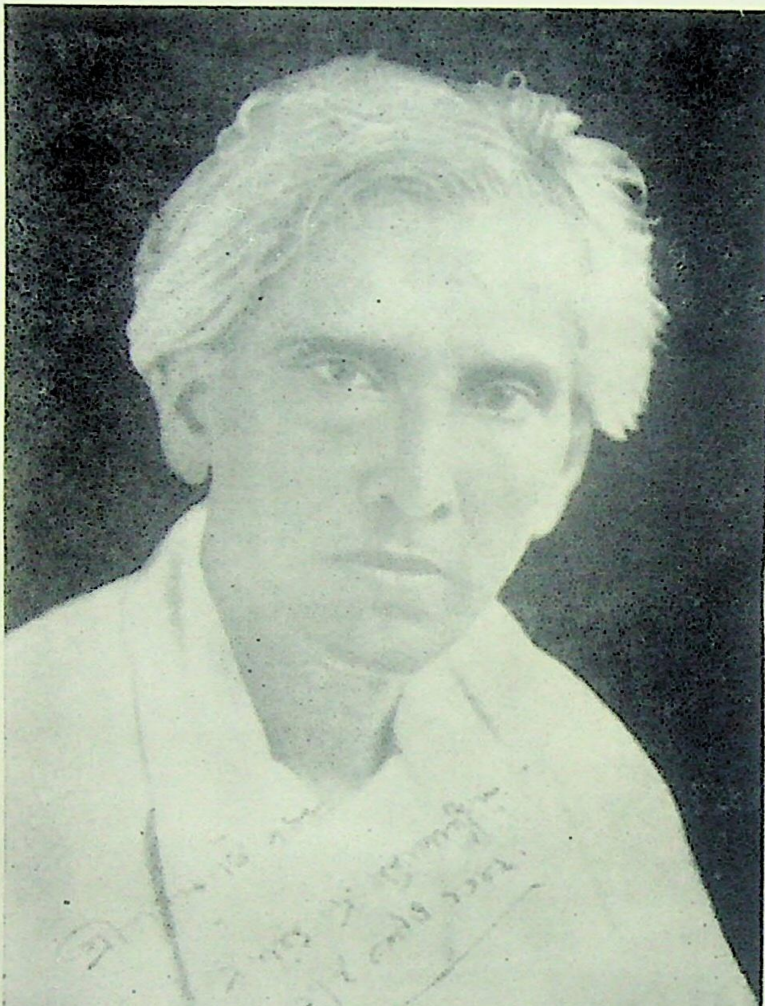
एक बात इस पुस्तक में अपनाई गयी समीक्षा-शैली के सम्बन्ध में भी कहना चाहूँगा। इस अध्ययन में शरत् के नारी पात्रों का यथातथ्य एवं वैज्ञानिक विश्लेएण किया गया है। उन पात्रों के मूल्यांकन की विशेष चेष्टा नहीं की गई है। इसीलिए इस विवेचन में पाठक को विवादग्रस्त विषय अधिक नहीं मिल सकेंगे। इससे सम्भव है कि शरत् के नारी पात्रों का यह विश्लेषण कुछ रूखा तथा इतिवृत्तात्मक अधिक हो गया हो, परन्तु वैज्ञानिक आलोचना-प्रणाली में यह एक दोष नहीं, वरन् गुण के ही रूप में माना जाता है। हाँ, शरत् के इतने रसमय चरित्र-चित्रण का इतने इतिवृत्तात्मक ढंग से विश्लेषण करने में कभी-कभी मैंने स्वयं असन्तोष का अनुभव किया है। पाठक तथा आलोचक का यह संघर्ष मेरे मन में एक से अधिक बार हुआ है।

अत्यन्त परिश्रमपूर्वक लिखी जाने पर भी पुस्तक के दोषों के प्रति लेखक से अधिक जागरूक और कोई व्यक्ति नहीं होगा। लेखक के अबंगाली होने के कारण यदि विषय-विवेचन में एक ओर सन्तुलन आ सकता है तो उसके साथ-ही-साथ दूसरी ओर उसमें कुछ भूलों का हो जाना भी बहुत असम्भव नहीं है।

अन्त में अपने मित्रों तथा सहयोगियों के प्रति आभार-प्रदर्शन का प्रिय कर्तव्य मेरे निकट शेष रह जाता है। पुस्तक की प्रारम्भिक योजना बनाते समय श्रीमती सुजाता गुहा तथा पुष्पा मित्रा ने जो सहायता दी थी उसके बिना लेखन का कार्य आगे ही नहीं बढ़ सकता था। श्री विट्ठल शर्मा ने मेरे प्रारम्भिक प्रयत्नों को सफल बताकर आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहन दिया था। डॉ. रघुवंश तथा डॉ० धर्मवीर भारती के स्नेह तथा सत्परामर्श ने मेरे शरत्-सम्बन्धी विवेचन को कितना अधिक स्पष्ट बनाया है, इसका अनुमान मैं स्वयं नहीं कर पाता। श्रद्धेय इलाचन्द्र जोशी ने समय-समय पर विषय-सम्बन्धी अनेक कठिनाइयों को सुलझाने में सहायता दी है। पुस्तक को प्रकाशन के लिए तैयार करवाने का अधिकांश श्रेय श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी को है।

मैं उन अनुवादकों के प्रति आभार प्रदर्शित करता हूँ, जिनके शरत्-साहित्य के रूपान्तरों का प्रस्तुत ग्रन्थ में उपयोग किया गया है, तथा श्रद्धेय वाचस्पति पाठक तथा कला-भवन काशी के अध्यक्ष श्री रायकृष्णदास का भी आभारी हूँ जिनके सौजन्य से शरत् का चित्र इस पुस्तक में दिया जा सका है। इस प्रसंग में भारतीय ज्ञानपीठ, काशी के लोकोदय ग्रन्थमाला के सम्पादक श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन तथा मन्त्री श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय के सहयोग का उल्लेख होना आवश्यक है, जिसके अभाव में पुस्तक प्रेस तक कठिनाई से ही पहुँच पाती। अन्त में मैं अपने सहयोगी डॉ. जगदीश गुप्त का सस्नेह स्मरण करता हूँ, जिन्होंने पुस्तक की सज्जा के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। मैं अपने इन सभी मित्रों तथा गुरुजनों के प्रति हृदय से कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

प्रयाग, 15 मार्च 1955 —रामस्वरूप चतुर्वेदी



श्री शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय

शरत् का संक्षिप्त जीवन-वृत्त

शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय का जन्म अपने पिता मतिलाल चट्टोपाध्याय की ननिहाल हुगली ज़िला के अन्तर्गत देवानन्दपुर नामक गाँव में 15 सितम्बर 1876 ई. को हुआ था ! उनका बाल्यकाल देवानन्दपुर में तथा कैशोर्य भागलपुर में व्यतीत हुआ। भागलपुर में छात्रवृत्ति पाकर शरत् ने टी. एन. जुबिली कालेजिएट स्कूल में प्रवेश किया। 1893 ई. में हुगली स्कूल के विद्यार्थी रहने के समय उनकी साहित्य-साधना का सूत्रपात हुआ। 1894 ई. में शरत् ने एन्ट्रेन्स परीक्षा द्वितीय श्रेणी में पास की। इसी समय भागलपुर की साहित्य-सभा की उन्होंने स्थापना की। सभा का मुखपत्र हस्तलिखित मासिकपत्र 'छाया' था। 1896 ई. से लेकर 1899 ई. तक का समय इधर-उधर साहित्य-चर्चा में व्यतीत हुआ। कॉलेज का अध्ययन इसके पूर्व ही समाप्त हो चुका था। इसी समय में शरत् ने बनेली इस्टेट में नौकरी कर ली थी। 1900 ई. में वे संन्यासी के वेष में निरुद्देश्य देश-भ्रमण के लिए निकल पड़े। पिता की मृत्यु के उपरान्त 1902 ई. में वे अपने मामा लालमोहन गंगोपाध्याय के पास कलकत्ता आ पहुँचे। 1903 ई. की जनवरी में बर्मा-यात्रा की। इसी वर्ष 'कुन्तलीन पुरस्कार 1309 सन्' शीर्षक पुस्तक में मामा सुरेन्द्रनाथ के नाम से 'मन्दिर' कहानी प्रकाशित हुई। 1907 ई. में 'भारती' में 'बड़ दिदि' उपन्यास छपा। मासिक पत्रों में प्रकाशित उपन्यासकार की यह प्रथम रचना है। 1913 ई. में 'बड़ दिदि' पुस्तकाकार मुद्रित हुआ। यह शरत् की प्रथम मुद्रित पुस्तक है। 1915 ई. में लेखक का 'यमुना' पत्रिका से सम्बन्ध-विच्छेद हुआ, और इसके उपरान्त वे नियमित रूप से 'भारतवर्ष' में लिखने लगे। स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण 1916 ई. में शरत् बर्मा छोड़ आये और बाजे-शिवपुर में रहने लगे। 1921 ई. में उन्होंने कांग्रेस के आन्दोलन में योग दिया। 1922 ई. में ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस से 'श्रीकान्त' (प्रथम पर्व) का अंग्रेज़ी रूपान्तर प्रकाशित हुआ। इसके बाद से शरत् के यश में उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। अनेक सभाओं तथा संस्थाओं के वे अध्यक्ष तथा मान्य सदस्य बनाये जाने लगे। 1936 ई. में ढाका विश्वविद्यालय ने उन्हें आनरेरी डी. लिट्. की उपाधि प्रदान की। अपने जीवन के उत्तर काल में शरत् रवीन्द्रनाथ के भी स्नेह तथा प्रशंसा के भागी रहे। 16 जनवरी 1938 ई. को कलकत्ता पार्क नर्सिंग होम में 62 वर्ष की अवस्था में शरच्चन्द्र का निधन हुआ।

इस संक्षिप्त जीवन-वृत्त के लिए सामग्री श्री ब्रजेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय की पुस्तक 'शरत्-परिचय' से ली गयी है।

अनुक्रम

बड़ी बहिन [बड़ दिदि]	19
सुमति [रामेर सुमति]	23
चन्द्रनाथ	27
बिन्दो का लल्ला [बिंदुर छेले]	32
विराज़ बहू [विराज बौउ]	38
परिणीता	45
चरित्रहीन	51
पण्डितजी [पण्डित मॉशाइ]	65
मँझली बहिन [मेज दिदि]	72
ग्रामीण समाज [पल्ली-समाज]	78
अरक्षणीया	83
श्रीकान्त [श्रीकान्तेर भ्रमण काहिनी]	91
देवदास	180
दत्ता	118
गृह-दाह	126
ब्राह्मण की बेटी [बामुनेर मेये]	140
लेन-देन [देना-पाउना]	151
पथ के दावेदार [पथेर दावी]	160
नव-विधान	177
शेष प्रश्न	190
विप्रदास	228

परिशिष्ट

शरत् के नारी पात्र : सामान्य प्रवृत्तियां	242
शरत् के अपेक्षाकृत गौण नारी पात्र	249
शरत् के नारी पात्रों की सामाजिक पृष्ठभूमि	267
शरच्चन्द्र की रचनाओं की समयानुक्रमणिका	272
सहायक पुस्तकें	279
अनुक्रमणिका	280

शरत् के नारी पात्र

बड़ी बहिन

[बड़ दिदि]

शरत् की 'बड़ी बहिन' का प्रकाशन बांग्ला-साहित्य में एक घटना है। जिस कथावस्तु को लेकर यह उपन्यास चलता है, उसका तत्कालीन बंग-समाज ने तीव्र विरोध किया, और उसके अज्ञात लेखक को बड़े ही आड़े हाथों लिया गया। इस तीखे विरोध का एकमात्र कारण यह था कि 'बड़ी बहिन' में एक विधवा नारी के हृदय में फिर से रागात्मिका वृत्ति का प्रादुर्भाव दिखाया गया है। परन्तु महान् कलाकार तो सदैव ही अपने समय के सबसे बड़े विद्रोही हुआ करते हैं। शरत् ने अपनी आँखों देखा था कि मात्र एक श्वेत साड़ी के पहिना देने से ही एक विधवा नारी की वासना एवं उसके हृदय की रंगीनियाँ शान्त नहीं हो जातीं। वे सूक्ष्म मानव-जीवन के अन्तर्द्रष्टा थे। उन्होंने नारी के अन्तःकरण में पैठकर देख लिया था कि वहाँ सदैव ही असीम स्नेह का सतत स्रोत वर्त्तमान है, जो सरस्वती की भाँति गुप्त रहने पर भी यथावसर प्रकट हुए बिना नहीं रहता

और फिर 'बड़ी बहिन' का कथानक ऐसा विशेष आघात पहुँचने वाला भी नहीं है। एक धनी पिता का एकमात्र पुत्र सुरेन्द्र अपने घर से रूठकर कलकत्ते चला जाता है। वह शिशु के समान सरल एवं निरीह तथा परले सिरे का लापरवाह है। वहाँ एक ज़मींदार की छोटी पुत्री के शिक्षक के रूप में रहने लगता है। ज़मींदार की बड़ी लड़की माधवी (बड़ी बहिन), जो बाल-विधवा है, घर का सारा प्रबन्ध करती है। उसकी ममता का एक भाग सुरेन्द्र को भी मिलता है। एक दिन जब वह अचानक ही ज़मींदार का घर छोड़कर चल देता है तो उसे तथा माधवी दोनों को ही ज्ञात होता है कि वे परस्पर एक-दूसरे के स्नेहों में कितने बँधे हुए थे। माधवी अपना पितृ-गृह छोड़कर अपनी निर्धन ससुराल में चली जाती है, जहाँ सुरेन्द्र का मैनेजर उसकी सारी जायदाद कुर्क करा लेता है। अपनी मृत्यु-शय्या पर सुरेन्द्र एक बार फिर माधवी से मिलता है और मरने के पहले उससे कह जाता है, "बड़ी बहिन, उस दिन की बात याद है, जिस दिन तुमने मुझे निकाल दिया था ? मैंने इसीलिए अब तुमसे बदला लिया है। तुम्हें भी निकाल दिया। क्यों, बदला चुक गया न ?"

माधवी का हृदय प्रारम्भ से लेकर अन्त तक, हमें अगाध स्नेह से भरा हुआ दिखाई देता है। शरत् के अनुसार नारी और स्नेह एक दूसरे के पर्याय से जान पड़ते हैं। माधवी के वैधव्य ने उसे भी कोमल तथा सजल बना दिया है। उसकी ममता का आधार ही सुरेन्द्र को उसके आगामी वर्षों में प्रेरणा देता है। वह उसके नाम तक का सम्मान करने लग जाता है, परन्तु माधवी का यह स्नेह असहाय है और इसीलिए 'बड़ी बहिन' का अन्त हम दुःखद पाते हैं। कुछ भी हो, स्नेह और ममता से नारी का निर्माण हुआ है, शरत् का यह अटूट विश्वास हमें उनकी प्रथम कृति में ही देखने को मिल जाता है।

माधवी विधवा नहीं, बाल-विधवा है, किन्तु उसके पितृ-गृह के पारिवारिक स्नेह ने उसके यौवन के उद्दाम वेग को दबा-सा रखा है। वस्तुतः स्नेह और ममता ये ही वे दो तत्त्व हैं, जिनके सहारे मांस का प्रबल विद्रोह शान्त किया जा सकता है। जब तक माधवी के पति जीवित थे, जब तक उसका सर्वस्व उन्हीं पर केन्द्रीभूत था, किन्तु मरते समय वे स्वयं ही कह गये थे, "माधवी, जो जीवन तुम मेरे सुख के लिए समर्पित करतीं, वही जीवन अब सबके सुख के लिए समर्पण करना। जिसका मुख कष्टपूर्ण और उदास देखना, उसी का मुख प्रफुल्लित करने की चेष्टा करना" और इसीलिए अब माधवी का स्नेह सब के लिए समान है। अपने रूप के प्रति वह जागरूक नहीं; अपने यौवन के प्रति वह उदासीन है। लेकिन फिर भी "अब स्वामी नहीं हैं, इसलिए उसने फूलों के सब पेड़ कटवा नहीं डाले हैं। अब भी उसमें उसी प्रकार फूल खिलते हैं, लेकिन वे ज़मीन पर गिरकर मुरझा जाते हैं। अब वह उन फूलों की माला पिरोने नहीं बैठती, लेकिन फिर भी उन सब को एकत्र करके और उन्हें अंजुली में भर-भर दीन-दुखियों में बाँट देती है। जिनके पास नहीं है, उन्हीं को देती है।" वस्तुतः माधवी का यह रूप जितना करुणापूर्ण है, उतना ही श्रद्धास्पद भी। उसकी दशा उस मलय-चन्दन के समान हो गयी है जो किसी देवता के मस्तक पर न चढ़कर पवन की प्रेरणा से समस्त वन को सुगन्धि से आप्लावित करता फिरता है; अब उसकी सत्ता ऐकान्तिक न होकर सार्वजनीन है।

परन्तु इतना सब होने पर भी नारी की अवचेतना में छिपी हुई किसी व्यक्ति विशेष को अपनाने की प्रवृत्ति जाग ही उठती है। "इस जीवन में कितनी साध और कितनी आकांक्षाएँ होती हैं! विधवा होने पर वे सब कहीं चली नहीं जातीं!" इसी तथ्य को अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढंग से शरत् ने 'बड़ी बहिन' में प्रतिपादित किया है। अनजाने ही में माधवी सुरेन्द्र की ओर आकर्षित होती चली जाती है, परन्तु सुरेन्द्र का स्नेह तो एकदम बालकों जैसा है—निर्मल तथा विकारहीन, उसका 'वृद्धों का-सा वैराग्य, बालकों की-सी सरलता और पागलों की-सी उपेक्षा, माधवी के समर्पण को पहिचानने में असमर्थ है।' यह एक अनोखा

व्यंग्य है कि माधवी भी अपने समर्पण को तभी जान पाती है, जबकि सुरेन्द्र वापस अपने घर चला जाता है।

यहाँ पर एक बात ध्यान देने योग्य है और वह यह कि माधवी मन-ही-मन सुरेन्द्र से प्रेम करती हुई भी भी लोक-मर्यादा का पूरा ध्यान रखती है, और इसी लिए वह अस्पताल में रोगी सुरेन्द्र को देखने के लिए नहीं जाती। वस्तुतः संयम के साँचे में ही उसका प्रेम और सौन्दर्य निखरा है। उसके जीवन में उच्छृंखलता का कोई स्थान नहीं।

सुरेन्द्र को खो देने पर माधवी अपने पितृ-गृह को छोड़कर अपनी ससुराल चली जाती है, परन्तु उसे वहाँ भी चैन नहीं मिलता। विधवा नारी के जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप रूप और यौवन जो उसके साथ है।' "स्वामी के मरने के उपरान्त जब वह अपने पिता के घर लौट आयी, तब सभी ने कहा 'बड़ी बहिन', सभी ने पुकारा 'माँ'। इन सम्मानपूर्ण सम्बोधनों ने उसके मन को और भी अधिक वृद्ध कर डाला था। कहाँ का रूप और कहाँ का यौवन!" परन्तु समय ने बता दिया कि उसके रूप और यौवन का उसके लिए कोई महत्त्व भले ही न हो, पर ओरों के लिए वह निश्चय ही विशेष महत्त्वपूर्ण है, और तभी उसे अपना गाँव छोड़कर बाहर जाना पड़ा।

'बड़ी बहिन' में माधवी की कहानी किसी नारी-विशेष की नहीं है; वह तो शतशः विधवाओं की करुण कथा है। मनोरमा के शब्दों में शरत् स्पष्ट बोलते हुए जान पड़ते हैं—"तुम ठीक कहते हो, स्त्रियों का कोई विश्वास नहीं। मैं भी अब यही कहती हूँ, क्योंकि माधवी ने आज मुझे यह सिखला दिया है। मैं उसे बाल्यावस्था से ही जानती हूँ, इसलिए उसे दोष देने को जी नहीं चाहता, साहस नहीं होता, समस्त स्त्री-जाति को दोष देती हूँ, विधाता को दोष देती हूँ कि उन्होंने क्यों इतने कोमल और जल के समान तरल पदार्थ से नारी का हृदय गढ़ा था। उनके चरणों में प्रार्थना है कि वे हृदय को कुछ और कठोर बनाया करें", परन्तु हम निश्चित रूप से जानते हैं कि शरत् की यह प्रार्थना सुनी नहीं जायेगी। तब फिर इस समस्या का हल क्या है? इस सम्बन्ध में शरत् का कलाकार मौन है। विश्वामित्र ने तो एक अधूरी सृष्टि की रचना की थी, परन्तु शरत् ने एक सम्पूर्ण सृष्टि का सृजन किया है, और जिस प्रकार कि विधाता अपनी निर्मित वस्तुओं के सम्बन्ध में मौन है, उसी प्रकार शरत् भी। यहीं हमें उनकी कला अपने चरम रूप में दिखाई पड़ती है।

'बड़ी बहिन' की नारी का हृदय निश्छल एवं सरल है। उसमें कोई गहनता नहीं है। माधवी का जीवन उतना जटिल नहीं है, जितना कि 'गृहदाह' की अचला और 'शेष प्रश्न' की कमला का। सम्भवतः शरत् की प्रार्थना विधाता ने 'शेष प्रश्न' में सुनी है, जहाँ उनकी नारी का हृदय 'कुछ और कठोर' बनाया गया

है, परन्तु फिर शीघ्र ही लेखक 'विप्रदास' में अपनी पुरानी मान्यताओं पर पहुँच गया है। अस्तु, 'बड़ी बहिन' की नारी अपनी प्राथमिक अवस्था में है, इसमें कोई सन्देह नहीं। स्नेह और ममता से निर्मित नारी की यह जीवित प्रतिमा कलाकार ने बड़ी कुशलता से निर्मित की है और यद्यपि उसमें जीवन के विभिन्न रंगों एवं रंगीनियों का अभाव है, फिर भी उसकी शुभ्रता श्रद्धास्पद है।

'बड़ी बहिन' के अन्य नारी-पात्रों में सुरेन्द्र की विमाता भी कम उल्लेखनीय नहीं है। 'यह विमाता स्वयं अपनी सन्तान के प्रति बहुत कुछ उदासीन रहने पर भी सुरेन्द्र की इतनी हिफ़ाज़त करती है, जिसकी कोई हद नहीं।' ऐसा जान पड़ता है कि 'बड़ी बहिन' की राय-गृहिणी ही आगे 'रामेर सुमति' की नारायणी हो गयी है, जिसके स्मरण मात्र से ही वात्सल्य का एक अत्यन्त कोमल तथा सजल रूप हमारी आँखों के सामने आ जाता है। यहाँ भी हमें शरत् की नारी की ममता और स्नेह का वह दृश्य देखने को मिलता है, जो सहज ही भुलाया नहीं जा सकता।

सुरेन्द्र की पत्नी शान्ति और शिवचन्द्र की स्त्री के चरित्र विशेष (individual) न होकर सामान्य (type) हैं, यद्यपि शिवचन्द्र की स्त्री की अपेक्षा शान्ति का चरित्र अधिक उभारा गया है। उसके जीवन में उन्हीं विशेषताओं का उन्मेष दृष्टिगत होता है, जिनसे शरत् के सभी नारीपात्र ओत-प्रोत हैं, परन्तु यह एकदम निश्चित है कि 'बड़ी बहिन' में शरत् भले ही एक विद्रोही कलाकार के रूप में दिखाई पड़ें, किन्तु उनके इस उपन्यास में किसी विद्रोहिनी नारी-पात्र की अवतारणा नहीं की गयी है। सच तो यह है कि बड़ी बहिन (माधवी) अपने आँसुओं में भी मौन है। विधवा नारी के मूक रुदन के ही कारण शरत् का यह उपन्यास आदि से अन्त तक सिसकता हुआ जान पड़ता है।

सुमति

[रामेर सुमति]

'रामेर सुमति' शरत् की उत्कृष्टतम कहानियों में-से एक है। स्नेह, ममता और वात्सल्य का जितना सुन्दर परिपाक लेखक की इस रचना में हुआ है, वह किसी भी साहित्य की कृति में मिलना मुश्किल है। नारी का नारीत्व वात्सल्य में है, इस तथ्य का प्रतिपादन हमें शरत् की इस कहानी में मिलता है। 'बड़ी बहिन' में जिस राय-गृहिणी के दर्शन हमें सुरेन्द्र की विमाता के रूप में होते हैं, उसी का परिवर्द्धित संस्करण 'रामेर सुमति' में राम की मातातुल्य भाभी नारायणी है।

नारी का एक रूप विमाता का है। साहित्य में विमाता सदैव ही दुष्ट, क्रोधी एवं ईर्ष्यालु प्रकृति की चित्रित की जाती है, परन्तु शरत् परम्पराओं को लेकर चलने वाले न थे। उनके मनोविज्ञान ने उन्हें नारी का सम्मान करना सिखाया और इसीलिए उन्होंने नारीत्व के इस महान् अभिशाप को, इस गहरे कलंक को 'रामेर सुमति' में मिटाने की चेष्टा की है; और इस सम्बन्ध में कोई दो राय नहीं हो सकतीं कि अपने इस कार्य में वे पूर्ण सफल हुए हैं। साथ ही नारी-समाज की इस वकालत में उन्होंने साधारण मानव-जीवन के तथ्यों की कहीं अवहेलना नहीं की है। उन्होंने वही कहा है जो मनोविज्ञान-सम्मत है।

जैसाकि उनके निबन्ध 'नारी का मूल्य' (नारीर मूल्य) से स्पष्ट है, शरत् प्रारम्भ से ही नारी समाज को सामाजिक मुक्ति न सही तो साहित्यिक मुक्ति दिलाने का दृढ़ संकल्प करके चले ही थे। उनका यह दावा नितान्त सत्य है। अपने मन्तव्य की पुष्टि में उन्होंने बड़ी सीधी, सरल, परन्तु मर्मस्पर्शी युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, और जिरह करने का कलात्मक ढँग तो उनका अपना ही है। इसीलिए उनकी कृतियों का सामाजिक मूल्य होने के साथ-ही-साथ, साहित्यिक मूल्य भी कम नहीं है।

ऐसा जान पड़ता है कि 'रामेर सुमति' की नारायणी और दिगम्बरी में शरत् ने सम्पूर्ण नारीत्व को चित्रित कर दिया है। नारायणी अपने चरित्र की उज्ज्वलता में हिमालय से भी ऊँची है, और उसी प्रकार दिगम्बरी अपने चरित्र की नीचता में समुद्र से भी गहरी है। इन दोनों के चरित्र के विरोधाभास के कारण नारायणी

का व्यक्तित्व और भी उज्ज्वल तथा कोमल हो गया है। एक ओर नारी हमें अपने उत्कृष्टतम रूप में दिखाई देती है तो दूसरी ओर अपने निकृष्टतम रूप में भी, परन्तु स्वाभाविकता दोनों ही में है, इसमें कोई सन्देह नहीं। एक में उदात्त भावनाओं की स्वीकृति है तो दूसरी में ईर्ष्या एवं अकारण क्रोध की प्रवृत्ति ने स्थान पाया है।

'रामेर सुमति' का कथानक सीधा, सरल एवं छल-प्रपंचों से मुक्त है इसीलिए वह हमारे हृदय को छूता ही नहीं, वरन् वह उसे हिला डालता है। राम अपनी बड़ी भाभी नारायणी के स्नेह की छाया में पलकर बड़ा होता है, क्योंकि उसकी विधवा जननी की मृत्यु हो चुकी है। इसी बीच में नारायणी की निराश्रया माँ दिगम्बरी अपनी लड़की के घर रहने को आ जाती है। न जाने क्यों उसे राम अच्छा नहीं लगता। ऐसा जान पड़ता है कि राम उसके जीवन में सबसे बड़ा शत्रु है। नारायणी की दैनिक-चर्या में बाधा पड़ती है और कुछ दिनों के लिए उसकी गृहस्थी में कलह का राज्य हो जाता है। इसी बीच में शरत् ने बालक राम को आलम्बन बनाकर जिन करुण दृश्यों की सर्जना की है, वे अपने क्षेत्र में अपूर्व हैं। अन्त में नारायणी के प्रबल स्नेह के आगे दिगम्बरी की दुष्ट प्रवृत्तियों को दबना पड़ता है, और वही राम के पीछे घर छोड़कर चल देती है। फिर नारायणी की गृहस्थी में स्नेह और ममता का साम्राज्य पूर्ववत् स्थापित हो जाता है।

राम यदि नारायणी के हृदय की सबसे बड़ी कमजोरी है तो दिगम्बरी के हृदय की भी। दोनों के दृष्टिकोण में भेद है। एक यदि उसे अपने जीवन में ममता का केन्द्र बनाती है तो दूसरी अकारण ही सदैव उसके प्रति अपना क्रोध प्रदर्शित करती रहती है। दिगम्बरी की ईर्ष्या निर्बल एवं साधनहीन है, अन्यथा वह राम के जीवन पर भी अवश्य आघात करती (अपने मुख से तो वह राम की मृत्युकामना प्रायः ही किया करती है)। इन दोनों नारियों के मनोभावों के घात-प्रतिघात में नारायणी के स्नेह की अपूर्व झाँकी के दर्शन होते हैं और उसके वात्सल्य की अमिट प्रतिमूर्त्ति हमारे हृदय पर अंकित हो जाती है।

नारायणी का अपने पुत्रतुल्य देवर राम के प्रति अगाध स्नेह, यही इस कहानी की मूल संवेदना है, परन्तु शरत् ने भाभी के इस स्नेह को एकदम आदर्शात्मक एवं अतिमानवीय नहीं बनाया है। राम से नाराज होने पर नारायणी उसका तिरस्कार करती है, उसे मारती भी है, परन्तु इससे उसके हृदय की ममता में कोई कमी नहीं होती। यहीं शरत् का मनोविज्ञान जो दूर से आदर्शवादी जान पड़ता हुआ भी नितान्त तथ्यात्मक है, अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। नारायणी का चरित्र अपने आप में एक पूर्ण कलाकृति है। तेरह वर्ष की अवस्था से ही उसने बालक राम को पाला-पोसा है। इसलिए उसकी ममता का केन्द्र प्रारम्भ से लेकर अन्त तक राम ही दिखाई देता है। राम के प्रति उसका प्रत्येक

सम्बोधन उसके अपार स्नेह का प्रतीक है। देवर के प्रति उसका क्रोध भी अधिकारपूर्ण एवं ममत्व से भरा हुआ है।

जिस व्यक्ति से हम किसी भी प्रकार सम्बन्धित होते हैं, उसका कोई दुष्कृत्य सुनकर हमें लज्जा आती है। नारायणी भी राम के सब कार्यों के लिए अपने को ही उत्तरदायी समझती है। जब वह डाक्टर से सुनती है कि राम ने उसके घर में आग लगाने की धमकी दी है तो मारे शरम के नारायणी का तो मरना हो जाता है। वस्तुतः ऐसे पारस्परिक दृढ़ सम्बन्ध ही प्रबल स्नेह एवं ममता के परिचायक हैं। राम को कोई बुरा-भला कहे, यह नारायणी के लिए असह्य है। ऐसे स्थलों पर उसका स्वर रुँध जाता है और आँखें डबडबा आती हैं। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, राम उसके हृदय की सबसे बड़ी कमजोरी है। घर की दासी कहती है, "भगवान् जानें क्या बात है! हर बात में जिसकी इतनी बुद्धि, इतना धीरज है, वह इतनी-सी बात क्यों नहीं समझती?" और अन्त में हम देखते हैं कि नारायणी अपनी माँ को छोड़ देती है, परन्तु उसके लिए राम का त्याग असम्भव है। स्नेह की इस प्रबल धारा में बड़ी-से-बड़ी शपथें भी बह जाती हैं। राम को घर से अलग कर देने के प्रस्ताव पर वह दृढ़ता से कहती है, "अब अगर तुम मेरी घर-गृहस्थी में दखल दोगे तो, सच कहती हूँ, मैं नदी में डूब मरूँगी। तब दूसरा ब्याह करना और राम को न्यारा करके जो जी में आये सो करना। न मैं देखने आऊँगी, न कुछ कहूँगी-सुनूँगी, मगर मेरे सामने नहीं।"

यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि राम के बालहृदय में अपनी भाभी के प्रेम के प्रति क्या प्रतिक्रिया है। जब उसके फेंके हुए कच्चे अमरूद द्वारा भाभी के माथे में चोट लग जाती है तो वह अत्यन्त व्याकुल हो उठता है और स्वयं अपने मस्तक पर अमरूद मारकर यह समझने का प्रयत्न करता है कि उस चोट ने भाभी को कितनी पीड़ा दी होगी। वह अपने मन को बहुत प्रकार से समझाता और बाहर से अपनी शान बनाये रखने के लिए निष्फल चेष्टा करता है, परन्तु जब भाभी उसे खाने तक के लिए नहीं बुलाती, तब वह सहम जाता है, और उसकी सारी उच्छृंखलता चूर-चूर हो जाती है। राम और नारायणी के इस पारस्परिक सम्बन्ध में वात्सल्य के जो अपूर्व दर्शन हमें होते हैं, उसी की चरम परिणति शायद शरत् की प्रख्यात कहानी 'बिन्दुर छेले' में हुई है। उसमें तो बिन्दु अपनी जिठानी के लड़के अमूल्य से अलग हो जाने पर मरणासन्न हो जाती है। नारायणी तथा बिन्दु एवं राम तथा अमूल्य में पर्याप्त अन्तर होते हुए भी वात्सल्य के वे आश्रय एवं आलम्बन एक ही प्रकार से हैं। वस्तुतः इन दोनों ही कहानियों में नारी के हृदय की महानता का हमें चरम रूप देखने को मिलता है, क्योंकि नारी का मातृत्व ही उसका सर्वस्व है। शरत् की कृतियों में पूर्वापर सम्बन्ध का ध्यान रखते हुए हम कह सकते हैं कि 'रामेर सुमति' की नारायणी

यदि एक ओर 'बड़ दिदि' की राय-गृहणी का उत्तर रूप है तो दूसरी ओर 'बिन्दुर छेले' की बिन्दु का पूर्णरूप भी।

'सुमति' में नारायणी के अतिरिक्त अन्य प्रमुख नारी-पात्र दिगम्बरी है। दिगम्बरी का चरित्र दुष्ट प्रकृति का होते हुए भी अत्यन्त स्वाभाविक है, यह हमें नहीं भूल जाना चाहिए। हमें उसके ऊपर क्रोध भी आता है, हँसी भी आती है और इसके साथ-ही-साथ उसके दुष्कृत्यों के प्रति घृणा रखते हुए भी हम उसकी वृद्धावस्था के कारण उसके प्रति अज्ञात रूप से सहानुभूति भी रखते हैं, हमें उसके ऊपर दया आती है। इस प्रकार वह एक साथ ही हमारी भाव-सबलता का आलम्बन होती है। राम के प्रति दुर्भावना एवं अपनी लड़की के प्रति जड़ एवं कृत्रिम मोह, यही उसके चरित्र के दो सर्वप्रमुख तत्त्व हैं। उसके प्रत्येक कार्य में हमें एक वृद्धा नारी के मस्तिष्क की विकृति दिखाई देती है।

अपनी प्रसिद्ध कृति 'दुई बोन' (दो बहिनें) का प्रारम्भ करते हुए कविगुरु रवीन्द्र कहते हैं—"स्त्रियाँ दो जाति की होती हैं—एक तो माता और दूसरी प्रिया।" शरत् ने इसी विभाजन को ध्यान में रखते हुए अपने प्रसिद्ध नारी-पात्रों को निर्मित किया है। पहले प्रकार के चरित्र हमें उनकी कहानियों में अधिक मिलते हैं। 'रामेर सुमति' एवं 'बिन्दुर छेले' इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं, परन्तु नारी का दूसरा रूप चित्रित करने के लिए लेखक को जीवन के अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत क्षेत्र की आवश्यकता जान पड़ी है। इसीलिए स्त्री का प्रिया स्वरूप उन्होंने अधिकतर अपने प्रसिद्ध उपन्यासों में ही अंकित किया है। इस दृष्टि से उनके 'गृहदाह' एवं 'शेष प्रश्न' की विशेष ख्याति है। परन्तु कुछ भी हो, शरत् की प्रारम्भिक कृतियों में हमें नारी के जननी रूप की ही अधिक सुन्दर व्यंजना मिलती है, जो अपनी प्रकृति में अत्यन्त पवित्र एवं सरल है और यह नितान्त स्वाभाविक है, क्योंकि नारी का अध्ययन हम उसके मातृस्वरूप से ही प्रारम्भ करते हैं। समाज के क्षेत्र में भी और साहित्य के क्षेत्र में भी।

चन्द्रनाथ

पात्रों के दृष्टिकोण से शरत् की रचनाओं के मोटे तौर पर दो विभाग किये जा सकते हैं। उनके कुछ उपन्यासों और कहानियों में पुरुष-चरित्रों की प्रधानता है और कुछ में स्त्री-चरित्रों की। किन्तु पहले प्रकार की रचनाएँ दूसरे प्रकार की रचनाओं से संख्या में अपेक्षाकृत कम हैं। जिन उपन्यासों अथवा कहानियों में पुरुष-पात्रों की प्रधानता है उनमें शरत् अधिक मार्मिक नहीं हो सके हैं; उनकी कला का निखार तो नारी-पात्रों में ही द्रष्टव्य है। 'चन्द्रनाथ' की गणना उपर्युक्त दो प्रकारों में से पहले प्रकार के ही अन्तर्गत की जाएगी। परन्तु फिर भी उपन्यास की नायिका सरयू का चरित्र शरत् के सामान्य नारी-पात्रों के व्यक्तित्व का भलीभाँति प्रतिनिधित्व करता है। शरत् के जीवन-दर्शन में दुर्बलता का नाम नारी नहीं है, वरन् उनके अनुसार तो जो विपत्तियों के सागर की ऊँची-से-ऊँची लहरों से होड़ ले सके, वही सच्चे अर्थों में सहिष्णुता की प्रतीक नारी कही जा सकती है।

'चन्द्रनाथ' में सरयू का चरित्र ऐसा ही है। वह एक कुल-परित्यक्ता विधवा ब्राह्मणी की पुत्री है। उपन्यास का नायक चन्द्रनाथ इस बात को जाने बिना ही, उसके प्रेम में आबद्ध होकर उससे विवाह कर लेता है, बाद में जब इस रहस्य का उद्घाटन होता है तो समाज के ठेकेदारों के भय के कारण चन्द्रनाथ को गर्भवती सरयू का परित्याग करना पड़ता है, परन्तु अन्त में अनेक विघ्न-बाधाओं के उपरान्त, चन्द्रनाथ और सरयू के बीच जो झूठी कुल-मर्यादा की दीवार खड़ी हो गयी थी, गिर पड़ती है, और दोनों का परस्पर सुखद सम्मिलन होता है। इस प्रकार 'चन्द्रनाथ' के माध्यम से शरत् ने जोरदार सामाजिक क्रान्ति का सन्देश दिया है, उसका एक-एक अक्षर सरयू की आँख के एक-एक आँसू की ही भाँति मर्मस्पर्शी है। वृद्ध मणिशंकर कहते हैं, "समाज हम हैं, समाज तुम हो। यहाँ और कोई नहीं है। जिसके पास धन है, वही समाज-पति है। यदि मैं चाहूँ तो तुम्हारी जाति बिगाड़ सकता हूँ, और यदि तुम चाहो तो मेरी जाति बिगाड़ सकते हो। समाज के लिए चिन्ता मत करो।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि सरयू का चरित्र उन शतशः नारियों का प्रति-

निधित्व करता है, जिनका कुल, अपने दोष के कारण नहीं, वरन् परिवार के अन्य किसी भी व्यक्ति के दोष के कारण, क्षण मात्र में कलंकित हो जाता है। तब प्रश्न है कि क्या ऐसी नारियों को समाज से बहिष्कृत कर दिया जाय ? इस सम्बन्ध में लेखक का अपना मत ऊपर उद्धृत किया ही जा चुका है। यही नहीं, शरत् ने तो सदा ही गिरी हुई नारियों के चरित्रों को ऊँचा उठाया है। पापी के प्रति सहानुभूति एवं पाप के प्रति घृणा उनके जीवन की चरम साधना रही है। और साथ-ही-साथ पाप की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि का उद्घाटन उनकी कला की चरम साधना रही है। पतित को उठाना ही सच्ची वैष्णवी भावना है। समाज के कुत्सित कार्य-कलापों की व्याख्या एक शैव की भाँति करते हुए शरत् अपने दृष्टिकोण में परम वैष्णव थे, इसमें कोई सन्देह नहीं।

सरयू के चरित्र में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक एक हीनता-ग्रन्थि (Inferiority complex) का आभास मिलता रहता है, क्योंकि अपनी माँ के दुराचरण से वह अपरिचित नहीं। इस हीनता-ग्रन्थि को उसकी नम्रता एवं शील ने ऐसा ढँक लिया है कि हमें एकाएक उसका पता नहीं चलता। वह सदैव अपने आपको चन्द्रनाथ की दासी समझती है। हरिबाला उससे पूछती है कि चन्द्रनाथ उसे कितना प्यार करते हैं तो वह कुछ लज्जित होकर कहती है, "वे मुझ पर बहुत दया रखते हैं।" और यहीं उसकी सखी सोचती है, "स्त्री यह नहीं जानती कि पति उसे कितना अधिक प्यार करता है ! बस, यहीं मुझे बहुत भय होता है।" यह कहना व्यर्थ ही है कि हरिबाला का भय कितना वास्तविक है !

यहाँ पर पति और और पत्नी के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन शरत् ने बड़े मनोयोग से किया है। वे कहते हैं, "पर केवल दासी प्राप्त करने के लिए ही कोई विवाह नहीं करता, स्त्री से और भी किसी बात की आशा रखी जाती है। जान पड़ता है कि दासी के आचरण के साथ स्त्री का आचरण सर्वतोभाव से मिल न जाना ही अच्छा है।" परन्तु भाग्य से चन्द्रनाथ को तो एक पुण्यवती, पवित्र, साध्वी और स्नेहमयी दासी मिली है। इसीलिए उसके और सरयू के बीच की खाई बढ़ती ही चली गयी। और अन्त में उसने इन दोनों निरीह प्राणियों को अलग कर दिया।

सरयू के चरित्र में ऐसा जान पड़ता है कि सरलता अपने सारे अवयवों के साथ उसके रक्त के अन्दर घुल-मिल गयी है। केवल एक ही स्थान पर उसकी सचाई में सन्देह किया जा सकता है और वह उस जगह जहाँ कि वह अपने पति को अपनी माँ का दुराचरण नहीं बताती, परन्तु यहाँ भी शायद उसकी अत्यधिक भीरुता ही उसे ऐसा करने से रोकती है। परन्तु इस कठोर सत्य ने जैसे उसकी सारी प्रसन्नता को छीन लिया है। वह अपने पति को खुलकर प्यार भी नहीं कर पाती; वह उससे डरती-सी रहती है। उपन्यासकार के शब्दों में, "सरयू का समस्त हृदय

कृतज्ञता से परिपूर्ण था, इसीलिए उसका प्रेम सिर नहीं उठा सकता था। वह अन्तःसलिला फल्गु के समान चुपचाप धीरे-धीरे हृदय के सबसे भीतरी भाग में बहता रहता था, उच्छृ खल नहीं हो सकता था।" यह नियति का व्यंग्य है कि स्नेह का इतना प्रबल स्रोत अपनी अभिव्यक्ति में नितान्त असहाय ही रहा।

सरयू के चरित्र का उज्ज्वलतम रूप हमें तब दिखाई पड़ता है जब हम उसकी तुलना चन्द्रनाथ की मामी हरकाली से करते हैं। 'सरयू यदि झगड़ालू या ज़बाँ-दराज़ होती, स्वार्थी अथवा निर्दय होती, ईर्ष्यालु अथवा अभिमानिनी होती, तो बहुत सम्भव है कि हरकाली अपने लिए कोई मार्ग ढूंढ़ निकालती। परन्तु सरयू ने उसे अपने लिए करुणा की भिक्षा माँगने का अवसर ही नहीं दिया।' यही सरयू की चारित्रिक विजय है। हरकाली शरत् के नारी-पात्रों के उस प्रकार के अन्त-र्गत आती है, जिसका शीर्षक हम 'रामेर सुमति' की दिगम्बरी से प्रारम्भ करते हैं। नारी के इस रूप की सज्जा खड़ी करने में हमें शरत् की अन्तर्दृष्टि अपने चरम बिन्दु पर दिखाई देती है। यदि दिगम्बरी अवसर पर रोने में अपने आपको असमर्थ पाकर अपना कण्ठ करुण एवं आर्द्र बना सकती है तो हरकाली भी समयानुकूल अपने आँचल से झूठ-मूठ ही आँसुओं को पोंछने लगती है। किसी भी प्रकार सरयू का अहित हो यही उसकी सबसे बड़ी कामना है।

चन्द्रनाथ सरयू को बहुत चाहते हैं। उसे वह अपने जन्मान्तर की पतिव्रता स्त्री समझते हैं। "परन्तु इतना होने पर भी किसी दुखी पर अनुग्रह और दया करने से जो अभिमान, जो तृप्ति होती है, बालिका सरयू के साथ विवाह करते समय उसी अभिमान, उसी तृप्ति ने एक दिन आत्म-प्रसाद का छद्म वेष धारण करके चन्द्रनाथ के हृदय में जो चुपचाप प्रवेश किया था, सो अब सैंकड़ों चेष्टाएँ करने पर भी वे उसका पूर्णरूप से उच्छेद नहीं कर सके।" पुरुष-चरित्र की यही कमजोरी नारी के सुख के विनाश का कारण बनती है। सरयू को निर्दोष जानते हुए भी चन्द्रनाथ उसे अपने पास नहीं रख पाते। 'कुल का झगड़ा' या 'वंश का बखेड़ा' विवाह होने के पूर्व नहीं, वरन् विवाह होने के बाद इन दो प्रेमियों के बीच एक मज़बूत दीवार बन जाता है। सरयू को चन्द्रनाथ का घर छोड़ना पड़ता है, और तब बूढ़े गुमाश्ता जी के साथ पाठकों को भी सीता जी की कथा याद आ जाती है। केवल इसलिए नहीं कि लव-कुश-जननी की भाँति वह गर्भवती है, अपितु इसलिए कि राम-प्रिया की भाँति वह भी निर्दोष है।

और यहाँ शरत् की लेखनी आँसुओं से भीगती हुई चलती है, "इस सोलह वर्ष की अवस्था में ही उसके सारे शौक, सारी कामनाएँ पूरी हो गयी थीं। माता नहीं, पिता नहीं, पति ने परित्याग कर दिया। खड़े रहने के लिए कहीं कोई स्थान नहीं है, केवल कलंक, लज्जा और विपुल रूप यौवन है··· उसने मन ही मन कहा,

"चाहे और कुछ न हो, पर काशी की गंगा तो अभी तक नहीं सूखी है ? गंगा न तो समाज से डरती है और न उसकी जाति ही जा सकती है। वह एक दुखिया अबला को दुःख के इन दिनों में मजे से अपनी गोद में ले लेगी। मुझे और कहीं आश्रय न मिले न सही, वहाँ अवश्य मिलेगा।" और सरयू ने निश्चय ही पवित्र भागीरथी की क्रोड़ में आश्रय ले लिया होता यदि अवसर पर, उसे विपुल स्नेह से परिपूर्ण कैलास चाचा का सहारा न मिलता। 'आँचल में दूध और आँखों में पानी' लिये हुए अबला-जीवन की यह करुण कथा सहृदयों को आठ-आठ आँसू रुलाती है, और एक सामाजिक दुर्व्यवस्था के प्रति स्पष्ट संकेत भी करती है। कला की सामाजिकता के कारण ही शरत् की कृतियाँ इतनी मूल्यावान् हैं।

'चन्द्रनाथ' में हरिबाला का चरित्र सरयू की सखी के रूप में चित्रित किया गया है। यद्यपि शरत् ने स्वयं कहा है, "अवस्था के सम्मान का ज्ञान जैसा पुरुषों में है, वैसा स्त्रियों में नहीं है···जब तक स्त्रियों का विवाह नहीं होता, तब तक वे अपनी बड़ी बहन, भाभी, माँ, बुआ अथवा दादी के पास छोटों की भाँति रहकर थोड़ी बहुत उम्मेदवारी करती हैं, नारी-जीवन में जो कुछ थोड़ी बहुत बातें सीखने की होती हैं, वे सब सीख लेती हैं; और फिर इसके उपरान्त वे एकदम से सबसे ऊँची श्रेणी में जा बैठती हैं। उस समय सोलह वर्ष से लेकर छप्पन वर्ष तक की सभी स्त्रियाँ मानो समान अवस्था वाली हो जाती हैं।" परन्तु फिर भी हरिबाला और सरयू का यह निविड़ सख्यभाव बहुत अधिक स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। अवस्था के सम्मान का ध्यान स्त्रियों में अधिक भले ही न हो, परन्तु वर्षों के व्यवधान का ज्ञान तो उन्हें रहता ही है। अस्तु, हरिबाला का चरित्र है बहुत ही मांसल और सजीव, इसमे कोई सन्देह नहीं। इस वृद्धा नारी के केशों की श्वेतता उसके मन में भी छा गयी है। वस्तुतः चाहे नवविवाहिता हो, चाहे अस्सी वर्ष की विधवा हो, चाहे ज़मींदार के घर की मालकिन हो अथवा ग़रीब गृहस्थी की कुलवधू—किसी के भी मनोभाव पहिचानने में शरत् ने ग़लती नहीं की। नारी-मनोविज्ञान के वे पण्डित थे।

'चन्द्रनाथ' के अन्य स्त्री-पात्रों में मणिशंकर की पत्नी है, परन्तु कथा-प्रवाह में उसका कोई विशेष स्थान नहीं। सुलोचना (सरयू की माँ) अवश्य कुछ देर के लिए पाठकों का ध्यान आकर्षित किये रहती है। परन्तु उसका चरित्र प्रारम्भ से लेकर अन्त तक रहस्यमय रहता है। उसके बारे में कुछ विशेष पता नहीं चलता। ऐसा जान पड़ता है कि लेखक उपन्यास के उत्तरार्द्ध में उसे भूल-सा गया है। उसके सम्बन्ध में पाठक की कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। परन्तु इतना निश्चित है कि प्रथम बार उसके सात्त्विक रहन-सहन को देखकर बाद में जब उसके कुल-कलंक का भेद खुलता है तो अनायास ही हमारे मुँह से निकल जाता है, "स्त्रियों के लिए

सब कुछ सम्भव है।" उपन्यासकार यदि इस चरित्र को कुछ और उभारता तो अधिक अच्छा होता।

परन्तु इसका एक कारण है। जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, 'चन्द्रनाथ' में नारी-पात्रों की अपेक्षा पुरुष-पात्रों की प्रधानता है। सरयू को छोड़कर किसी अन्य स्त्री-पात्र की पूर्ण व्यंजना हमें इस उपन्यास में नहीं मिलती। चन्द्रनाथ, कैलास, हरिदयाल, मणिशंकर आदि के चरित्र ही इसमें प्रमुख हैं। कैलास का चरित्र तो अपने आप में एक पूर्ण कलाकृति है। वह इतना अधिक पूर्ण तथा सुन्दर है कि स्वयं उपन्यास के नायक एवं नायिका के व्यक्तित्व उसके सामने नहीं ठहर पाते। और इतने पर भी विशेषता यह है कि उसके चरित्र को अधिक विस्तार नहीं दिया गया है।

बिन्दो का लल्ला
[बिन्दुर छेले]

शरत् की इस कहानी की मूल संवेदना वही है जो हमें उनकी प्रसिद्ध कृति 'रामेर सुमति' में मिलती है। वस्तुतः ये दोनों कहानियाँ मिलकर एक युग्म हैं। दोनों रचनाएँ अलग-अलग, एवं अपने आप में पूर्ण होने पर भी वस्तु के दृष्टिकोण से एक-दूसरे से अत्यन्त घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध हैं। इन दोनों का ढाँचा प्रायः समानान्तर है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि शरत् की कला का जो निखार 'रामेर सुमति' में द्रष्टव्य है, वह 'बिन्दुर छेले' में मिलता है, अथवा नहीं, फिर भी निश्चित रूप से इतना अवश्य माना जा सकता है कि 'रामेर सुमति' में जो मूल संवेदना या मनोवेगों की अनुभूति है, वह 'बिन्दुर छेले' में और भी घनीभूत हो गयी है----इतनी घनीभूत कि कहानी के वातावरण में कहीं-कहीं तो पाठक को साँस लेना भी मुश्किल जान पड़ता है।

'बिन्दुर छेले' की आधारभूत कथा इस प्रकार है—सन्तानहीन बिन्दु अपनी जिठानी के एकमात्र पुत्र अमूल्य को अपने सर्वस्व के साथ प्यार करती है। उसके सारे जीवन की वृत्तियाँ उसी पर केन्द्रीभूत हैं। यहाँ तक कि 'अन्नपूर्णा का लड़का बिन्दुवासिनी की गोद में जिस तरह खाने-पीने और बड़ा होने लगा, उसका फल यह हुआ कि अमूल्य चाची को 'माँ' और 'माँ' को जीजी कहना सीख गया।' बिन्दु का कर्कश स्वभाव, वस्तुतः उसके अमूल्य के प्रति प्रेम के कारण ढँक जाता है। इस कहानी में शरत् ने नारी के खारे आँसुओं से स्नेह का इतना शीतल एवं अगाध सागर प्रस्तुत किया है, जिसकी थाह लेने में बुद्धि की वृत्तियाँ असमर्थ हो जाती हैं, परन्तु फिर जीवन की सरल एवं अबाध गति में व्यवधान उपस्थित होता है। घर में यादव एवं माधव की फुफेरी बहिन एलोकेशी, जिनकी आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं है, अपने पति एवं पुत्र के साथ आ जाती हैं। और यहीं से इस सुखी एवं सम्पन्न गृहस्थी में कलह अपनी जड़ जमा लेती है। एलोकेशी की कूटनीति के फलस्वरूप बिन्दु एवं उसकी जिठानी में मन-मुटाव हो जाता है और दोनों अलग-अलग रहने लगती हैं। पर अगाध स्नेह की अभ्यस्त बिन्दु को अपनी कठोर, परन्तु ममतामयी जिठानी, सरल व्यवहार वाले जेठ एवं अपने

जीवन-सर्वस्व लल्ला (अमूल्य) के अभाव का अनुभव होने लगता है। वह अपने पितृ-गृह चली जाती है, और तब उसकी पुरानी बीमारियाँ उसे फिर घेर लेती हैं, वह मरणासन्न हो जाती है। परन्तु ऐसे सरल एवं निरीह स्नेह का अन्त इस प्रकार नहीं हो सकता। माधव अपने बड़े भाई यादव, भाभी अन्नपूर्णा, एव लल्ला को लेकर उसके पास पहुँचते हैं। तब बिन्दो कहती है—"लाओ जीजी क्या खाने को देती हो। और लल्ला को मेरे पास लिटाकर तुम सब बाहर जाओ और आराम करो। अब डर नहीं है, मैं मरूँगी नहीं।"

इस कहानी में आदि से लेकर अन्त तक बिन्दो का चरित्र ही प्रमुख दिखायी देता है। वह एक क्षण के लिए भी हमारी आँखों से ओझल नहीं होती। उसके स्नेह एवं ममता से भरे हुए जीवन की यह गौरव-गाथा है। जब एक नववधू के रूप में बिन्दु यादव मुखर्जी के घर में प्रवेश करती है तो उसके व्यवहार के सम्बन्ध में बड़ी बहू की पहली प्रतिक्रिया होती है, "क्यों जी, रूप और रुपयों की गठरी देखकर बहू घर ले आये, पर यह तो काली नागिन है!" परन्तु यादव ने इस बात पर विश्वास नहीं किया और पाठक की सहानुभूति को भी यादव के इसी विश्वास पर अन्त तक टिकना पड़ता है।

बिन्दु को प्राय: मूर्च्छा आ जाया करती है। और एक दिन जब वह प्रायः अचेत होने को ही थी, उसकी जिठानी अन्नपूर्णा ने अपने सोते हुए बच्चे अमूल्य को लाकर उसकी गोद में डाल दिया। अमूल्य कच्ची नींद में जग जाने से ज़ोर-ज़ोर से रोने लगा। बिन्दो जी-जान से अपने को सम्हालकर और बेहोशी के पँजे से अपनी रक्षा करके बच्चे को छाती से लगाकर कमरे में चली गयी। और सचमुच ही स्नेह की इस अजस्र धारा ने बिन्दो की जैसे सारी बीमारी दूर कर दी। अब यदि उसे कोई रोग है तो अमूल्य अथवा लल्ला के प्रति प्रेम का। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यही उसकी औषधी भी है!

बिन्दो लल्ला की रक्षा में एक सिंहिनी की भाँति तत्पर रहती है। वह उसे पाठशाला इसलिए नहीं भेजती कि कहीं उसकी आँख में कोई कलम ही न खोंस दे। अपने स्नेहमय आँचल से वह उसे अधिक दूर नहीं होने देना चाहती। जहाँ तक हो सकता है वह उसे अपनी आँख के सामने ही रखती है। सचमुच इस बात का कोई कारण नहीं जानता कि क्यों बिन्दो अमूल्य के बारे में ऐसी यक्ष की तरह सजग रहती है—ऐसी प्रेत की तरह सतर्क। अपने पुत्र की इस सर्वमंगलाकांक्षिणी के चेहरे की तरफ़ देखकर अन्नपूर्णा का मातृ-हृदय गद्‌गद हो उठता है।

परन्तु लल्ला के प्रति असीम स्नेह रखते हुए भी बिन्दो उसे किसी प्रकार बिगड़ने नहीं दे सकती। उसके जीवन में एक ही कामना है, और वह है अमूल्य का चरित्र-निर्माण। बड़े अधिकारपूर्ण स्वर में वह अन्नपूर्णा से कहती है, "मगर देखो जीजी, लड़के को अगर दस-बीस में एक-बड़ा बनाना हो तो माँ को दुनिया से

न्यारी होने की ज़रूरत है। अगर तब तक ज़िन्दा रहीं जीजी, तो देख लेना तुम, देश के लोग हाथ उठाकर कहेंगे कि यह अमूल्य की माँ है।" वस्तुतः इसी महत्त्व-कांक्षा पर उसका सारा जीवन अवलम्बित है। इसके विपरीत वह किसी भी प्रकार सोच ही नहीं सकती। वह स्वयं कहती है, "पर इसी एक आशा को लेकर मैं जी रही हूँ जीजी···इस आशा पर अगर एक दिन चोट पड़ी, तो मैं पागल हो जाऊँगी।" और जब वह देखती है कि एलोकेशी एवं उसके पुत्र नरेन्द्र के रूप में एक ऐसी बाधा आ खड़ी होती है, जिससे कि उसके अमूल्य की उन्नति में व्यवधान पड़ने का डर है, तो वह मान्य होते हुए भी उनका स्पष्ट रूप से तिरस्कार कर देती है। लल्ला के स्वाभाविक विकास में कहीं कोई कमी रह जाय, यह बात उसके लिए असह्य है। ऐसी सम्भावनाओं का निराकरण करने के लिए ही वह उसे हृदय पर पत्थर रखकर दण्डित भी करती है। इन्हीं सब बातों को देख कर ही तो अन्नपूर्णा कहती है, "मैं नहीं तू ही उसकी माँ है; मैंने तुझे ही तो दे दिया है।" पर फिर भी ऐसे अवसर आ ही जाते हैं जब झुँझलाकर बिन्दो अपनी जिठानी से कह देती है, "मेरा लड़का नहीं है, इस बात को मैं भी जानती हूँ और तुम भी जानती हो। फिर झूठमूठ बात बढ़ाने की ज़रूरत क्या है, जीजी ?" पर इन शब्दों में बिन्दो का लल्ला के प्रति अधिकार एवं ममतापूर्ण स्वर ही बोल रहा है, यह बताने की आवश्यकता नहीं।

बिन्दो की सारी रागात्मिका वृत्ति लल्ला पर केन्द्रित हो गयी है। यहाँ तक कि उसने अपने लिये—अपने पति के लिए कुछ नहीं छोड़ा। "इतने बाल हैं, बाँधेगी नहीं; इतने कपड़े-गहने हैं पहनेगी नहीं; इतना रूप है, सो एक बार अच्छी तरह देखेगी भी नहीं।" एक जिठानी के पुत्र के लिए राग, एवं अन्य सबके लिए —यहाँ तक कि अपने लिये भी विराग, अद्भुत भले ही जान पड़े, परन्तु अस्वाभाविक नहीं है। नारी का यह रूप अपने आप में करुणा से ओत-प्रोत रहते हुए भी, कितना श्रद्धास्पद, कितना आदरणीय है, इसका अनुमान करना कठिन नहीं।

किन्तु मानव-जीवन की गति एवं कथा ऐसे अबाध रूप से तो चलती नहीं ! बिन्दो एवं उसके लल्ला के पारस्पारिक स्नेह-सम्बन्ध में व्याघात उत्पन्न होता है, एवं इसका सम्पूर्ण श्रेय यादव-माधव की फुफेरी बहिन एलोकेशी तथा उसके सुपुत्र नरेन्द्र को बड़ी आसानी से दिया जा सकता है। एक मामूली-सी बात पर कलह होने पर अन्नपूर्णा एवं बिन्दु अलग-अलग हो जाती हैं। इस प्रकार बिन्दो एवं उसके लल्ला के बीच एक दीवार खड़ी हो जाती है। अवश्य ही यह बालू की भीत की भाँति अधिक दिनों तक स्थायी नहीं रह पाती और निर्मल स्नेह की मन्दाकिनी फिर से बहने लगती है।

बिन्दो ने नया मकान बनवाया है, जिसमें कि वह सारे परिवार के साथ

रहेगी, परन्तु अब क्या हो ? 'अब तो सूने मकान का एक-एक क्षण उसे लील जाने के लिए मुंह फाड़ने लगा। नीचे के एक मकान में एलोकेशी रहती है, और ऊपर का एक कमरा उसका अपना है; बाक़ी सारे कमरे खाँव-खाँव करने लगे। वह सूने मन से घूमती-फिरती तिमंज़िले के एक कमरे में जाकर खड़ी हो गयी। किसी सुदूर भविष्य की पुत्र-वधू के लिए उसने यह कमरा बनवाया था। इसमें आते ही वह किसी भी तरह अपने उमँड़ते हुए आँसुओं को न रोक सकी।' उसकी आशाएँ-आकांक्षाएँ ताश के महल की भाँति पल में इस प्रकार ढह जाएँगी, इसका पता किसे था ?

अब वह हर समय लल्ला का रास्ता देखती है, परन्तु टूटे हुए स्वप्न की भाँति वह फिर नहीं आता। व्यथा से भरे इन्हीं क्षणों में उसे अपने पिताजी की बीमारी का समाचार मिलता है और भरे हुए हृदय से वह चल देती है उन्हें देखने। जाते समय वह मिसरानी के पैर छूती हुई कहती है, "तुम ब्राह्मण की लड़की हो, उमर में बड़ी हो, असीस दो कि मैं अब न लौट सकूँ, यही जाना मेरा आख़िरी जाना हो।" परन्तु ऐसा होता नहीं। घर पहुँचकर बिन्दो स्वयं मरण-शय्या से लग जाती है। पर स्नेह में कुछ ऐसा विश्वास होता है, ऐसी शक्ति होती है कि अन्त इतनी शीघ्र नहीं आता। पत्नी की मरणासन्न अवस्था देखकर माधव घर जाकर अपने बड़े भाई, भाभी एवं लल्ला को ले आते हैं। और फिर स्नेह की इस प्रबल धारा में अन्नपूर्णा की शपथें बह जाती हैं और बिन्दो की सारी बीमारी। उसका रोग ही उसकी औषधि बनकर उसके पास आ जाता है।

यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं कि बिन्दो के प्यार का एक बड़ा भाग केवल लल्ला के लिए सुरक्षित है परन्तु फिर भी इसका अर्थ यह नहीं कि परिवार के अन्य व्यक्तियों के प्रति वह नितान्त उदासीन है। अपने पति का वह सम्मान करती है, जेठ की बात पर प्राण देने को तैयार है और अन्नपूर्णा का भी वह अपने निजी ढंग से आदर करती है। जिठानी के प्रति एक अज्ञात रोष, एक अपरिचित अव-मानना रखते हुए भी वह उनका हृदय से सम्मान करती है। यादव तक से भी वह कह देती है, "जीजी से कहूँ, वे जो कहेंगी सो होगा !" वस्तुतः लल्ला के प्रति प्रेम ही उसके चरित्र का, 'रिडीमिंग फीचर' अर्थात् सर्वप्रमुख तत्त्व है जिससे उसकी सामान्य कर्कशता ढँक जाती है।

जिन्होंने शरत् की प्रायः सभी प्रसिद्ध कहानियों को पढ़ा है, वे 'बिन्दुर छेले' का अध्ययन करते समय 'रामेर सुमति' को कदापि नहीं भुला सकते। वस्तुतः नारी के जिस जननी-स्वरूप की उद्भावना 'बड़ी बहिन' की राय-गृहिणी में की गयी, वही नारायणी के चरित्र में स्वाभाविक विकास प्राप्त करके, बिन्दो में अपनी चरम-सीमा पर पहुँच गयी है। यह शरत् की नारियों की महत्ता है कि उन्होंने

अपने पुत्रों का कुछ भी ध्यान न रखकर अपने सौतले पुत्र, देवर एवं भतीजे पर ही सारा प्यार उँड़ेल दिया है। भारतीय नारी-जीवन की इस चरम परिणति में शरत् की अटूट श्रद्धा है।

जब हम 'बिन्दुर छेले' की बिन्दु एवं 'रामेर सुमति' की नारायणी की परस्पर तुलना करते हैं तो हमें यह निःसंकोच रूप से कहना पड़ता है कि नारी का जो कलात्मक चित्रण हमें नारायणी में मिलता है वह बिन्दु में नहीं। हाँ यह अवश्य कहा जा सकता है कि वात्सल्य के मनोभाव का जो विकास हमें 'रामेर सुमति' में दृष्टिगत होता है, उसकी चरम सीमा 'बिन्दुर छेले' में है। जैसा घनीभूत वातावरण 'बिन्दुर छेले' का है वैसा 'रामेर सुमति' का नहीं! एक ही मूल संवेदना को लेकर दो भिन्न-भिन्न नारी-चरित्रों का निर्माण जिस कुशलता से शरत् ने किया है, वह बड़े-बड़े कलाकारों के लिए अध्ययन की सामग्री है।

शरत् की नारियों का एक ऐसा वर्ग भी है, जिसमें मानव-जीवन की सारी दुर्वृत्तियों ने अपना स्थायी घर बना रखा है। ऐसे नारी पात्र किसी-न-किसी रूप में लेखक की प्रायः सभी कृतियों में देखने को मिल जाते हैं। 'बिन्दुर छेले' में इस वर्ग की प्रतिनिधि एलोकेशी है। उसे किसी की उन्नति अथवा प्रगति में रुचि नहीं है। वह तो सब को नीचे गिरता देखना चाहती है। एलोकेशी के चरित्र पर लेखक ने जो टिप्पणी दी है, वह कुछ हल्की है। "बीबी जी देखने में भोली-सी भले ही मालूम पड़ती हों, पर असल में वह भोली नहीं थीं।" इस एक वाक्य से एलोकेशी के हृदय की कालिमा पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। वस्तुतः 'रामेर सुमति' की बुढ़िया दिगम्बरी की सारी विनाशात्मक प्रवृत्तियों को 'बिन्दुर छेले' की एलोकेशी में प्रश्रय मिला है। यहाँ पर हमें इस सम्बन्ध में एक बात का ध्यान और भी रखना पड़ेगा। शरत् की नारियों का यह वर्ग प्रायः उनकी रचनाओं में हास्य-सामग्री प्रदान करता है। जब एलोकेशी कहती है—"तुम्हें लड़का चाहिए छोटी बहू, मेरे नरेन्द्रनाथ को ले लो, उसे तुम्हें दिये देती हूँ। मार डालो, किसी दिन एक बात भी कहे ऐसा लड़का नहीं वह, वैसी औलाद मैंने कोख में नहीं रक्खी" तो पाठक के चिन्ताग्रस्त मुख पर एक हल्की मुसकान की रेखा आ ही जाती है। करुणा एवं निराशा के घनीभूत वातावरण में इस छोटी-सी मुसकान का कितना महत्त्व है, इसे शरत् के पाठक भलीभाँति जानते हैं।

'बिन्दुर छेले में' केवल एक ही नारी-पात्र और शेष रह जाता है, जिसकी व्याख्या यहाँ अपेक्षित है। और वह है घर की 'बड़ी मालकिन' अन्नपूर्णा। अन्नपूर्णा का चरित्र कहानी में कम अंकित होने पर भी कम हृदयस्पर्शी नहीं है। उसकी तेजस्विता एवं सरलता के सम्मुख सहृदय पाठक को नतमस्तक होना ही पड़ता है। आत्म-गौरव एवं पति-भक्ति की भावना उसमें विशेष रूप से प्रबल है। बिन्दो से तिरस्कृत होने पर वह कह उठती है, "अच्छा ही हुआ जो जता दिया। सती ने

आत्महत्या की थी, मैं क़सम खाती हूँ कि किसी के घर रसोई बना के पेट पालूंगी, पर तेरा अन्न अब न खाऊँगी। तूने किया क्या, उनका अपमान किया!"

अन्नपूर्णा का चरित्र साहित्यिक दृष्टि से अपने आप में एक पूर्ण कलाकृति है, एवं सामाजिक दृष्टि से सब के लिए एक महान् आदर्श। पारिवारिक जीवन की सफलता का श्रेय उसे बड़ी आसानी के साथ दिया जा सकता है।

●

विराज बहू
[विराज बौउ]

'विराज बहू' शरत् की उन विरल कृतियों में से एक है, जिनमें जीवन के अपेक्षाकृत विस्तृत क्षेत्र का अंकन हुआ है। उपन्यासकार की अन्य रचनाओं की भाँति यह भी अपने प्रमुख चरित्र पर ही केन्द्रित है, परन्तु फिर भी इसमें बाह्य जीवन का चित्रण हुआ है। शरत् के अधिकांश उपन्यासों की भोगोलिक पट-भूमि प्रायःएक ही रहा करती है, परन्तु 'विराज बहू' में ऐसी बात नहीं है। इसका घटना-स्थल पूर्वार्द्ध में स्थिर रहने के बाद उत्तारार्द्ध में कुछ-कुछ बदलने लगता है, परन्तु फिर भी उसकी अधिकांश घटनाएँ सप्तग्राम में ही होती हैं। वस्तुतः शरत् की कला भावनाओं की गहराई में इतना उलझ जाती है कि स्वभावतः ही उसे घटना-स्थल के बाह्य रूप एवं उनके भौगोलिक परिवर्तन का विशेष ध्यान नहीं रहता। इसीलिए समय का पर्याप्त व्यवधान रखते हुए भी शरत् के उपन्यास अपनी रंग-भूमि नहीं बदलते। उनमें पात्रों एवं घटनाओं का रंगमंच प्रायः एक ही रहता है।

इस उपन्यास की नायिका स्वयं विराज बहू है। उसके उज्ज्वल एवं अटल चरित्र का यह महाकाव्य है; उसके व्यक्तित्व की दृढ़ता शरत् की इस कृति की मूल संवेदना है। उसके चरित्र का कुछ अधिक विश्लेषण करने के पहले यहाँ एक बात पर विचार-विमर्श कर लेना आवश्यक है। कुछ विद्वानों का यह आक्षेप है कि 'शरत् ने अपनी कृतियों में उन्हीं पुरुष पात्रों को चित्रित किया है जो नारी-हृदय की महत्ता का शिकार हो चुके हैं, और यह अनुचित है,' परन्तु यह धारणा बहुत उचित नहीं कही जा सकती, क्योंकि भले ही आज के सामाजिक जीवन में पुरुष की महत्ता नारी से कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी हो, फिर भी स्वयं पुरुष के निर्माण में नारी का बहुत बड़ा हाथ है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में व्यक्ति अपनी जननी की क्रोड़ में बनता-बिगड़ता है, तथा फिर तरुणाई में कदम रखते ही नारी के प्रिया-स्वरूप से उसे प्रेरणा मिलने लगती है। इस प्रकार सामाजिक वातावरण से प्रभावित होते हुए भी पुरुष के व्यक्तित्व के गठन में नारी का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। बस इसी अनुपात से शरत् ने अपनी रचनाओं में नारी-पात्रों को प्रधानता दी है। यहाँ यह बात भी स्पष्ट रूप

से कह देनी होगी कि उपन्यासकार की कला में तत्कालीन बंगाली नारी-समाज की दुरवस्था के प्रति ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से एक प्रतिवर्त्तन की भावना भी अवश्य छिपी हुई है। इस तथ्य की ओर से हम अपनी आँख नहीं मूंद सकते।

एक बात और भी है। यद्यपि अपने निबन्ध 'नारीर मूल्य' में शरत् ने बड़े ही विदग्धतापूर्ण ढंग से नारी के महान् मूल्य का निर्धारण किया है, परन्तु फिर भी नारी की महत्ता वे उसके पुरुष से सम्बन्ध में ही आँकते हैं। उसके स्वतन्त्र मूल्य का उन्होंने कहीं अधिक विवेचन नहीं किया है, और शायद इसीलिए उनके अधिकांश उपन्यासों का नामकरण उनके नायकों के नामों के आधार पर ही हुआ है। 'चन्द्रनाथ', 'काशीनाथ', 'देवदास', 'श्रीकान्त' एवं 'विप्रदास' जैसे उनके प्रमुख उपन्यास इस तथ्य का समर्थन करते हैं, और जिन रचनाओं का नामकरण नायिकाओं के ऊपर हुआ है, उनमें भी नायक को भुला दिया गया हो, ऐसी बात नहीं है। 'विराज बहू' में ही, उपन्यास का शीर्षक तो है 'विराज बहू' किन्तु फिर भी विराज के माध्यम से उसमें नीलाम्बर के चरित्र का ही अधिक अंकन हुआ है। इस प्रकार यह कहना कि शरत् ने अपनी कृतियों में नारी को आवश्यकता से अधिक महत्ता प्रदान की है, बहुत संगत प्रतीत नहीं होता।

अब हम बहुत संक्षेप में 'विराज बहू' की मूल कथा देखेंगे। नीलाम्बर एवं पीताम्बर दो भाई हैं। नीलाम्बर स्वभाव का सरल एवं परोपकारी है, परन्तु छोटा भाई पीताम्बर घोर स्वार्थी है। अपनी एकमात्र बहिन पुटी के विवाह के समय पीताम्बर नीलाम्बर से अलग हो जाता है। इस प्रकार बड़े भाई नीलाम्बर को ही अपनी दुलारी बहिन के विवाह का प्रबन्ध सँभालना पड़ता है। एक बड़े घर में विवाह करने के फलस्वरूप दहेज आदि के रूप में उसका सारा वैभव लुट जाता है और उसके परिवार पर ग़रीबी मँडराने लगती है। इस स्थान पर उसकी पुत्र-हीना पत्नी विराज बहू के चरित्र की दृढ़ता देखते ही बनती है। पति और पत्नी के व्यक्तित्व का निखार अपनी चरम सीमा की ओर बढ़ता है, परन्तु इसी बीच में निर्धनता से ऊबकर एवं स्वामी से तिरस्कृत होकर विराज बहू गाँव के नवयुवक ज़मींदार राजेन्द्रनाथ के बजरे पर सवार होकर कलकत्ते की ओर चल देती है। नीलाम्बर को जब अपनी पत्नी के इस कलंक का ज्ञान होता है तो उसका हृदय टूट जाता है। इधर विराज बहू क्षणिक आवेश में राजेन्द्र के साथ चल देने पर भी, अपने चरित्र की पूर्ण रूप से रक्षा करती हुई नदी में गिर पड़ती है। इसके बाद किस प्रकार अनेक विघ्न-बाधाओं का सामना करके विराज और नीलाम्बर का मिलन होता है, और फिर किस प्रकार अनेक उपचारों के होते हुए भी रुग्ण विराज की मृत्यु हो जाती है, यह एक लम्बी कथा है, जिसे इस इतिवृत्तात्मक ढंग से कहना शरत् की कला के प्रति अन्याय करना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस उपन्यास में विराज का चरित्र ही मूल केन्द्र

है जिसके चारों ओर विभिन्न घटनाएँ एवं पात्र चक्कर लगाते हैं। यद्यपि यह तो नहीं कहा जा सकता कि 'विराज बहू' की विराज शरत् की चरित्र-निर्माण कला के उत्कृष्ट नमूनों में से है, परन्तु फिर भी उसका व्यक्तित्व कम मर्मस्पर्शी हो, ऐसी बात नहीं है। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक पाठक का ध्यान उसी की ओर आकर्षित रहता है और वह सोचता है कि यदि उसके भाग्य पर शासन करने वाला नक्षत्र कुछ और अधिक दयामय होता तो अच्छा था।

'विराज बहू' के चरित्र की मुख्य संवेदना है उसकी पति-भक्ति। सती सावित्री के सम्मुख अपने व्यक्तित्व को रखती हुई वह कहती है, "सतीत्व में मैं ही उनकी अपेक्षा कहाँ कम हूँ ? मेरे ही समान सतीत्व की मर्यादा का पालन करने वाली और स्त्रियाँ भी संसार में हो सकती हैं, किन्तु सतीत्व की महिमा को मुझसे भी अधिक समझने वाली कोई स्त्री है, यह बात मानने के लिए मैं तैयार नहीं हूँ।" विराज की यह गर्वोक्ति उसके दृढ़ चरित्र पर ही आधारित है। वस्तुतः उसके चरित्र में पति-भक्ति इतनी अधिक है कि बाह्य संसार में उसकी सत्ता नितान्त एकान्तिक हो गयी है; उसका सारा प्रेम एकांगी हो गया है। यहाँ तक कि अपने पति के दुःख से विपन्न, वह छोटी बहू एवं ननद पुटी से भी कुछ अप्रसन्न रहती है।

यहाँ पर विराज के चरित्र के सम्बन्ध में बड़े स्वाभाविक रूप से एक आपत्ति खड़ी की जा सकती है। यदि वह वस्तुतः सतीत्व की मर्यादा का पालन करने वाली थी और विधवा के लिए सहमरण ही श्रेष्ठ समझती थी, तो फिर क्यों वह अपनी सारी कुल-लज्जा को त्याग कर राजेन्द्र के साथ सप्तग्राम के बाहर चली गयी ? जो नारी समझती है कि स्वामी के चले जाने पर तो सर्वस्व ही जाता रहता है, और जो अपने पति से कहती है, "यदि तुमने स्त्री होकर जन्म ग्रहण किया होता तो तुम्हें मालूम होता कि स्वामी कैसी वस्तु है," उसके चरित्र में यह कलंक कैसा ?

यदि विषयमोक्ति पर ध्यान न दिया जाय तो यहाँ यही कहना पड़ेगा कि विराज की अत्यधिक पति-भक्ति ही मूल रूप में उसकी चारित्रिक दुर्बलता के के लिए उत्तरदायी है। यह सरल मनोविज्ञान की बात है कि निविड़ प्रेमभाव में ज़रा-सी भी शंका महान् अनर्थ का कारण हो जाती है। विराज के सतीत्व पर उसके स्वामी ने ही सन्देह किया, बस इसी चोट से वह पागल हो जाती है और क्षणिक आवेश के वशीभूत होकर वह राजेन्द्र के साथ चल देती है, परन्तु जब उसे होश आता है तो वह अपनी भयंकर भूल को पहिचानती है, और अपने चरित्र की पूर्ण रक्षा करती हुई वह नदी में कूद पड़ती है। यह उसके सतीत्व का ही तेज था कि राजेन्द्र-जैसा दुराचारी व्यक्ति उसकी ओर आँख उठाकर न देख सका, शरीर स्पर्श की तो बात ही अलग है। वस्तुतः विराज के चरित्र की यह क्षणिक दुर्बलता

नितान्त स्वाभाविक है और उसके व्यक्तित्व को अतिमानवीय एवं कोरा आदर्शात्मक होने से रोकती है। उसकी पति-भक्ति की इससे बड़ी कसौटी और क्या हो सकती है कि अनेक दिनों तक एक अनाथ युवती होकर इधर-उधर घूमते हुए भी वह सतीत्व की मर्यादा का पालन कर सकी, और जबकि उसकी अतुलनीय यौवनश्री देवताओं की कामना के योग्य थी।

विराज के चरित्र में रूपवती एवं सती का विरल संयोग मिलता है। उसका रूप असाधारण है जो राजा-रईस के घरों की स्त्रियों में भी देखने में नहीं आता। मनुष्य में इतना भी अधिक सौन्दर्य हो सकता है, इस बात का लोगों को सहसा विश्वास नहीं हो पाता, परन्तु इसके साथ ही साथ वह सांसारिक पापों से इतनी अपरिचित है कि एक कुलटा स्त्री कैसी होती है, यह उसने देखा तक नहीं। उसके प्रेम की इस अनन्यता पर स्नेहमय नीलाम्बर का दृढ़ विश्वास अवलम्बित है। उसकी गार्हस्थिक कुशलता के अतिरिक्त उसके चारित्रिक तेज के ही कारण वह उससे मन-ही-मन बहुत डरता है। वस्तुतः विराज 'बाहर से चाहे कितनी ही मधुर और कोमल क्यों न जान पड़े, किन्तु भीतर से उसकी प्रकृति बहुत उग्र हैं; डरना तो वह किसी से जानती ही नहीं। स्पष्टवादिता उसकी प्रमुख विशेषताओं में से है। नीलाम्बर से वह कह देती है। "क्या मैं रूप का व्यापार करती हूँ या इस रूप के द्वारा ही तुम्हें भुला रखना चाहती हूँ?" अपनी मूल प्रकृति में वह आत्माभिमानिनी है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

अपने इन्ही चारित्रिक गुणों के कारण विराज अपने पति के विश्वास की अमानतदार है। राजेन्द्र जब प्रथम बार विराज से बातचीत करता है तो उसकी चर्चा सुनकर भी नीलाम्बर उस पर किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं करता। पति-पत्नी का यह प्रगाढ़ प्रेम उनकी बाल्यावस्था से ही संचित होता आया है। छोटी बहू मोहिनी विराज से ठीक ही कहती है, "संसार में कितनी ऐसी सौभाग्यशालिनी स्त्रियाँ हैं, जिनके भाग्य में तुम्हारे ऐसा स्वामी बदा हो।" नीलाम्बर किसी भी प्रकार अपनी पत्नी पर अविश्वास करने के लिए तैयार नहीं। वह स्पष्ट कहता है, "उसके हृदय में ज्ञान और बुद्धि का भली-भाँति उन्मेष होने से पहले ही वह अपने प्राण मुझे सौंप चुकी थी। आज भी उसके प्राण मेरे पास हैं।" छोटी बहू भी इसी बात का समर्थन करती है, "दीदी ने आप से यह वर माँग लिया था कि स्वामी के चरणों के समीप मस्तक रखकर मैं प्राणत्याग कर सकूँ। वह किसी भी प्रकार निष्फल नहीं हो सकता।" शील और विश्वास का यह अपूर्व संयोग सचमुच ही सराहनीय है। विराज ने तो नीलाम्बर को अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया है, इसीलिए वह अपने अपराध का निर्णय स्वयं नहीं कर पाती। उसका सम्पूर्ण अस्तित्व पति के अस्तित्व के साथ एकाकार हो गया है।

विराज का चरित्र समग्र रूप से शरत् की नारी सम्बन्धी धारणाओं पर

विशेष प्रकाश डालता है। 'विराज बहू' का अध्ययन इस बात का स्पष्ट रूप से परिचायक है कि शरत् की नारियों के प्रेम में सेक्स की प्रधानता नहीं है। उनके पुरुष-पात्रों एवं नारी-पात्रों के पारस्परिक सम्बन्ध सामान्य ऐंद्रिकता से रहित हैं। विराज एवं नीलाम्बर में इतना प्रगाढ़ प्रेम होने पर भी उनके चरित्र में पाशविक वासनाओं को कहीं उभारा नहीं गया है। इसीलिए शरत् की कृतियों में स्नेह की निर्मल मंदाकिनी बहती है, वासना की कलुषित वैतरणी नहीं। प्रसिद्ध उपन्यास 'वदरिंग हाइट्स' में प्रदर्शित प्रेम की व्याख्या करते हुए एक समालोचक ने कहा है—"अपनी सारी गहराई में कैथरीन (उपन्यास की नायिका) का प्रेम सेक्स-रहित है; उसमें ऐंद्रिकता का ऐसा ही अभाव है, जैसा कि उस आकर्षण में जो कि लहरों को चन्द्रमा की ओर खींचता है और लोहे को चुम्बक की ओर।" विराज के चरित्र की गवाही पर हम कह सकते हैं कि शरत् की नारियों का प्रेम प्रायः ऐसा ही है।

विराज के व्यक्तित्व की दूसरी प्रमुख विशेषता है उसकी अटल पति-भक्ति। वस्तुतः उपन्यासकार के सभी प्रतिनिधि नारी-पात्रों के संस्कार नितान्त भारतीय हैं। यहाँ हमें 'शेष प्रश्न' की कमल एवं 'चरित्रहीन' की किरणमयी को अपवाद-स्वरूप स्वीकार करना होगा। इस तथ्य के समर्थन में स्वयं शरत् बाबू की स्वीकारोक्ति यहाँ उद्धृत की जाती है—"तुम्हारी यह बात मैं मानता हूँ। अन्नदा दीदी ('श्रीकान्त' की एक सती नारी) के प्रति वास्तव में मेरी भी आन्तरिक श्रद्धा है। मेरे जन्मगत संस्कार आखिर भारतीय ही हैं।"—(इलाचन्द्र जोशी : 'साहित्य सर्जना' पृष्ठ 143)। शरत् के नारी-पात्रों की सामान्य पट-भूमि की विवेचना करते समय हमें यहाँ इस बात का भी स्पष्ट उल्लेख कर देना होगा कि उपन्यासकार के पुरुष-पात्रों में जो चरित्र की विविधता द्रष्टव्य है, वह उसके नारी-पात्रों में नहीं; क्योंकि उनमें से सबके व्यक्तित्व प्रायः एक ही भावधारा से अनुप्राणित हैं।

अब इस स्थल पर इस बात की भी संक्षिप्त चर्चा अप्रासंगिक न होगी कि शरत् के नारी पात्रों के नामकरण में मनोविज्ञान बड़े सुन्दर ढंग से निभाया गया है। एक प्रकार से हम उनके पात्रों के नाम से ही उनके रूप और गुणों की कल्पना कर लेते हैं। अन्नपूर्णा में यदि हमें किसी दयालु रमणी के स्वरूप की व्यंजना मिलती है, तो एलोकेशी के नाम से कुछ छल-प्रपंच की ध्वनि निकलती है। विराज बहू में जो धैर्य समाविष्ट है, वह पुटी में कहाँ? इसी प्रकार कमल में यदि हमें एक शान्त प्रभविष्णुता का आभास मिलता है तो मनोरमा में एक चंचल आकर्षण की छाया दिखायी देती है। 'विप्रदास' में दयामयी एवं वन्दना नाम भी ऐसे ही ध्वनिपूर्ण हैं। नाम का मनोविज्ञान शरत् की कला में बड़े सुगठित रूप में दिखायी देता है।

प्रकारतन्र से यह बता देना अनुचित न होगा कि विराज के चरित्र के माध्यम से शरत् के सामान्य नारी पात्रों के कुछ गुणों की व्याख्या यहाँ केवल इसलिए की गयी है कि 'विराज बहू' में शरत् पहली बार विराज के रूप में नारी का एक तीव्र व्यक्तित्व हमारे सामने लाये हैं, जिसके चरित्र में सुख-दुःख का ताना-बाना जीवन के धूप-छाँहीं रंगों से बुना गया है। अवश्य ही इस धूप-छाँहीं पट के अधिकांश भाग पर छाया का ही अधिकार द्रष्टव्य है। 'चन्द्रनाथ' में सरयू के चरित्र में जो विविधता लाने का प्रयत्न किया गया था, वह 'विराज बहू' में कुछ और आगे बढ़ता दिखायी देता है।

ऊपर विराज के चरित्र की विवेचना से स्पष्ट ही है कि उपन्यास में उसके व्यक्तित्व के तेज के सम्मुख अन्य नारी-पात्र ठहर नहीं पाते, परन्तु इससे दूसरे चरित्रों का हीनरंजन हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। छोटी बहू मोहिनी का अंकन अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी उतना ही प्राणवान् है, जितना कि स्वयं विराज का। वस्तुतः उसका चरित्र ऐसा ही है जो इस तथ्य का प्रतिपादन करता है, "स्त्री को प्यार न करना अन्याय है।" उसके हृदय की विशालता को देखकर विराज को कहना पड़ता है, "छोटी बहू, मैंने सभी को पहिचान लिया है, केवल तुम्हें अभी तक नहीं पहचान पायी थी।" किन्तु इससे मोहिनी की नम्रता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। वह तो अपने सारे चरित्र-निर्माण का श्रेय अपनी योग्य जिठानी को ही देती है, "मुझे जो कुछ भी जानकारी है, वह सब तुम्हारे चरणों से !" वह विराज पर अपने सर्वस्व के साथ विश्वास करती है। जब तक चन्द्र-सूर्य उदय होते रहेंगे, वह उस पर सन्देह नहीं कर सकती। दोनों परिवारों के फिर से मिलने का मूल कारण वही है। पति-भक्ति में वह भी किसी प्रकार से कम नहीं है। अपने पति की सारी प्रताड़ना वह मौन होकर सहती है। 'किसी से शिकायत नहीं' कोटि का चरित्र उसका है।

नीलाम्बर, पीताम्बर की छोटी बहिन पुटी के बारे में हम केवल इतना ही जानते हैं 'कि उसे अपने सबसे बड़े भाई का सबसे अधिक स्नेह प्राप्त है। एक ही माता-पिता की गोद में दोनों ने जन्म लिया था। पुटी जब तक छोटी थी, तब तक नीलाम्बर उसे कभी गोद में लेकर, कभी कन्धे पर लादकर घुमाया करता था। जहाँ वह जाता था, वहाँ साथ में पुटी को लिये जाता था।' विवाह के बाद पुटी के बारे में हमें प्रायः कुछ नहीं मालूम रहता। अपने पितृ गृह के अनेक आपत्तियों में ग्रस्त हो जाने पर वह फिर एक बार सप्तग्राम में आती है और उस समय हमें उसके चरित्र में अधैर्य का आधिक्य दिखायी देता है।

विराज के परिवार की दासी सुन्दरी का चरित्र अत्यन्त साधारण कोटि का होते हुए भी एक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। उसके व्यक्तित्व में प्रायः उन सारी बुराइयों का समावेश है, जिन्हें पाकर एक स्त्री कुलटा हो सकती है, परन्तु

'राक्षसत्व में देवत्व' वाले सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए उपन्यासकार ने उसके मानसिक संस्थान में भी भलाई के कुछ परमाणु अवशिष्ट दिखाये हैं। नीलाम्बर के अपार कष्ट से दुःखित होकर वह उनकी आर्थिक सहायता तो करती ही है, साथ ही उनकी चरित्र की दृढ़ता से प्रेरित होकर वह अपने प्रियतम निताई गांगुली का भी तिरस्कार कर देती है।

अपनी इस चर्चा को समाप्त करते हुए हम शरत् के ऊपर किये जाने वाले एक आक्षेप का समाधान करते चलेंगे। हिन्दी के कुछ विद्वान् प्रायः कहा करते हैं कि शरत् ने अपने नारी-पात्रों को सदैव विपत्ति के अथाह सागर में निमज्जित होते दिखाया है जो कुछ अस्वाभाविक है। विराज बहू भी इसका अपवाद नहीं है। उनके अनुसार विपदा पर विपदा पाठक को सहानुभूति-निरपेक्ष बना देती है। इस सम्बन्ध में हमें केवल इतना ही कहना है कि जिस प्रकार जीवन के बाह्य क्षेत्र के पीड़न का चित्राधार होने के कारण प्रेमचन्द जी का 'गोदान' हिन्दी की सिरमौर कृति बन गयी है, उसी प्रकार मानसिक व्यथाओं का यथार्थ अंकन करने के कारण शरत् सहृदय पाठकों के इतने निकटवर्ती हो गये हैं कि वे उनकी रचनाओं में अपने आपको ही बोलता हुआ पाते हैं। जीवन का विष सभी को पीना पड़ता है और उसका परिणाम भी अवश्यंभावी है; शिवशंकर तो विरले ही होते हैं जो उस विष को गले के नीचे नहीं उतरने देते। शरत् के अधिकांश नारी-पात्र प्रायः ऐसे ही हैं।

परिणीता

'परिणीता' शरत् के प्रारम्भिक साहित्यिक जीवन की एक गल्प है और उत्तरार्द्ध की गठन को छोड़कर वह अपने में कोई विशेषता नहीं रखती। नारी-चरित्र के दृष्टिकोण से भी इसका अध्ययन कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है, किन्तु जब हम शरत् की नारी के विकास की विस्तृत विवेचना करना चाहते हैं, तब इसकी कुछ व्याख्या अपेक्षित हो जाती है। एक प्रकार से 'परिणीता' शरत् की प्रख्यात कृति 'गृहदाह' का पूर्वरूप है। यही गल्प अपने विकसित एवं सुगठित स्वरूप में उस उपन्यास का आकार धारण कर लेती है जिसमें शरत् का नारी-चरित्र का अध्ययन एक दिशा में अपनी चरम-सीमा पर पहुँच गया है। 'परिणीता' एवं 'गृहदाह' दोनों में ही तीन कथात्मक संघर्ष समान रूप से विद्यमान हैं—एक प्रेमिका को प्राप्त करने के लिए दो मित्रों में संघर्ष, इसीसे सम्बन्धित वैष्णव एवं ब्राह्म संघर्ष तथा धनी एवं निर्धन में संघर्ष। प्रेम सम्बन्धी यह प्रतिद्वन्द्विता दोनों की मूल कथा है। वस्तुतः 'परिणीता' की ललिता ही समाज के प्रबल झँकोरों में दृढ़, गम्भीर और साथ ही साथ अस्थिर बनकर 'गृहदाह' की अचला का रूप धारण कर लेती है। 'परिणीता' शरत् की अपरिणीत वय की रचना है, इसीलिए उसकी नारी सरल एवं पारदर्शक है; किन्तु ज्यों-ज्यों उपन्यासकार का अध्ययन बढ़ता गया, उसकी धारणा उत्तरोत्तर बदलती गयी और 'गृहदाह' में उसकी नारी का चरित्र अत्यन्त दुरूह एवं गहन हो गया। विकास का यह अत्यन्त स्वाभाविक क्रम है।

'परिणीता' की मूल-कथा इस प्रकार है—गुरुचरण एक निर्धन गृहस्थ है। किरानीगीरी करके वह किसी प्रकार अपना निर्वाह करता है। उसकी अनाथ भाँजी ललिता भी उसी के साथ रहती है। पड़ोस के बाबू नवीनचन्द्र राय के पुत्र शेखर के स्नेह का अधिकांश ललिता के लिए सुरक्षित है। बचपन का यह प्रेम प्रणय में परिणत होता है और ललिता शेखर की परिणीता हो जाती है; परन्तु यह बात केवल उन्हीं तक रहती है। इधर गुरुचरण अपनी भांजी के विवाह के लिए वर ढूँढ़ते हैं। पड़ोस के एक घर में गिरीन्द्र नाम का नवयुवक आ जाता है, जिसके व्यक्तित्व से गुरुचरण बहुत प्रभावित होते हैं। ललिता की ओर वह भी अत्यधिक

आकर्षित होता है। अपने पास से रुपये देकर वह गुरुचरण का सारा ऋण चुका देता है। उसी के प्रभाव के कारण गुरुचरण ब्राह्म धर्म स्वीकार कर लेते हैं। शेखर के हृदय को इसमें बहुत चोट पहुँचती है। वह समझता है कि ललिता का विवाह गिरीन्द्र के साथ हो जायेगा। वह अपनी माँ के साथ देश-भ्रमण के लिए चला जाता है। वहाँ से लौटकर आने पर जब वह गुरुचरण की विधवा पत्नी से गिरीन्द्र को 'जमाई' कहकर सम्बोधित होते देखता है तो वह इस सम्बन्ध में एकदम निश्चित हो जाता है। इससे ललिता के प्रति उसके मन में कुछ विरक्ति, कुछ घृणा का भाव उत्पन्न होता है। उसका विवाह दूसरी जगह तय हो जाता है, किन्तु इसी बीच में भेद खुलने पर यह ज्ञात होता है कि गिरीन्द्र का विवाह ललिता के साथ न होकर उसकी छोटी बहिन अन्नाकाली के साथ हुआ है। तब शेखर के मन में गिरीन्द्र के प्रति द्वेष का स्थान श्रद्धा ले लेती है; और उसकी माँ भुवनेश्वरी अपनी स्नेहपात्री ललिता को अपनी पुत्र वधू के रूप में पाकर फूली नहीं समाती। वह दौड़ी-दौड़ी अपने बड़े लड़के अविनाश को बताने जाती है, 'ब्याह की दुलहिन बदल गयी है।'

'परिणीता' में ललिता के चरित्र का विश्लेषण बहुत दुरूह नहीं है। उसके मानसिक संस्थान में वे गहराइयाँ नहीं हैं, जिनके लिए शरत् का नारी-समाज प्रसिद्ध है। वैसे तो ललिता के प्यार का क्षेत्र बहुत विस्तृत है—वह शेखर को, शेखर की माँ को, अपने मामा को, गिरीन्द्र को एवं परिवार के अन्य सब व्यक्तियों को स्नेह का दान देती है, परन्तु उसके हृदय की विशेष रागात्मक वृत्तियाँ तो जैसे शेखर पर ही केन्द्रित हैं। उसका प्रेम सरल एवं सार्वजनिक होते हुए भी एक विशिष्ट व्यक्ति के लिए विशेष प्रकार का है। बस चरित्र की यह संवेदना ही 'परिणीता' की आधार-शिला है।

उपन्यास की पट-भूमि का निर्माण नगर की सामूहिक हलचल एवं थकित गुरुचरण की अनेक चिन्ताओं से हुआ है। इस बाह्य एवं आन्तरिक कोलाहल के बीच जब घटना-स्थल से प्रथम बार परदा उठता है तो अपने क्लान्त एवं जर्जरित मामा को धीरज बँधाती हुई तेरह वर्ष की किशोरी ललिता को हम देखते हैं। निर्धनता के फलस्वरूप समय से पहले ही उसमें विचार-शक्ति का विकास हो चला है। 'इस जीर्ण-शीर्ण गुरुभार-ग्रस्त अकाल-वृद्ध मामा के हृदय की छिपी हुई व्यथा को इस घर में उससे ज्यादा और कोई नहीं समझता।' उसके व्यवहार में सरलता है एवं हृदय में सहानुभूति।

किन्तु इसके पहले कि पाठक ललिता के बारे में कुछ अधिक सोच सकें, उपन्यासकार स्वयं ही उसके सामने उस समस्या का आभास दे देता है जो एक निर्धन बंगाली गृहस्थ को उन्निद्र रोग तक का उपहार प्रदान कर सकती है। गुरुचरण कहते हैं, "अपनी इस बिटिया को अगर राजा के घर दे सकता तो

समझता कि हाँ, एक अच्छा काम किया।" परन्तु प्रश्न तो यह है कि यह अच्छा काम कैसे हो? अभी इस वार्त्तालाप के कुछ ही क्षण पहले दयामय भगवान् ने उन्हें पाँचवीं कन्या प्रदान की है। इस रत्न का उन्हें कितना अनादर करना पड़ेगा, इसे वे भलीभाँति जानते हैं। पर इस समय तो उन्हें ललिता का विशेष ध्यान है, "राजा के मुकुट पर कोहिनूर चमकता है, वैसे ढेरों कोहिनूरों के साथ तौलने पर भी मेरी इस बिटिया की क़ीमत नहीं हो सकती। पर इस बात को समझेगा कौन? पैसे की कमी के कारण मुझे ऐसे रत्न को भी गँवा देनापड़ेगा।" इन पंक्तियों में वस्तुतः समाज के अनेक गुरुचरण बोल रहे हैं, जिनके सिर पर कन्या-दाय का भार उन्हें चैन नहीं लेने देता।

'ललिता देखने में जरा श्यामवर्ण ज़रूर है, पर ऐसी आँखें, ऐसा चेहरा, ऐसी हँसी, इतनी दया-ममता दुनिया में ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलेगी'—मामा की इस उक्ति में से यदि अतिशयोक्ति का अंश निकाल दिया जाय, तब भी भांजी की आन्तरिक शुभ्रतामें कोई विशेष कमी नहीं पड़ती। ललिता का चरित्र उस अबोध कुसुम-कली की भाँति है, जिसमें अधिक प्रभविष्णुता एवं आकर्षण भले ही न हो, किन्तु उसकी अपनी जो निश्छलता एवं स्निग्धता है, वह भी कम मूल्यवान् नहीं।

शेखर एवं ललिता का पारस्परिक रागात्मक सम्बन्ध नितान्त सहज एवं प्राकृतिक है। 'वह जानती है कि शेखर की बिना आज्ञा के वह कहीं भी नहीं जा सकती—किसी ने उसको यह बात बतायी नहीं थी, और न इस बात का उसके मन में कोई तर्क ही उठा कि क्यों और किसलिए, किन्तु जीव-मात्र में जो स्वाभाविक सहज बुद्धि है उसी बुद्धि ने उसे सिखा दिया था।' इसकी तह में आदिम मनुष्य की आत्मसमर्पण की मनोवृत्ति छिपी हुई है। अपने जीवन में व्यक्ति यह अनुभव करता है कि उसके सम्पर्क में आने वाले अनेक व्यक्तियों में से कुछ दो-एक ऐसे हैं जो बरबस ही उसे अपनी ओर खींच लेते हैं; उसे उनका शासन मानना पड़ता है। शेखर के प्रति ललिता की यह वृत्ति उसके बाल्यकाल से ही प्रारम्भ होती है। तब से वह 'छोटी बहिन' की तरह शेखर के आस-पास घूम-फिर कर उससे पढ़ना-लिखना सीखकर बड़ी हो रही है। वह शेखर के स्नेह की पात्री है, इसे सब जानते हैं। बचपन का यह पवित्र सख्य-भाव तरुणाई में कदम रखते ही किस प्रकार प्रणय की मादकता में परिणत हो जाता है, इसे तो स्वयं प्रेमी-प्रेमिका भी शायद नहीं जानते।

यहाँ 'छोटी बहिन' शब्द शायद विज्ञ समालोचकों के तीर का निशाना बन सकता है, परन्तु यह स्पष्ट समझ रखना चाहिए कि बाल्यावस्था के प्रेम का यह विकास उतना ही स्वाभाविक एवं पवित्र है, जितना कि स्वयं सूर के कृष्ण एवं राधा के प्रेम का विकास, जिसके सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है, "इस प्रेम की उत्पत्ति में रूप-लिप्सा और साहचर्य का योग है।" समाज में

व्यक्तियों की परस्पर संवेदना जब किसी विशेष स्त्री-पुरुष के बीच कुछ अधिक निकट की हो जाती है, तब उसी को हम प्रेम कहते हैं। बचपन में इसमें सेक्स का अभाव रहता है, परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है त्यों-त्यों व्यक्ति की अन्य सहज-प्रवृत्तियाँ भी जाग्रत होने लगती हैं, किन्तु ऐसे प्रेम में वासना का आधिक्य नहीं रहता, उसकी आधारशिला तो विशुद्ध स्नेह की ही भावना है। केवल मात्र वासना पर आधारित प्रेम अस्थायी होता है, स्थायित्व स्नेह की सरसता में ही है।

शेखर एवं ललिता के इस स्नेह के बीच गिरीन्द्र का आगमन होता है। उसके द्वारा ध्यानपूर्वक देखे जाने पर वह शरमा जाती है और तब उसे प्रथम बार अनुभव होता है कि पुरुष की प्रीति की निगाह इतनी बड़ी लज्जा की बात है। इसके उपरान्त जब वह उसके दुखित मामा के प्रति विशेष सहानुभूति दिखाने लगा तो 'वह गिरीन्द्र पर आन्तरिक श्रद्धा करने लगती है।' परन्तु उसके हृदय में गिरीन्द्र के प्रति श्रद्धा एवं शेखर के प्रति प्रेम के बीच में कभी संघर्ष नहीं हुआ। उसका राग अन्त तक शेखर पर ही केन्द्रित रहता है।

ललिता 'लक्ष्मी-सरस्वती दोनों होती हुई भी' शेखर के व्यक्तित्व से अपने को बहुत नीचा समझती है; 'वह शेखर से भीतर-ही-भीतर डरती है'। वस्तुतः 'परिणीता' में ललिता का चरित्र बहुत सरल अंकित किया गया है। 'विराज बहू' की विराज के व्यक्तित्व में जो तीव्रता थी, वह ललिता में नहीं। विराज से नीलाम्बर भय खाता था, किन्तु यहाँ ललिता शेखर से डरती है। चरित्र-विज्ञान के आचार्य शरत् ने पुरुष एवं नारी दोनों के ही व्यक्तित्व में कुछ ऐसा आकर्षण भर दिया है, जिससे कि उन्हें एक-दूसरे की ओर बरबस खिचना पड़ता है। किसका जादू अधिक प्रबल पड़े यह उनकी प्रकृति पर निर्भर है।

ललिता एवं शेखर के बीच आँधी की तरह गिरीन्द्र आ जाता है और उसी भाँति चला भी जाता है। किन्तु इस तूफ़ान में अपने व्यक्तित्व को दृढ़ रखने की क्षमता ललिता में है जो उसके एकनिष्ठ प्रेम की परिचायक है और किसका खण्डन आगे 'शेष प्रश्न' में शरत् कमल के द्वारा करवाते हैं। ललिता शेखर की परिणीता हो जाती है, परन्तु समाज के सम्मुख इस रूप में आने का साहस उनमें अभी नहीं है। तभी शेखर ग़लतफ़हमी का शिकार होकर ललिता का तिरस्कार करता है। वह स्थिर होकर कहती है—"मुझे बेचने का अधिकार उन्हें है ही नहीं और न उन्होंने बेचा ही है। यह अधिकार सिर्फ़ तुम्हीं को है, तुम चाहो तो रुपया देने के डर से मुझे बेच भी सकते हो।" पर शेखर इस पर कुछ ध्यान नहीं देता। उसे विश्वास है कि ललिता अपने इस गुप्त परिणय की बात किसी को बताएगी नहीं, क्योंकि उसने सुन रखा था, 'औरतों की छाती फटे तो फटे पर पर मुँह नहीं फटता'। इस बात से उसे सन्तोष मिलता है और आगे वह ललिता को 'कुलटा' कहते ए भी नहीं सकुचाता। गिरीन्द्र के प्रति उसका विद्वेष चरम

सीमा पर पहुँच जाता है, परन्तु जब वह उसे बाद में बताता है, "स्नेह चाहे कितना ही गहरा क्यों न हो, जानबूझकर कोई पराई विवाहिता स्त्री से ब्याह नहीं कर सकता" तो उसके चले जाने पर शेखर उसे भूमिष्ठ होकर प्रणाम करता है।

ललिता शेखर से तो प्रेम करती ही है साथ ही उसकी माँ को भी वह अपनी ही माँ समझती है। वह शेखर से विश्वास के साथ कहती है, "जो तुम हो सो मैं हूँ। माँ अगर तुम्हें नहीं छोड़ सकतीं तो मुझे भी नहीं छोड़ेंगी।" भुवनेश्वरी स्वयं स्वीकार करती हैं, "मुझे वह सिर्फ़ माँ कहती ही न थी, बल्कि माँ की तरह मानती और प्यार भी करती थी।" जननी के स्नेह से विहीन ललिता, अपनी माँई की भरपूर गृहस्थी में उससे भी दो बातें नहीं कर पाती। इसीलिए शेखर की माँ भुवनेश्वरी के आँचल की छाया उसे सर्वाधिक प्रिय है। 'परिणीता' में भुवनेश्वरी के उज्ज्वल चरित्र का अंकन पाठक के मन में स्थायी घर कर लेता है। उनका वर्णन करते हुए उपन्यासकार कहता है, "उम्र पचास के लगभग होगी। पर शरीर का ऐसा सुन्दर गठन है कि देखने में पैंतीस-छत्तीस से ज़्यादा की नहीं मालूम होतीं और उस सुन्दर आवरण के भीतर जो मातृ-हृदय है, वह और भी नवीन, और भी कोमल है।" इन शब्दों से हमारे सम्मुख जिस भव्य मूर्ति का चित्र आता है वह श्रद्धेय है। वस्तुतः शरत् की आदर्श माताएँ आधुनिक प्रगतिशील महिलाओं से भी कहीं अधिक भावनाओं में सुलझी हुई एवं किसी भी प्राचीना से अधिक स्नेहमयी हैं। वे शेखर की सम्मति के बिना उसका विवाह नहीं करना चाहतीं। आगे चलकर 'विप्रदास' की दयामयी में भी ऐसी ही अनुशासन-प्रियता एवं ममता का संगम हुआ है।

भुवनेश्वरी का हृदय वैसे ही बहुत कोमल है किन्तु ललिता की अनाथावस्था विशेष रूप से उनके अन्दर सहानुभूति जाग्रत करती है। इसलिए वे शेखर और ललिता को समान भाव से प्यार करती हैं। शेखर के साथ गुप्त रूप से विवाह करने के पहले ललिता कुछ डरती है। इस पर वह कहता है, "बाबूजी सुनेंगे तो गुस्सा होंगे, यह ठीक है; पर माँ बहुत खुश होंगी।" और अन्त में जब शेखर और ललिता एक साथ ही उनके चरण स्पर्श करते हैं तो, "भुवनेश्वरी की आँखों से आनन्दाश्रु झरने लगते हैं। वे ललिता को सचमुच ही बहुत ज़्यादा प्यार करती थीं।"

गल्प के अन्य नारी-पात्रों में कोई विशेष महत्त्वपूर्ण चरित्र नहीं है। ललिता की माँई का केवल उल्लेख भर है। चारुबाला की माँ का अवश्य कुछ अंकन हुआ है। उनके लिए ताश खेलने से बढ़कर प्रिय वस्तु संसार में कोई नहीं है। मगर खेलने के लिए जितना नशा है, उतनी दक्षता नहीं। ऐसे व्यक्तियों के जीवन के बारे में भी यही उक्ति चरितार्थ होती है। उनमें जीवित रहने की लालसा तो

बहुत अधिक रहती है, परन्तु जीवन की कला से वे प्रायः अनभिज्ञ होते हैं। जब मनोरमा सुनती है कि गिरीन्द्र ललिता की माँई को एक साथ ही बहुत-सा रुपया देने जा रहा है तो उसे घोर असन्तोष होता है। एक गृहिणी की स्थिति में उसकी संचय की मनोवृत्ति ऐसे अवसर पर जागरूक हो उठती है।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, 'परिणीता' में नारी-चरित्र के अध्ययन की कुछ विशेष सामग्री नहीं है। ललिता का चरित्र अवश्य ही महत्त्वपूर्ण होता, यदि शरत् उसे कुछ और गहराई के साथ अंकित करते! परन्तु उसकी मानस-भूमि उसकी अपरिणीत वय को देखते हुए कुछ अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती। इसी कथानक का ढाँचा लेकर शरत् ने बाद में अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'गृहदाह' का निर्माण किया होगा, ऐसी सम्मति स्थिर करना, असंगत नहीं है। जान तो ऐसा पड़ता है कि 'परिणीता' में ललिता की सरलता ही समय के व्यवधान से 'गृहदाह' की अचला के हृदय का संघर्ष बन जाती है।

चरित्रहीन

शरत् के सम्पूर्ण साहित्यिक जीवन में 'चरित्रहीन' का अपना अलग महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस उपन्यास में वे प्रथम बार एक ऐसी नारी का व्यक्तित्व हमारे सम्मुख लाते हैं जो उनकी पूर्व-परम्परा से सर्वथा भिन्न है। नारी ही नहीं वरन् पुरुष का भी एक ऐसा ही चित्र हमें इस कृति में मिलता है। किरणमयी एवं सतीश के रूप मे शरत् ने प्रकृति की उन आदिम सन्तानों का अंकन किया है, जो अपनी सारी दुर्बलताओं के बावजूद भी किसी निश्चित ध्येय की ओर अग्रसर होने की चेष्टा करते हैं। ये चरित्रहीन (?) व्यक्ति अस्थि-मांस से प्रशासित होते हुए भी हृदय की उच्च वृत्तियों से विहीन नहीं होते। इस प्रकार एक ओर समाज उन्हें अपने अगणित बन्धनों से दबाता है और दूसरी ओर प्राकृतिक आवश्यकताएँ। इन दोनों के संघर्ष में उनकी सुदृढ़ भावनाओं का उभार उन्हें कीचड़ के कमल का रूप दे देता है। किरणमयी में नारी का रूप अनैतिक नहीं; वह पूर्व-नैतिक है। उसका विद्रोही व्यक्तित्व शेली की 'पश्चिमी हवा' के समान समाज के अनेक स्थान-च्युत, अनावश्यक विधानों को जर्जरित पीत-पत्रों की भाँति उड़ा ले जाता है।

'चरित्रहीन' की नारी की कुछ भी व्याख्या करने के पूर्व उसकी मूल-कथा समझ लेना नितान्त आवश्यक है। बात पश्चिमी बिहार के एक बड़े शहर से प्रारम्भ होती है। उपेन्द्र का सम्पन्न परिवार यहीं का प्रवासी है और उनके अभिन्न मित्र सतीश का भी निवास-स्थान यहीं है। उपेन्द्र अपनी पत्नी सुरबाला को शायद अपने आपसे भी बढ़कर चाहते हैं और सतीश इन दोनों का परम भक्त है। शिक्षा आदि में असफल होकर सतीश डाक्टरी पढ़ने कलकत्ते पहुँचता है। वहाँ मेस में रहने वाली दासी सावित्री से उसका प्रेम हो जाता है। दास्य वृत्ति करते हुए भी सावित्री एक उच्च परिवार की साध्वी विधवा है, इसीलिए सतीश से प्रेम करते हुए भी वह उसे अपना नहीं पाती। इसी बीच में एक ग़लतफ़हमी के फलस्वरूप सावित्री सतीश की निगाहों में गिर जाती है, और वह मेस छोड़कर पश्चिम के मकान को चल देता है।

उपेन्द्र अपने एक बाल्य-बन्धु की बीमारी का समाचार पाकर सतीश को साथ लेकर कलकत्ते पहुँचते हैं। वहाँ अपने रुग्ण मित्र हारान की पत्नी किरणमयी से उनका परिचय होता है। यह दरिद्र गृह-लक्ष्मी अपने रूप-सौन्दर्य में अतुलनीय है। पहले तो यह समझकर कि ये दोनों उसके मरणासन्न स्वामी की वसीयत में धन लेने के लिए आये हैं, वह सतीश एवं उपेन्द्र का तिरस्कार कर देती है। किन्तु फिर बाद में वह उनको हितैषी मानने लगती है। प्रेम की भूखी यह रमणी सतीश को भाई मानती है एवं उपेन्द्र को जीवन-सर्वस्व। कुछ दिन बाद उपेन्द्र घर वापस चले जाते हैं और इधर हारान की मृत्यु हो जाती है।

कलकत्ते में उपेन्द्र सतीश के साथ अपने मित्र ज्योतिषराय के यहाँ ठहरे थे। ज्योतिष की सरल-हृदया बहिन सरोजनी सतीश के रूप एवं शील पर सहसा मुग्ध हो जाती है।

धनाभाव के कारण सावित्री सतीश से कुछ रुपये माँगने आती है, और दुर्भाग्यवश उसी समय स्टेशन से उपेन्द्र और सुरबाला को लेकर सतीश भी घर पहुँचता है। उपेन्द्र सावित्री को देखते ही सतीश के प्रति घृणा का भाव प्रदर्शित करते हुए पत्नी एवं छोटे भाई दिवाकर के साथ ज्योतिष के यहाँ चले जाते हैं। किरणमयी के यहाँ पहुँचकर उपेन्द्र दिवाकर को उसके संरक्षण में छोड़कर चल देते हैं। कुछ समय के उपरान्त उपेन्द्र की असफल प्रेमिका किरणमयी प्रतिशोध की भावना से अभिभूत होकर दिवाकर को साथ लेकर अराकान चली जाती है।

उपन्यास की कथा और भी आगे बढ़ती है, जब सतीश और सरोजिनी मिलकर बिछुड़ जाते हैं। सुरबाला की मृत्यु के उपरान्त उपेन्द्र यक्ष्मा के शिकार हो गये हैं। अन्ततः उनकी मरणशय्या के पास महेश्वरी, उनकी बहिन सावित्री किरणमयी, सरोजिनी, सतीश, दिवाकर आदि सभी व्यक्ति एकत्र होते हैं। मरते समय उपेन्द्र सरोजिनी का हाथ सतीश को पकड़ा जाते हैं और सावित्री से प्रार्थना करते हैं कि वे उनकी दो बहिनों (किरणमयी एवं सरोजिनी) तथा दो भाइयों (सतीश एवं दिवाकर) की देखभाल स्वयं ही करती रहें।

पूरे उपन्यास में आठ प्रमुख नारी-पात्र हैं—किरणमयी, सावित्री, सुरबाला, सरोजिनी, जगततारिणी, अघोरमयी, महेश्वरी एवं दासी कामिनी। इनमें से किरणमयी एवं सावित्री के चरित्रों पर तो यह उपन्यास ही आधारित है; शेष में से सुरबाला एवं सरोजिनी का अंकन पूरा-पूरा हुआ है तथा अन्य नारी-पात्र पार्श्व चरित्र कहे जा सकते हैं। यदि एक ओर चरित्रहीन सतीश के नाम पर उपन्यास का नामकरण हुआ है, तो दूसरी ओर 'चरित्रहीना' किरणमयी भी कथा-वस्तु की मुख्य संवेदना में किसी प्रकार कम नहीं है। जटिल एवं दुरूह होने के कारण हम सर्वप्रथम उसका चरित्र-विश्लेषण करेंगे।

किरण के चरित्र को अपेक्षाकृत गहराई के साथ समझने के लिए पृष्ठभूमि

स्वरूप हमें उसके पूर्व के शरत् के नारी-पात्रों की सामान्य भाव-भूमि से कुछ परिचित होना पड़ेगा। 'चरित्रहीन' के पहले के सभी उपन्यासों में शरत् ने नारी का चित्रण वैष्णवी भावना से प्रेरित होकर, अत्यन्त सहज तथा सरल रूप में किया है। उनकी नारी सावित्री के समान पति-भक्त एवं भागीरथी के समान पवित्र रही है। किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि कुछ आगे चलकर शरत् अपनी इस सृष्टि से पूर्णतः सन्तुष्ट न रह सके। इस असन्तोष ने 'किरणमयी' के उस नारी-स्वरूप को जन्म दिया जो 'श्रीकान्त' की अभया में विकसित होकर, 'शेष प्रश्न' की कमल में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है। नारी के इस रूप में उन्होंने अटल पति-भक्ति नहीं रखी, एकनिष्ठ प्रेम नहीं रखा, वरन् मानवी के हृदय की अस्थिरता का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया। शरत् के इस नारी-समाज में भावना के साथ-साथ बुद्धि का भी पूरा उन्मेष दिखायी देता है। प्रेम की अस्थिरता उतनी ही सत्य है, जितना स्वयं प्रेम—इस तथ्य का प्रतिपादन किरण तथा कमल के चरित्र में मिलता है। 'चरित्रहीन' में माधवी, विराज एवं ललिता के हृदय की सरलता नहीं मिलती, वरन् किरणमयी के अँधेरे मन की गहराइयों से सामना करना पड़ता है, जिसके विषादपूर्ण प्रभाव का निराकरण अपनी सारी पवित्रता के साथ सुरबाला तक नहीं कर पाती।

किरणमयी नाम की ध्वनि में एक परी का-सा स्वरूप छिपा जान पड़ता है। पर यह परी यदि चन्द्र-किरण के समान शीतल है तो सूर्य-किरण की भाँति प्रखर भी। इस 'दरिद्र गृहलक्ष्मी' का प्रवेश अन्धकार में अपूर्व ज्योति भर देता है। किन्तु उसका रूप निष्ठुर तथा मादक है: सतीश की आँखों में वह प्रथम भेंट के समय 'प्रेत-लोक की पिशाचिनी' सी जान पड़ती है, परन्तु बाद में सतीश को ही अपनी भूल का सबसे अधिक भान होता है। अपूर्व सौन्दर्य के साथ-साथ किरण में बुद्धि का अभाव नहीं है, यह हमें उसके व्यवहार से स्पष्ट जान पड़ता है।

किरण-जैसा सौन्दर्य सतीश की 'आँखों के आगे नहीं गुज़रा, न जीवित न चित्रित'। पर यह निश्चित है कि सौन्दर्य के अनुपात से उसके मन में ममता नहीं है। कीट्स की 'ला बेल देम साँ मर्सी' एवं रवीन्द्र की 'उर्वशी' की भाँति उसका रूप भी मादक है, किन्तु उसमें दया का अधिक प्रवेश नहीं; अवश्य ही उसकी निष्ठुरता का एक निश्चित कारण है। अपने जीवन में उसे किसी का भरपूर प्रेम न मिल सका। स्नेह के अभाव में उसका हृदय रूखा हो गया है; उसकी वासना जाग्रत हो उठी है।

किरणमयी का अस्तित्व शारीरिक एवं मानसिक वेदना की कहानी है। 'सास अघोरमयी ने कभी उसे लाड़-प्यार नहीं किया, बल्कि जहाँ तक हो सका उसे सताती रही। पति ने भी कभी उस पर प्रेम प्रकट नहीं किया।' ऐसी परिस्थिति में उसके द्वारा सतीत्व की मर्यादा की उपेक्षा स्वाभाविक ही है। अपनी सास से

तिरस्कृत होने पर वह स्वयं कहती है, "शोक और ताप केवल तुम्हीं को तो नहीं है। मैं भी तो मनुष्य हूँ, जब तुम इसे भूल जाती हो, तभी मुझे दुःख होता है, नहीं तो हजार बातें कहने से भी, गुस्सा नहीं आता।" इस 'रहस्यमयी सुन्दरी' के ऊपर विषाद का ऐसा आवरण पड़ा रहता है, जिससे वह कभी-कभी ही मुक्त हो पाती है। उसके सौन्दर्य का सतत ज्ञान उसे रूपगर्विता बनाये रहता है, और जब उसके रूप का जादू उपेन्द्र पर नहीं चल पाता तो उसका हृदय घोर दुःख से अभिभूत हो उठता है। वह दिवाकर के सम्पर्क में अपने को सँभाले रहती है, किन्तु जब उसके और दिवाकर के पारस्परिक सम्बन्ध पर उपेन्द्र अकारण शंका करते हैं तो उसकी प्रतिशोध की भावना अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है।

उपेन्द्र के आने के पूर्व वह अपने घर आने वाले एक डाक्टर से 'प्रेम' करने लगी थी, किन्तु ज्योंही अपने रुग्ण पति के बन्धु को उसने देखा, उसका हृदय उनकी ओर बरबस ही खिंच गया। डाक्टर के उपकार का मूल्य उसने रमणी की सर्वप्रिय वस्तु आभूषण देकर चुकाया, और उसे फिर अपने यहाँ आने का निषेध कर दिया। किरणमयी के जीवन की दृढ़ता से उपेन्द्र को भी स्त्रियों के सम्बन्ध में अपना मत परिवर्तित करना पड़ा। अब तक वे उन्हें 'अबला' ही समझते थे, किन्तु शीघ्र ही वे जान गये, 'ऐसी स्त्रियाँ भी हैं जिनके आगे पुरुषों का उन्नत मस्तक आप ही झुक जाता है, जोर नहीं चलता, सिर झुकाना ही पड़ता है; ऐसी स्त्री किरणमयी है।' वस्तुतः किरण का जीवन धन एवं स्नेह के अभाव में तप्त मरुस्थल के समान हो गया है, जिसमें दूर-दूर तक हरियाली का नामो-निशान नहीं। वह प्रारम्भ से लेकर अन्त तक विपत्तियों की कठोरता से अनवरत युद्ध करती है। जैसा उसका उग्ररूप प्रखर है, वैसा ही उसका शान्तिपूर्ण विरोध भी।

किरणमयी सामाजिक विधि-विधानों से बिल्कुल नहीं डरती। वह अकेले घर में, दिवाकर को अपने साथ, अपने संरक्षण में रखने के लिए तैयार हो जाती है। और तब उपेन्द्र भी समझ पाते हैं, 'सौन्दर्य का जो असीम समावेश उसमें है, वह मानो अग्निशिखा की तरह लहराकर ऊपर उठ रहा है, इसे आँखों से देख तो लेना चाहिए, पर स्पर्श नहीं करना चाहिए।' किन्तु उपेन्द्र को यह क्या मालूम कि यह अग्निशिखा केवल उन्हीं के लिए शीतल भी हो सकती है।

किरण का गत जीवन बड़े दुःख में बीता है। मायका कहाँ है, यह उसे मालूम नहीं। मामा के यहाँ पली थी पर अब उनका भी कोई समाचार ज्ञात नहीं। दस वर्ष की उम्र मे ही विवाहित होकर वह पति के यहाँ आयी है। और यहाँ के व्यवाहर ने तो उसे जीवन्मृत बना रखा है। प्रेम के स्थान पर उसे उसके पति ने विद्या-दान दिया है। और इसीलिए वह पर्याप्त अध्ययनशील एवं मननशील है। उसकी अपूर्व तर्क-शक्ति में हमें 'शेष प्रश्न' की कमल का पूर्व-रूप स्पष्ट दिखायी देता है। मिथ्या एवं सत्य का अन्तर उपनिषदों की कहानी के प्रसंग में स्पष्ट

करती हुई वह कहती है, "यह बात सदा याद रखनी चाहिए कि मिथ्या के भुलावे से सत्य का प्रचार नहीं हो सकता···मिथ्या सदा पाप है, किन्तु मिथ्या में सत्य को मिलाकर बोलने के समान संसार में दूसरा पाप क्या हो सकता हैं ?" इसीलिए उसे धार्मिक ग्रन्थों में आस्था नहीं। 'वे सत्य से बड़े नहीं हैं। सत्य के सामने इनका कोई मूल्य ही नहीं'। वह आत्मा को नहीं मानती पर ईश्वर को अस्वीकार भी नहीं करती। इन सब बातों से ज्ञात होता है कि किरणमयी भावना का प्रतिरूप होते हुए भी बुद्धिवादी है। वह मनुष्य को गुण-दोषों से लपेटकर छोटा-मोटा देवता मान सकती है पर ब्रह्म की सत्ता में उसका विश्वास नहीं। इसी कारण से बड़े-बड़े धर्माचार्यों का वह तिरस्कार कर देती है, उन्हें दम्भी बताती है।

ऐसा ज्ञान पड़ता है कि किरणमयी के चरित्र के माध्यम से शरत् ने परम्पराओं एवं रूढ़ियों के गर्त्त में गिरते हुए समाज को निर्मल दीप-आलोक दिया है, यद्यपि स्वयं उस दीप के आस-पास से अन्धकार एवं कालिमा का पूर्ण लोप नहीं हो सका है। प्राचीन के प्रति विद्रोह का जो भाव हमें कमल में मिलता है, और जिसे उसने इन शब्दों में व्यक्त किया है, "वस्तु प्राचीन होती है काल के धर्म से, परन्तु उसे अच्छा होना पड़ता है अपने गुणों से", वह किरणमयी के चरित्र में अपनी प्रारम्भिक स्थिति में मिलता है। उसका व्यक्तित्व आदर्श के आग्रह में यथार्थ की अवहेलना नहीं करता।

किरणमयी का तीव्र व्यक्तित्व केवल एक स्थान पर अपनी हार मानता है— उपेन्द्र के सामने। उसके रूप की मदिरा उपेन्द्र को मत्त नहीं बना पाती, इससे वह अत्यन्त क्षुब्ध है। और जब उसे यह ज्ञात होता है कि उपेन्द्र की इस चारित्रिक दृढ़ता की पृष्ठभूमि में सुरबाला का निबिड़ प्रेम है, तो उसकी ईर्ष्या बरबस उभर पड़ती है अन्यथा उसकी सज्जा तपःपूत एवं असाधारण है। विधवा का तेज शरत् की प्रमुख मान्यताओं में से है। 'उसके (किरण के) चेहरे की ओर देखते ही आँख आप ही उसके पाँवों की ओर झुक जाती है।' उपेन्द्र के सम्बन्ध को अपवाद-स्वरूप छोड़कर, किरणमयी एक असहाय प्रेमिका नहीं है।

परन्तु उसके व्यक्तित्व को एक स्थान पर और झुकना पड़ता है। सुरबाला के अटल विश्वास के सम्मुख उसका तर्क हार मान लेता है। प्रथम दृष्टि में ही सुरबाला के चरित्र का शासन वह स्वीकार कर लेती है इसका मूल कारण शायद यही है कि किरण के चरित्र में जो कुछ असत् है वह सुरबाला के चरित्र में निर्मल एवं पवित्र हो गया है। इसीलिए अपने सारे प्रखर तर्कों के साथ भी वह सुरबाला के 'सीधे-साधे शब्दों और लड़कपन से' विचलित हो जाती है। और तभी वहाँ से वापस घर पहुँचने पर उसका गृहिणी-स्वरूप निखर पड़ता है।

किरणमयी के चारित्रिक अवयवों में उसका प्रेम सर्व-प्रमुख है। वह मुक्त प्रेम का समर्थन करती हुई भी व्यभिचारिणी नहीं कही जा सकती।। प्रतिदान

के अभाव में वह स्वामी से प्रेम न कर सकी, यह वह स्वयं स्वीकार करती है। और जब ऐसे समय में उसकी चित्त-वृत्तियाँ अस्थिर हो रही थीं तभी उपेन्द्र का आगमन हुआ। उसका सारा प्रेम उन्हीं पर केन्द्रित हो गया। व्यक्तित्व की दृढ़ता में उसने उन्हें अपना गुरु माना और कहा, "प्रेम की लालसा मेरे अन्दर कितनी प्रबल है, यह तुमको देखकर पहले-पहल जाना है···मैंने कितनों को ठगा है, लेकिन तुमको न ठग सकूँगी।" पर यह नियति का व्यंग है कि उसने अपना नव्य एक-निष्ठ प्रेम एक ऐसे व्यक्ति को दिया जो उसको स्वीकार करने में नितान्त असहाय था। इसीलिए 'चरित्रहीन' का अन्त दुखद है, एवं किरणमयी का जीवन वेदना की मार्मिक गाथा बन गया है। नेत्रहीन के लिए ज्योति के समान उपेन्द्र उसके पास आये, परन्तु वह किसी भी प्रकार उन्हें प्राप्त न कर सकी। सुरबाला ने उसका पति-प्रेम विकसित किया, परन्तु तब तक बहुत देर हो चुकी थी।

किरणमयी का प्रेम सेक्स-रहित नहीं माना जा सकता, वरन् उसके प्रेम में तो वासना की ही प्रधानता है। वह मानती है कि 'सन्तान धारण करने के लिए जो सब लक्षण विशेष उपयोगी हैं, उनकी समष्टि का विकास ही स्त्री का स्वरूप है।···स्त्री का बाल्य-रूप मनुष्य को मुग्ध कर सकने पर भी उसे उन्मत्त नहीं कर सकता और जब वह सन्तान धारण करने की उम्र पार कर जाती है, तब फिर ठीक वही बात रह जाती है। स्त्री की ही नहीं, पुरुष की भी यही अवस्था है। तभी तक उसमें रूप रहता है, जब तक वह सन्तान पैदा कर सकता है। यह सन्तान उत्पन्न करने की योग्यता ही उसका रूप है—यौवन है। सन्तान उत्पन्न करने की इच्छा उसका प्रेम है'। किरणमयी-के चरित्र में पाशविक भावनाओं का अत्यधिक उभार उसकी अर्द्ध-दमित वासना के फलस्वरूप है। इसीलिए निर्मल प्रेम की बात उसके मन में नहीं आ सकती। स्वर्गीय प्रेम और एवं पाशविक वृत्तियों को वह एक ही वस्तु मानती है। वह प्रेम में अच्छे-बुरे का भी विभाग नहीं करती; प्रेम-मात्र स्वाभाविक एवं प्राकृतिक है, यही उसकी एक मान्यता है। 'मनुष्य जन्म लेने के बाद से जब तक अपनी देह में सृष्टि-शक्ति का संचय नहीं करता, तब तक प्रेम का सिंहद्वार उसके आगे बन्द ही रहता है। वह सिंहद्वारी प्रवृत्ति की ताड़ना से ही उन्मुक्त होता है···विश्वभर में सृष्टि का जो यह अवि-च्छिन्न खेल हो रहा है—वह रूप का ही खेल है—उसे स्वर्गीय स्वीकार नहीं करने से कुण्ठित या लज्जित होने की कोई बात नहीं है।' जैसा हम कह चुके हैं, किरण-मयी के प्रवृत्ति-प्रधान प्रेम में उच्छृंखल एवं उद्दामव ासना का यह उभार उसकी सेक्स सम्बन्धी शारीरिक एवं मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति न होने से है। इस क्षेत्र में समग्र रूप से उसका चरित्र 'हिस्टीरिक'-सा हो गया है।

प्रेम को शारीरिक वृत्ति का प्रतिरूप मानते हुए वह अपना प्रमुख तर्क देती है—"जो कोई स्वर्गीय प्रेम का उपभोग करना चाहेगा, वह इतना नहीं कह

सकता, 'मैं प्रवृत्ति की ताड़ना से परे हूँ,' प्रेम इतनी आसान चीज़ नहीं है··· जीवन का प्रत्येक अणु-परमाणु, प्रत्येक रक्तकण अपनी उत्कृष्ट परिणति में विकास पाने का लोभ संवरण नहीं कर सकता। जिस देह में उसका जन्म होता है, उस देह में उसकी परिणति की निर्दिष्ट सीमा जब पूरी हो जाती है, तब वही परिणति उसकी जवानी कहलाती है। केवल तभी वह दूसरी देह के संयोग से सार्थक होने के लिए रग-रग और नस-नस में विप्लव का जो ताण्डव नृत्य मचाती है, इसे ही पण्डित लोगों के नीतिशास्त्रों में पाशविक और घृण्य बताया गया है। इसका तात्पर्य न समझकर ही पण्डितों ने इसे घृणित कहा है, बीभत्स बताकर सन्तोष कर लिया है···कोई प्रेम कभी घृणा की वस्तु नहीं हो सकता।" इन पंक्तियों में एक ओर किरणमयी की अतृप्त वासना बोल रही है और दूसरी ओर उसकी बिखरी हुई विचार-शक्ति। वह तो प्रेम को दुर्दमनीय एवं प्राकृतिक मानती है, इसीलिए उसके भले-बुरे का न्याय नहीं हो सकता। उसके जीवन-दर्शन में भूलों के लिए पर्याप्त स्थान है। 'जब पाप दूर करने का सामर्थ्य न हो, तब यदि सहन करने की क्षमता नहीं रहेगी, तो इससे क्या सुविधा होगी ?' वस्तुतः अन्याय, अधर्म, अक्षमता को क्षमा कर प्रश्रय देना धर्म का ही अनुशासन है।

किरणमयी के चरित्र के उक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि उसके व्यक्तित्व में 'अपरिमित संयम (व्यावहारिक) और असीम अहंकार' का पर्याप्त विकास हो चुका है। इसीलिए वह ईश्वर, लोक-परलोक आदि को नहीं मानती। उसके अन्दर के इस अहं का अनुभव करके ही उपेन्द्र ने कहा था, "आप किसी से प्रेम नहीं कर सकेंगी, यह आपकी सामर्थ्य के बाहर है; आप केवल सर्वनाश कर सकेंगी।" परन्तु यह कठोर व्यंग्य है कि इतना तिरस्कृत होने पर भी वह उपेन्द्र के आसन पर कभी किसी को न बैठा सकी। और जब उपेन्द्र ने उसको प्रेम का प्रतिदान नहीं दिया तो प्रतिशोध के आवेश में वह अपने साथ दिवाकर को लेकर अराकान चल दी, जिससे उपेन्द्र भी सिर उठाकर बात करने योग्य न रह सके। इसके लिए वह दिवाकर को अपने रूप और यौवन के जादू में फँसाकर उसे धोखा देती रही; यहाँ तक कि उसे अपने साथ सोने के लिए बाध्य किया। परन्तु दिवाकर से उसने प्रेम कभी नहीं किया और न कर सकती थी। इस झूठे प्रेम-प्रदर्शन से उसके हृदय की कठोरता की भली-भाँति व्यंजना होती है। अपने कलेजे पर पत्थर रखकर ही वह दिवाकर को मन में छोटा भाई मानते हुए भी, अपने आपको विधवा बताकर—उसे अपनी ओर ललचाती रही। और यह सब उसने उपेन्द्र से अपने भग्न हृदय के प्रतिशोध के लिए किया। 'समाज के दम्भ को धक्का पहुँचाना' तो उसका आनुषंगिक उद्देश्य था। वह स्वयं स्वीकार करती है, "एक ओर मनुष्य का सर्वनाश करने का निश्चय करके ही मैंने तुम्हारा सर्वनाश

किया।" इस प्रकार हम देखते हैं कि अपनी प्रसिद्ध कविता 'उर्वशी' में कविगुरु रवीन्द्र ने नारी के जिस रूपसि-जादूगरनी स्वरूप की चर्चा की है, उसका अधिकांश हमें किरणमयी के चरित्र में मिल जाता है; परन्तु क्योंकि किरण की परिस्थितियाँ इसके लिए उत्तरदायी हैं, इसीलिए हम उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं।

जैसा हम कह चुके हैं, इतना सब हो जाने पर भी, किरणमयी को व्यभिचारिणी नहीं कहा जा सकता। अराकान में सेठ के अनेक प्रलोभनों को वह ठुकरा देती है। सतीश कहता है, "तुम कुलटा हो जाओगी यह मैं मर जाने पर भी विश्वास न करूँगा।" उपेन्द्र भी अन्त में उसके प्रेम को मानते हुए उसकी प्रशंसा करते हैं। अराकान से लौटने पर उसका चरित्र अत्यन्त मार्मिक एवं स्फटिक-सदृश निर्मल हो जाता है जैसे अँधेरे स्थान के कीचड़ में पड़ी हुई कोई मणि फिर बाहर निकाल ली जाय। उपेन्द्र को मृत्यु से बचाने के लिए वह अर्द्ध-बिक्षिप्तावस्था में आस्तिक हो जाती है। उनसे वह कहती है, "मेरे आँचल में कालीमाई का प्रसाद बँधा हुआ है, देवर ज़रा खाओगे ? आह ! कितनी रोई, कितनी तुम्हारे लिए प्रार्थनाएँ कीं, कहा—माँ काली, देवर की बीमारी दूर कर मुझे दे दो।" प्रेम में पागल एवं वेदना से विक्षुब्ध नारी का यह स्नेह पाठक के हृदय को द्रवीभूत कर देता है, और यह नियतिचक्र है कि जब उपेन्द्र अपनी अन्तिम साँस ले रहे थे उस समय 'किरणमयी उद्वेगरहित हो, गहरी नींद के खर्राटे भर रही थी।' वस्तुतः उपन्यास की यह अन्तिम पंक्ति, अपने प्रेम में असफल, अपने प्रतिशोध में असफल एवं अपने जीवन में असफल किरण के चरित्र को 'फिनिशिंग टच' देती है, जिसके बिना उसका चरित्र अधूरा रह जाता।

किरणमयी के व्यक्तित्व का इतना विश्लेषण करने के उपरान्त अब हम बहुत संक्षेप में उसके चरित्र की समस्या पर विचार करेंगे। वस्तुतः नारी का जीवन उसके प्रेम का पर्याय है। किरणमयी तीन व्यक्तियों से प्रेम करती है—सतीश एवं दिवाकर से भाई के रूप में तथा उपेन्द्र से जीवन-सर्वस्व के रूप में। पति-प्रेम का उसे अधिक अवसर ही नहीं मिलता। किरण के इस प्रेम की समग्र रूप से दो प्रमुख समस्याएँ हैं—एक है उसके प्रेम में व्यभिचार-बुद्धि, एवं दूसरी है उसके प्रेम में वासना का अत्यधिक उभार। जहाँ तक व्यभिचार-बुद्धि का सम्बन्ध है, किरण को अपने विवाहित जीवन एवं विवाहपूर्व के जीवन में कोई ऐसा व्यक्ति न मिल सका, जिसके ऊपर वह अपने हृदय की वृत्तियों को केन्द्रित कर सकती। उसका मन मरुभूमि के थके-हारे पथिक के समान हो गया है जो किसी भी हरे-भरे 'ओसिस' को देखकर, उसकी ओर बरबस बढ़ने लगता है। परन्तु किरण के हृदय की यह अस्थिरता तभी तक है जब तक वह उपेन्द्र को नहीं देखती। उपेन्द्र को देखने पर वह उन्हें आत्म-समर्पण-सा कर देती है, और अन्त तक उन्हीं की स्मृति सँजोये

रहती है। इसीलिए किरण को व्यभिचारिणी नहीं कहा जा सकता; कामिना-द्वारा वेश्या कहकर सम्बोधित होने पर वह मूर्च्छित हो जाती है। यहाँ एक बात ध्यान देने की और है; किरण सबको प्रेम नहीं कर सकती। उसके हृदय में तरलता की अपेक्षा निष्ठुरता का आधिक्य है। इसका कारण कदाचित् उसका अनुपम रूप हो सकता है। कहा जाता है कि जिन व्यक्तियों का सौन्दर्य असाधारण होता है, वे अधिक स्नेहशील नहीं होते, क्योंकि सौन्दर्य और प्रेम पर्यायवाची होते हैं, अतः जिसके पास पर्याप्त सौन्दर्य होता है उसे बाह्य सौन्दर्य की—बाह्य प्रेम की अपेक्षा नहीं होती। किरण के प्रेम की दूसरी मुख्य समस्या है उसमें वासना का उभार। इसके सम्बन्ध में पहले ही कहा जा चुका है कि वासना का यह उभार उसकी शारीरिक एवं मानसिक सेक्स-आवश्यकताओं की पूर्ति न होने के कारण है। कुछ भी हो, यह रहस्यमयी सुन्दरी प्रधानतः रूप की जादूगरनी है। नियति से उसे कोई शिकायत नहीं, अपने से उसे कोई विशेष असन्तोष नहीं।

किरण के उपरान्त उपन्यास में दूसरा महत्त्वपूर्ण चरित्र सावित्री का है। प्रधानता की दृष्टि से दोनों पात्रों में कोई अन्तर नहीं। सावित्री का चरित्र अपेक्षाकृत कम अंकित होने पर भी अधिक उभर सका है; उसका व्यक्तित्व उपन्यास में व्यंजनात्मक है। वह एक अच्छे कुल की बाल-विधवा है, जो एक दुष्ट व्यक्ति के फेर में पड़कर अपना सम्मान तो गँवा चुकी है, पर उसका सतीत्व सुरक्षित है। सतीश के प्रति असहाय प्रेम उसके चरित्र की मुख्य संवेदना है। प्रथम बार जब हमें कलकत्त की मेस में एक दासी के रूप में उसके दर्शन होते हैं, तो उपन्यासकार उसका वर्णन करता है, "एकहरा बदन था, रंग गोरा और अंग-अंग साँचे में ढले हुए-से थे। उम्र लगभग बाईस-तेईस वर्ष की होगी। लेकिन देखने से इससे भी कम मालूम होती थी।" आगे चलकर जब वह कहती है, "मेरे कोई बाबू-साबू नहीं है, मेरे बाबू तो आप—आप लोग ही हैं" तो हमें उसका सतीश के प्रति अनुराग स्पष्ट लक्षित होता है, परन्तु इस 'चरित्रहीन' के प्रति एक विशेष आकर्षण रखती हुई भी, वह उसे प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करती। वह सतीश को अपना वंश-परिचय तक नहीं बताती, यद्यपि वह स्वयं कहता है, "न तो नीचों का-सा व्यवहार है, न वैसी बातचीत और न सूरत-शक्ल ही।" आखिर अपने नौकर बिहारी से उसे यह ज्ञात हो जाता है कि वह 'भले घर की ही लड़की है'।

प्रेम का आकर्षण दोनों ओर से होता है। सतीश सावित्री को अपने अधिक निकट लाना चाहता है, परन्तु वह पास होती हुई भी दूर रहती है। जब अनायास ही वह उसके सम्मुख प्रेम का प्रस्ताव रखता है तो वह कहती है, "यह चौथी बार है। इसके पहले भी तीन महाशयों ने मुझे यही चीज देनी चाही थी···यह कूड़ा-करकट बटोरकर रखने की जगह मेरे पास नहीं है।" वास्तविक बात यह है कि इस क्षेत्र में एक बार धोखा खा जाने पर वह कुछ सचेत रहती है और फिर यदि

वह सतीश पर विश्वास कर भी ले, तो अपने को कलंकित समझती हुई अपने सम्बन्ध मे वह सतीश को नीचे नहीं गिराना चाहती । इस प्रेम में भोग से अधिक त्याग का महत्त्व है ।

सतीश सावित्री की इस मनोदशा को नहीं समझ पाता और बार-बार सोचता है, "सावित्री उसे निरन्तर क्यों खींचती है और निकट आने पर क्यों ऐसा निष्ठुर आघात कर दूर हटा देती हैं । वह भली-भाँति जानता है कि पतिता होने का कोई भी चिह्न इस मुखड़े में नहीं है, और साथ ही वह यह भी समझता कि सावित्री उसकी परम हितेच्छु है, परन्तु उसे यह ज्ञात नहीं कि सावित्री उससे प्रेम करती हुई भी उसे अपने से दूर रखकर उसकी हित-साधना में संलग्न है। किरणमयी सावित्री का पूरा परिचय प्राप्त किये बिना ही सतीश से कहती है, "वह तुमसे अधिक तुम्हारी भलाई चाहने वाली है, यह बात कभी न भूलना ।" वस्तुतः इस एक वाक्य में सावित्री के चरित्र की मूल संवेदना छिपी हुई है । और तभी सतीश का बुड्ढा नौकर बिहारी कहता है, "बेटी, तुमको एक बार देख लेने पर पशु-पक्षी भी नहीं भूल सकते ।"

सावित्री की सहानुभूति अत्यन्त गहरी एवं उसकी संवेदन-शक्ति अत्यन्त तीव्र है । वह यह नहीं चाहती कि उसके प्रेम की दृढ़ता को समझकर सतीश उसे प्राप्त करने की चेष्टा करे । वह चाहती है कि ग़लतफ़हमी में पड़ा हुआ सतीश उससे घृणा ही करता रहे । वह सतीश से कहती है कि वह एक दासी है, रुपया मात्र से ही उसका प्रेम है, किन्तु दूसरी ओर वह सब कुछ जानने वाले बिहारी से आग्रह कर जाती है कि वह बाबू को यह कभी न बतावे कि सावित्री उस समय झूठ बोली थी । प्रेमी के लिए आत्म-त्याग का ऐसा उदाहरण हमें प्रायः नहीं मिलता ।

सावित्री के चले जाने पर कभी-कभी सतीश को उसकी याद आ जाती है । वह सोचता है, "युवती रमणी का मन पाना एक बात है; किन्तु उसका व्यवहार कर सकना दूसरी बात है" किन्तु सावित्री के चरित्र का वास्तविक मूल्य तो बिहारी जानता है । सरोजिनी से वह कहता है, "मैंने उन्हें बराबर अपनी कन्या की तरह जाना है और माता की तरह उनका आदर-मान किया है । नहीं जानता किस शाप से पृथ्वी में जन्म लेकर इतना दुःख पाती हैं ? अहा वे साक्षात् लक्ष्मी-स्वरूपा हैं···सबको वे समान भाव से देखती थीं ।" आगे भी वह बताता है, "बाबू (सतीश) उन्हें इतना प्यार करते थे, तो भी उनसे ऐसे डरते थे, जैसे बाघ से बकरी डरती है···वे बड़ी तेजस्विनी थीं ।"

जिस दिन सावित्री को सतीश के घर में बैठा देखकर उपेन्द्र वापस लौट गये थे, उस दिन से उनके मन में इस अज्ञात-कुल-शील रमणी के लिए घृणा का भाव उत्पन्न हो गया था । परन्तु संयोगवश पुरी में उनकी भेंट घर की पुरानी दासी मोक्षदा से हो गयी । उसने बताया, "उस छोकरी (सावित्री) ने न जाने किन आँखों

से छोटे बाबू को देखा कि उन्होंने उसके लिए अपना सर्वस्व त्याग दिया। पर इतना करने पर भी क्या उसने छोटे बाबू को कभी अपना बदन तक छूने दिया ? कभी नहीं। छोकरी के चेहरे पर एक अपूर्व तेज़ था।" और तब चारित्रिक महत्ता के प्रतिरूप उपेन्द्र को अपनी भूल का ज्ञान हुआ। वे जान गये, 'उसे सब कोई चाहता था। जैसा रूप था, वैसा ही गुण था और वैसी ही दया-ममता भी उसमें थी।' रूप, गुण और ममता के इस संगम ने सावित्री को त्रिवेणी-सदृश पवित्र बना दिया है।

जब उपेन्द्र को सावित्री का पूरा परिचय मिल जाता है तो वे उसे अपनी बहिन मानने लगते हैं। उन्हें उसके व्यक्तित्व की दृढ़ता पर गर्व होता है। वे उसे पृथ्वी की किसी भी स्त्री से हेय नहीं मानते। वस्तुतः जो कोई उसकी छाया में आता है, उसे अन्त तक दबकर ही रहना पड़ता है।

सावित्री के चरित्र का सबसे अधिक निखार उस समय द्रष्टव्य है, जब वह सतीश को सरोजिनी के हाथों में सौंप कर उपेन्द्र भैया के साथ जाना चाहती है। उस समय वह कहती है, "मैंने बहुत दिनों से तुमको इतना दुःख दिया; किन्तु किसी तरह अपनी यह देह तुमको न सौंप सकी। पर मन तुम्हारा ही है। उस पर चिरकाल से तुम्हारा ही अधिकार है।" सावित्री अब योगिनी से वियोगिनी हो जाती है। जिस समय मरणासन्न उपेन्द्र ने सरोजिनी का हाथ सतीश को पकड़ा दिया, उस समय 'उसकी चिन्ता की, उसकी वासना की, उसके परम सुख की, चरम दुःख की, उसकी दुस्सह वेदना की आँखों के आगे ही समाधि हो गयी, किन्तु उसने गहरी साँस तक न निकलने दी।' उसका अस्तित्व अब जैसे निष्काम हो गया। उसके ऊपर अपने दो भाइयों, तथा दो बहिनों का भार छोड़कर उपेन्द्र के प्राण-पखेरू उड़ गये। निष्कलंक प्रेम एवं अपार ममता के साथ सावित्री सबकी देख-रेख करने के लिए रह गयी—जल में कमल-पत्र की तरह।

सावित्री की ही कोटि का उपन्यास में एक दूसरा व्यक्तित्व सुरबाला का है। पति-प्रेम को जीवन का सर्वस्व मानती हुई नारी का रूप अपनी प्रकृति में स्वर्गीय है। उसके ऊपर अनुशासन की कठोरता का आवरण है, परन्तु हृदय मंदाकिनी सदृश तरल है। प्रीति एवं स्नेह से निर्मित उसका चरित्र एक शान्त स्निग्धता का आभास देता है। विभिन्न पशु-पक्षी तक उसके आश्रय में स्थान पाते थे, इसीलिए उसका नामकरण 'पशुराज' अथवा 'पशु' कर दिया गया है।

पति-प्रेम उसके व्यक्तित्व की मुख्य संवेदना है। उपेन्द्र के साथ अपने सम्बन्ध को वह शाश्वत मानती है—"मैं जहाँ, जिस घर में जन्म लेती, वहाँ तुम्हें जरूर जाना पड़ता।" वस्तुतः वह प्रेम का आधार भौतिक न मानकर आत्मिक मानती है। इसलिए बाह्य रूप-रंग उसकी दृष्टि में विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं। वह दिवाकर से कहती है, "इस बात को सदा याद रखना कि दुनिया में आदमी के लिए बाहरी

सुन्दरता ही सब कुछ नहीं है। अथवा केवल सौन्दर्य-चर्चा ही विवाह का उद्देश्य नहीं है।" एक शब्द में सुरबाला 'कट्टर हिन्दू' है। यथा रीति जप-तप उसका नित्य-आचार है। उसकी काया तपःपूत है, एवं विचार-शक्ति उर्वर। उपेन्द्र के शब्दों में 'अधिक पढ़ने का तो उसे मौका नहीं मिला है; पर उसमें तर्क करने की बुद्धि वहुत सूक्ष्म है।' विश्वास, निष्ठा एवं आस्तिकता की सुदृढ़ भूमि पर ही उसका व्यक्तित्व निर्मित है। और इसी विश्वास के सम्मुख किरणमयी की प्रखर बुद्धि झुक जाती है।

एक प्रकार से सुरबाला के चरित्र में असत् प्रवेश हो नहीं पाया है। 'वह जन्म भर में झूठी बात कभी बोल ही नहीं सकती।' अपने इन्हीं आचार-विचारों के कारण वह मानस-चक्षुओं से भगवान का दिव्य दर्शन कर लेती है। किरणमयी ने, शायद चरित्र की विषमता के कारण, सुरबाला को सबसे अधिक पहचाना है। वह उपेन्द्र से कहती है, "तुम्हारी सुरबाला सती स्त्री है, और है तुम्हारी हृदय की परम पवित्रता। वह स्फटिक की भाँति स्वच्छ है और वज्र के समान कठोर।" मरते-मरते वह उपेन्द्र से फिर मिलने की आशा सँजोये रहती है। वस्तुतः सुरबाला के अंकन में शरत् की उच्च चरित्र में आस्था स्पष्ट दिखायी देती है।

'चरित्रहीन' में सरोजिनी को एक सीधी-सरल प्रेमिका के रूप में अंकित किया गया है। उसका चरित्र अपेक्षाकृत कम चित्रित होने पर भी, मर्मस्पर्शी है। 'चित्रलेखा' की यशोधरा की भाँति उपन्यास के नारी-पात्रों में मांसलता शायद सबसे अधिक उसी में है। सतीश के प्रति उसका प्रेम बसन्त के पहले फूलके समान एकाएक ही खिल उठता है। हृदय की नैसर्गिक भावना का स्वरूप सरोजिनी के व्यक्तित्व में पूरा-पूरा उभरा है। उसके पिता पश्चिमी सभ्यता के अनुयायी थे, परन्तु माँ नितान्त भारतीय रंग में रँगी है। इन दोनों का प्रभाव उसके ऊपर पड़ता है। अपनी सारी लज्जा एवं नम्रता के साथ वह आधुनिका है। उसके बाह्यावरण में उसके भारतीय संस्कार छिप नहीं गये हैं। तभी तो उसका गृहिणी वेष देखकर सतीश कह उठता है, "अहा! कैसी अच्छी लगनी हो, मानो साक्षात् लक्ष्मी हो!" वस्तुतः उसकी प्रकृति प्राच्य की है, वेष-भूषा भले ही प्रतीच्य की हो। सतीश की उच्छृंखलता को वश में करने के लिए सरोजिनी की शान्त प्रभविष्णुता ही आवश्यक है, यह बात दूरदर्शी उपेन्द्र ने भली-भाँति समझ रक्खी थी।

अघोरमयी एवं जगततारिणी में हमें जननी के दो स्वरूप दिखाई देते हैं। दोनों के नामों की ध्वनि में जितना वैषम्य है, उतना ही वैषम्य उनके चरित्रों में है। अघोरमयी का व्यक्तित्व दुर्बल एवं कुछ कलहप्रिय है, परन्तु जगततारिणी का व्यक्तित्व दृढ़ तथा शान्त है। पर वात्सल्य की मात्रा शायद दोनों नारियों में समान रूप से है।

दासियों में हमें मोक्षदा तथा कामिनी के चरित्र मिलते हैं। इन दोनों के सहारे ही उपन्यास में शिष्ट हास्य की कहीं-कहीं योजना की गयी है। पर साधारण गृहदासियों के समान निर्मल व्यक्तित्व दोनों में-से किसी का भी नहीं। 'चरित्रहीन' के नारी-पात्रों में उपेन्द्र की बहिन महेश्वरी का यत्र-तत्र उल्लेख भर है। विधवा-जीवन की सौम्यता एवं तेजस्विता उनके अन्दर अधिक नहीं मिलती।

'चरित्रहीन' में सम्पूर्ण नारी-समाज की व्याख्या करने के उपरान्त अब हम बहुत संक्षेप में उसकी समग्र रूप से विवेचना करेंगे। 'चरित्रहीन' में प्रेम का दुहरा संघर्ष है। एक नायक उपेन्द्र है, जिसकी सफल 'नायिका' सुरबाला है, एवं असफल नायिका किरणमयी। दूसरी ओर सतीश है, जिसकी सफल नायिका सरोजिनी है, तथा असफल नायिका सावित्री। उपन्यास के अधिकांश भाग में प्रेम की इन उलझनों का ही अंकन है। उसका गठन इस बात का प्रमाण है कि सेक्स सम्बन्धी सामाजिक विधि-निषेध (Sex taboos) शरत् की अत्यन्त प्रिय कथावस्तु है।

'चरित्रहीन' उपन्यासकार के प्रारम्भिक जीवन की कृति है। अतएव उसमें कथानक की वह एकरूपता तथा गठन नहीं मिलता, जो उनके उत्तरार्द्ध काल के प्रसिद्ध उपन्यास 'शेष प्रश्न' में द्रष्टव्य है। परन्तु फिर भी नारी चरित्र के एक विशिष्ट दर्शन के कारण इसका शरत्-साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। देवताओं द्वारा भी न जानने योग्य 'स्त्री चरित्र' का इसमें तथ्यात्मक अंकन है।

यहाँ हमें किरणमयी के माध्यम से शरत् के कृतित्व के ऊपर लगाये जाने-वाले एक प्रसिद्ध आरोप पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिए। प्रायः कहा जाता है कि अपनी रचनाओं में शरत् ने पतित नारियों को बहुत ऊँचा स्थान दिया है, 'चरित्रहीन' की किरणमयी इसका ज्वलन्त उदाहरण है। परन्तु वास्तविक बात यह है कि उक्त आक्षेप दूर से ही संगत प्रतीत होता है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो स्पष्ट जान पड़ेगा कि शरत् ने अपने जीवन-दर्शन में नारी के असत् स्वरूप को कहीं भी प्रश्रय नहीं दिया है, उसके प्रति सहानुभूति भले ही प्रकट की हो। 'चरित्रहीन' में ही, किरण के प्रति हमारी सहानुभूति जाग्रत होती है, उसके 'अनैतिक' कार्यों के प्रति नहीं। उसकी व्यभिचार-बुद्धि के पीछे एक निश्चित सामाजिक कारण है, जिसे दूर कर देने पर शायद एक सुधारक की दृष्टि में उसका चरित्र इतना नीचे न गिरता। परन्तु आगे चलकर 'शेष प्रश्न' में तो एकनिष्ठ प्रेम को नितान्त निराधार सिद्ध किया गया है। इसका समाधान सामाजिक न होकर पूर्णतः मनोवैज्ञानिक है। आशु बाबू कहते हैं, "स्रोत के खिचाव से कौन कब पास आ जाता है और कौन कब दूर चला जाता है, इसका हिसाब कोई भी नहीं जानता है।"

अस्तु, शरत् ने अपनी रचनाओं में पाप के प्रति कहीं भी सहानुभूति प्रकट नहीं

की है। 'चरित्रहीन' में प्रेम की पवित्रता के ही कारण उपन्यासकार ने सावित्री को किरणमयी से ऊँचा उठाया है। किरण यदि हमारी सहानुभूति जाग्रत करती है तो सावित्री हमारी श्रद्धा। किरण एवं सुरबाला की तुलना के समय भी सुरबाला ही हमें महिमामयी दिखायी देती है। सुरबाला के सुदृढ़ विश्वास के सम्मुख किरण को स्वयं झुकना पड़ता है। नारी का पतित-स्वरूप शरत् की समवेदना का विषय हो सकता है, आदर का नहीं।

पण्डितजी

(पण्डित मॉशाइ)

भोग से अधिक त्याग को महत्त्व देने वाले प्रेम का अंकन 'पण्डितजी' के कथानक की प्रमुख विशेषता है। शरत् की इस कृति में दाम्पत्य-रति एवं वात्सल्य-रति दोनों का ही पर्यवसान समाज की शैक्षणिक उन्नति के प्रयत्न में दिखाया गया है। ग्राम-शिक्षा सम्बन्धी रचनात्मक कार्यक्रम एवं समाजोत्थान के अन्य उपायों पर अपने सीमित कलेवर में यह उपन्यास पर्याप्त प्रकाश डालता है। इस क्षेत्र में शरत् का यह सम्भवतः प्रथम महत्त्वपूर्ण प्रयास है। यहाँ अपनी सेक्स सम्बन्धी सामाजिक विधि-निषेधवाली प्रिय कथानक वस्तु से ऊपर उठकर वे समाज के उस धरातल पर आये हैं, जहाँ जन-जीवन का एक व्यापक रूप हमें देखने को मिलता है। 'पण्डितजी' में उन सभी ग्राम-समस्याओं पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डाला गया है, जो हमारे देश के अधिकांश भाग पर बुरी तरह से छाई हुई हैं। सामाजिक ऊँच-नीच की समस्या, ग्रामीण महामारियों की समस्या, शिशु-शिक्षा की समस्या तथा पारिवारिक विषमता की समस्या ने इस उपन्यास में ताने-बाने का रूप धारण किया है। सामयिक वातावरण के प्रति जागरूक रहने वाले कलाकार शरत् ने अपनी इस कृति में व्यक्ति की रागात्मिका वृत्तियों को समाज के हित में समीकृत होते दिखाया है।

'पण्डितजी' की मूल कथावस्तु इस प्रकार है—कुसुम बाड़ल ग्राम के ज़मींदार वृन्दावन की परित्यक्ता पत्नी है। अपने सीधे-सादे भाई कुंज के साथ वह बड़ी निर्धनता से किसी प्रकार जीवन-निर्वाह करती है। एक दिन अपने प्रथम यौवन में प्रविष्ट कुसुम को वृन्दावन ने कुएँ पर पानी भरते देखा। उसके रूप-शील पर वे सहसा ही मुग्ध हो गये। अपनी माँ की सम्मति पर वे उसे फिर घर वापस लाने की चेष्टा करने लगे, परन्तु अभिमानिनी कुसुम इसके लिए तैयार न हुई, यद्यपि मन ही मन वह भी अपने स्वामी वृन्दावन की ओर आकर्षित हो चली थी। वृन्दावन की दूसरी पत्नी से उत्पन्न मातृहीन शिशु चरण कुसुम के सूने जीवन का सहारा हो गया। प्रायः एक-आध सप्ताह के लिए वृन्दावन उसे कुसुम के पास छोड़ जाते थे।

बाड़ल में विसूचिका का आक्रमण हुआ। महामारी के डर से बालकों को पढ़ाकर मन लगाने वाले पण्डितजी---वृन्दावन चरण को कुसुम के पास रखने के लिए ले गये। कुसुम ने सुन रक्खा था कि उसके पति अब तीसरा विवाह करने वाले हैं, इसी अपमान के कारण उसने चरण को ऐसे संकट-काल में भी अपने पास रखना अस्वीकार कर दिया। निराश-मन वृन्दावन वापस घर लौट आये। कुछ दिन के उपरान्त उनकी माँ विसूचिका का शिकार हुई। तत्पश्चात् चरण भी बीमार पड़ा। डाक्टर ने उसके रोग को असाध्य बता दिया। सब समाचार जान कर कुसुम अपने भाई की ससुराल से दौड़ी आयी और अपने जीवनाधार चरण की परिचर्या करने लगी, परन्तु इससे कुछ न हो सका और अन्ततः वह निरीह शिशु भी चल बसा। वृन्दावन का मन इससे बहुत विरक्त हो गया। उन्होंने अपनी सारी देवोत्तर सम्पत्ति ग्राम-सुधार के लिए अर्पित कर दी, और अपनी पत्नी कुसुम को साथ लेकर भिक्षुक के वेष में बाड़ल से चले गये।

'पण्डितजी' में शायद प्रथम बार शरत् ने नारी-हृदय का समन्वित रूप रखा है। उनकी पूर्व की कृतियों में या तो वात्सल्य की व्यंजना मिलती है—जैसे, 'रामेर सुमति' एवं 'बिंदुर छेले' में, अथवा केवल दाम्पत्य भाव का ही अंकन मिलता है—जैसे, 'चन्द्रनाथ' और 'विराज बहू' में। परन्तु 'पण्डितजी' की कुसुम में नारी-हृदय के दोनों पक्षों—वात्सल्य एवं दाम्पत्य का उचित समीकरण हुआ है। इसीलिए उसका व्यक्तित्व उपन्यासकार के सामान्य नारी पात्रों के व्यक्तित्व की भान्ति अधिक कोमल एवं सजल न होता हुआ भी, पर्याप्त रूप से स्वाभाविक है। भावुकता से ऊपर उठकर उसमें दृढ़ता का समावेश है। कुमारी अथवा विधवा न होकर कुसुम परित्यक्ता है, और इस प्रकार नारी-हृदय का कदाचित् सबसे बड़ा अभिशाप—सबसे बड़ी वेदना उसके हिस्से में आ पड़ी है।

कुसुम की बाल्यावस्था का इतिहास इतना भद्दा है कि उसका स्मरण कर वह लज्जा से गड़ जाती है। पाँच बरस की होने पर उसका विवाह हुआ, किन्तु बाद में उसकी विधवा माँ की बदनामी सुनने पर ससुर ने उसका परित्याग कर दिया। कुसुम की माँ ग़रीब होने पर भी अभिमानिनी थी। वह उसे कण्ठी बदलवाने के लिए एक वैरागी के पास ले गयी, किन्तु वस्तुतः उसकी कण्ठी बदली नहीं गई। वह वैरागी नित्य-धाम सिधार गया पर यह कोई न जान सका कि कुसुम की कण्ठी उसके साथ बदली गयी थी या नहीं। अस्तु, माँ की मृत्यु के उपरान्त दुखिया कुसुम बड़ी होने पर अपने आपको विधवा समझने लगी।

'अब वह सोलह वर्ष की युवती है। रूप उसके अंग-अंग से फूटा पड़ता है। उसमें गुण भी वैसे ही हैं और काम-काज करने में भी वह वैसी ही चतुर है, और फिर, लिखना-पढ़ना भी जानती है।' यही सब देखकर वृन्दावन उसे फिर ग्रहण करना चाहते हैं। किन्तु कुसुम अपनी मूल प्रकृति में स्वाभिमानिनी है। निर्धन-

अवस्था में रहते हुए भी वह प्राचीन अपमान को न भूल सकने के कारण वृन्दावन के घर सुख-भोग के लिए नहीं जाना चाहती। अपने भाई के इस प्रस्ताव को वह यह कहकर अस्वीकार कर देती है 'मुझे भी क्या तुमने कुत्ता, बिल्ली समझ रखा है कि जो इच्छा होगी वही कर गुजरूँगी! उधर ब्याह और इधर कण्ठी-बदली! अब फिर ब्याह हो और फिर कण्ठी-बदली!' बेचारा कंज अपनी शिक्षिता, तेजस्विनी बहिन के आगे सिटपिटा जाता है।

यहीं से कुसुम के हृदय में संघर्ष का प्रारम्भ होता है। उनकी रागात्मिका वृत्ति उसे वृन्दावन की ओर खींचती है, किन्तु उसका अभिमान उसे रोकता है; उसके मन में निर्धनता की हीनता-ग्रन्थि भी छिपी हुई है। वह कुंज को वृन्दावन के यहाँ जाने से रोकती है—'वे लोग ठहरे बड़े आदमी और हम हैं ग़रीब! हमें उनसे ज्यादा मेल-जोल बढ़ाने की ज़रूरत ही क्या है!'

कुसुम अपने भाई कुंज को बड़ी स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखती है। उससे छोटी होने पर भी वह उस पर शासन रखती है। कभी-कभी अप्रसन्न हो जाने पर भी, वह उसके लिए सदैव चिन्तातुर रहती है। उसके गृहिणीस्वरूप की सारी अधिकार-वृत्तियाँ कुंजनाथ पर केन्द्रित हैं। कुंज का विवाह हो जाने पर भाई-बहिन के इस पारस्परिक प्रेम में अवश्य कुछ व्यवधान पड़ता है, किन्तु थोड़े समय के बाद उनके सम्बन्ध फिर पूर्ववत् हो जाते हैं।

कुसुम वृन्दावन से सहज संस्कारवश प्रेम करती है, किन्तु उनके यहाँ जाना नहीं चाहती। मूल रूप से इसके दो कारण हैं—एक तो यह कि अपने अल्पबुद्धि भाई को अकेला छोड़ने में वह असमर्थ है, और दूसरे वह अपनी प्रकृति से अभिमानिनी है। जिस स्थान से एक बार उसे तिरस्कृत कर दिया गया, उस जगह फिर जाने के लिए उसका अन्तःकरण स्वीकृति नहीं देता। इसीलिए वृन्दावन के प्रति उसका प्रेम, उसके अभिमान से दब जाता है, यद्यपि अपनी माँ तथा भाइयों सहित आये हुए वृन्दावन के लिए वह सिर काट कर पकाने के लिए तैयार है। अपने स्वजनों के अतिथि-सत्कार का अवसर उसकी आदिम गृहिणी मनोवृत्ति को जाग्रत कर देता है।

कुसुम की प्रकृति में क्रोध के लिए शायद कुछ अधिक स्थान है। वृन्दावन के शब्दों में, 'बुद्धि की अपेक्षा क्रोध कहीं अधिक है।' फिर भी अपने अवचेतन के आग्रह से वे उसका शासन उसके सम्मुख स्वीकार कर लेते हैं। शरत् द्वारा अक्षय एवं युग-युगान्तर से चले आने वाले प्रेम को दी गयी मान्यता 'पण्डितजी' में भी द्रष्टव्य है। इसीलिए अलग हो जाने पर भी कुसुम और वृन्दावन एक-दूसरे के आकर्षण का बराबर अनुभव करते रहते हैं। प्रेम की यह अदृश्य एवं स्वर्गीय शक्ति शरत् की अधिकांश रचनाओं की मूल संवेदना है।

वृन्दावन की माँ के हृदय में कुसुम के लिए कोमलतम स्थान सुरक्षित है।

उनका निर्णय है, "अभी यह तो नहीं कह सकती कि वह बिलकुल खरा सोना है, पर यह बात निश्चयपूर्वक कह सकती हूँ कि पीतल नहीं है, मुलम्मा नहीं है।" किसी भी प्रकार की अतिशयोक्ति से हीन माँ का यह वाक्य कुसुम के चारित्रिक मूल्य पर पर्याप्त प्रकाश डालता है किन्तु प्रभविष्णु न होते हुए भी कुसुम का चरित्र प्रभावोत्पादक है, इसे कोई अस्वीकार नहीं करता। "किसी-किसी की राशि ही भारी होती है वृन्दावन ! उससे बिना डरे काम ही नहीं चलता, चाहे आदमी उमर में उससे बड़ा ही क्यों न हो। हमारी बहू भी उसी धातु की बनी है, बहुत ही शान्त फिर भी सख्त।" शान्त एवं सख्त—कुसुम के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते समय उसके यही दो मूल तत्त्व हमारे सम्मुख आते हैं। वस्तुतः ये दोनों पंक्तियाँ मिलकर कुसुम के चरित्र की बड़े पूर्णरूप से व्याख्या करती हैं। उसकी राशि भारी होने के कारण ही उसके सम्मुख सबको दबना पड़ता है।

कुसुम के व्यक्तित्व मे दूरदर्शिता एवं सूक्ष्म बुद्धि का कुछ अभाव जान पड़ता है। वह वृन्दावन के प्रेम के साथ ही साथ माँ के निर्मल स्नेह को भी पहचानने में असमर्थ है। असफल वैवाहिक सम्बन्ध की प्रतिक्रिया मन में रहते हुए भी उसे साधारण विवेक से हीन नहीं होना चाहिए। अज्ञात रोष की भावना के आवेश में वह माँ के द्वारा दिये हुए कड़ों एवं आशीर्वाद को अपने नासमझ भाई के हाथ लौटा देती है, और जिसका बाद में उसे सदैव पश्चात्ताप रहता है। भीषण महामारी के डर से आये हुए चरण को वह अपने पास रखना स्वीकार नहीं करती, जिसका मूल्य उसे अपने वात्सल्य से देना पड़ता है। इस प्रकार प्रत्युत्पन्न-मति का उसमें अभाव ही कहा जायेगा। उसमें क्रोध अधिक है, क्षमा का अंश नहीं के बराबर है। इस क्षेत्र में वात्सल्य का प्रभाव उसे सदय नहीं बना पाता, उसका तृषित मातृ-हृदय करुणा से अभिभूत नहीं हो उठता।

शरत् के प्रतिनिधि नारी-पात्रों की भाँति कुसुम भी अनुपम सौन्दर्यशालिनी है किन्तु जितना उसमें रूप है, उतनी उसमें क्षमा एवं दया नहीं। 'स्त्रियो के लिए सबसे बड़ी सीखने की बात है क्षमा करना, सो उसने नहीं सीखा।' वृन्दावन को मन-ही-मन अपना मानती हुई भी वह उनके आमन्त्रण को बार-बार अस्वीकार कर देती है; वह स्वामी के घर 'अभिमानपूर्वक' जाना चाहती है। उसका गर्व उसके स्नेह को पराभूत कर डालता है। यदि वह क्षमा करना जानती होती तो अपने पति, अपने भाई एवं अपनी सास पर वह विजय प्राप्त कर लेती, किन्तु उसके मानसिक संस्थान ने ऐसा होने नहीं दिया। वह सोचती है कि वृन्दावन के प्रति उसके हृदय में जो भाव उत्पन्न होते हैं, वे एक हिन्दू कन्या के हृदय में केवल पति के लिए उत्पन्न होने वाले भाव हैं, किन्तु अपमान की ज्वाला, विधवा होने की विडम्बना एवं प्रकृति में क्रोध का आधिक्य उसे उसके स्वामी से अलग कर देता है। और अन्त में वृन्दावन से उसका मिलन तभी होता है, जब पति एवं

पुत्र के अभाव ने उसके हृदय को एकदम निर्मल बना दिया है।

परन्तु इतना सब होने पर भी कुसुम के मन में नारी-सुलभ लज्जा एवं पति-प्रेम का पूरा-पूरा अधिकार है। वृन्दावन के तीसरे विवाह की योजना में जब उसका भाई बाधा डालना चाहता है तो वह इसके लिए मना करती है। और उसकी चिर-परिचित हठ के सामने कुंज को दबना ही पड़ता है। ऐसा जान पड़ता है कि 'पण्डितजी' की कुसुम के ऊपर 'चरित्रहीन' की किरणमयी के यथार्थवादी अंकन का एक संयमित प्रभाव अवश्य पड़ा है। अपने तीव्र व्यक्तित्व में वह विराज बहू का विकसित स्वरूप है। विराज का चरित्र आदर्शवादी है, किन्तु कुसुम का चरित्र सामान्य और शायद अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक है। शरत् के इस रचना-काल में नारी का दाम्पत्य स्वरूप उतना उज्ज्वल नहीं रह जाता, जितना वह पहले था। पुरुष के प्रति आत्मसमर्पण का आवेग उसमें कम हो जाता है। एक ओर उस में विराज के व्यक्तित्व की तीव्रता बढ़ गयी है और दूसरी ओर उसमें विराज की उत्कट पतिभक्ति कम हो गयी है। शेखर के दूसरे विवाह की चर्चा सुनकर 'परिणीता' की ललिता मौन रहती है, किन्तु वृन्दावन के दूसरे विवाह की योजना ज्ञात होने पर 'पण्डितजी' की कुसुम के हृदय में ईर्ष्या की ज्वाला भड़क उठती है, जिसे वह छिपा कर नहीं रखती, वरन् चरण के माध्यम से वृन्दावन पर भी प्रकट कर देती है। सामान्य मानव-सुलभ कमज़ोरियों का नारी-हृदय में समावेश शरत् ने अपनी रचनाओं के इस द्वितीय युग में बड़ी कुशलता के साथ किया है। इसके बाद तो उनके उपन्यासों में नारी के भारतीय आदर्शात्मक रूप एवं उसके पाश्चात्य यथार्थवादी ढाँचे में बराबर संघर्ष होता दिखायी पड़ता है, जिसमें कभी एक पक्ष विजयी होता है, कभी दूसरा पक्ष और कभी दोनों में समन्वय की भी चेष्टा दृष्टिगत होती है। 'शेष प्रश्न' में यह द्वन्द्व अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है।

जब बाद में कुसुम को ज्ञात होता है कि वस्तुतः उसकी कण्ठी किसी वैरागी से नहीं बदली गयी, तो उसकी विधवा होने की लज्जा मिट जाती है। फिर उसे अपने वात्सल्य के आधार चरण की बीमारी की सूचना मिलती है, और वह बेसुध होकर अकेली दौड़ती हुई अपने पति के घर पहुँचती है। यहाँ पर उसकी चारित्रिक दृढ़ता सचमुच ही दर्शनीय है। वह अविचलित होकर चरण के मृत शरीर को श्मशान भिजवा देती है। अब जैसे उसका जीवन निष्काम हो गया हो। अपने पति के साथ, भारतीय त्याग के आदर्श का अनुकरण करती हुई वह भिक्षुणी के वेष में देशाटन के लिए चली जाती है।

कुसुम के अतिरिक्त 'पण्डितजी' में दूसरा प्रमुख नारी-चरित्र वृन्दावन की माँ का है। स्त्री के जननी-स्वरूप के सम्बन्ध में शरत् की कुछ निश्चित धारणाएँ-सी जान पड़ती हैं। उनकी रचनाओं में माँ का व्यक्तित्व सौम्य एवं संयमित,

शान्त एवं दृढ़ तथा अपार स्नेह से अभिभूत है। नारायणी, भुवनेश्वरी, हेमांगिनी एवं दयामयी जैसे चरित्र नारी के उज्ज्वल स्वरूप की उद्भावना करने वाले हैं; उनका व्यक्तित्व महिमामय है। 'पण्डितजी' में वृन्दावन की माँ भी इसी वर्ग की एक जननी हैं। परम वैष्णव की भाँति उनके हृदय में सबके लिए कोमल स्थान सुरक्षित है।

उपन्यासकार के शब्दों में, "वृन्दावन की माँ निम्न श्रेणी की साधारण स्त्रियों के समान नहीं थीं। वह बहुत समझदार थीं।" वस्तुतः एक ओर उनका विवेक अत्यन्त सूक्ष्म है, और दूसरी ओर उनका हृदय अत्यन्त भावुक। 'उन्हें ज़रा-सी भी बात बहुत लगती है।' बुद्धि एवं भावना के संयोग से ही उनका व्यक्तित्व इतना उज्ज्वल, इतना कोमल बन सका है। 'शान्त' एवं 'संन्यासिनी' जैसे विशेषण इस भगवद् भक्ति में अनुरक्त महिला के लिए नितान्त उपयुक्त हैं, जो भीषण महामारी के समय भी अपने ठाकुरजी को छोड़कर नहीं जा सकती। उनका विवेक कुसुम के वास्तविक मूल्य की परख करता है, और उनका हृदय वृन्दावन को दूसरा विवाह करने से रोकता है। वे कुसुम को ही अपनी पुत्रवधू के रूप में चाहती हैं। कठोर-से-कठोर अपराध को भी उन्होंने उसके लिए क्षमा कर दिया है। मानसिक या शारीरिक, किसी भी प्रकार का कष्ट वे किसी को नहीं देना चाहतीं। उनके चरित्र की प्रभविष्णुता का आभास हमें कलह-प्रिय कुंज की सास के वार्तालाप से मिलता है।

वृन्दावन की माँ की ठीक दूसरी दिशा में कुंज की सास का व्यक्तित्व आता है। उनका स्वभाव कड़ा, रूखा तथा परछिद्रान्वेषी है। अशिक्षिता होने के साथ ही साथ वह अप्रियवादिनी भी है। दूसरे की भावनाओं का उसे तनिक भी ध्यान नहीं। वह मिथ्याडम्बरप्रिय एवं अहंवादिनी है। दूसरे की उन्नति या भलाई में उसे रुचि नहीं है, और इस ईर्ष्या के कारण ही उसे प्रायः कलह का सहारा लेना पड़ता है। कुसुम के साथ तो, उसने कभी भी अच्छा व्यवहार नहीं किया, वह सदैव उसे दासी समझती रही। अपनी लड़की को भी वह कुसुम से अच्छी तरह बात करते नहीं देख सकती। कुंज के ऊपर तो उसने पहले ही अपना धन-बल जमा दिया है। व्रजेश्वरी स्पष्ट कहती है, "माँ, तुम्हारी जैसी दो-चार वैष्णव स्त्रियों की कृपा से तो जी चाहता है कि हम लोग अपने आपको डोम, चमार, मोची कहा करें।"

कुंज की पत्नी व्रजेश्वरी उपन्यास में पार्श्व-चरित्र मात्र है। उपन्यासकार के शब्दों में, "वह जैसी मुखरा है वैसी ही कलह-पटु। वह अभी पूरे पन्द्रह वर्ष की भी नहीं हुई है, पर उसकी बातचीत के ढँग और उसके विष की जलन से उसकी माँ को भी हार मानकर आँसू बहाने पड़ते हैं।" पर यह एक आश्चर्यजनक बात है कि इतनी कटु प्रकृति की व्रजेश्वरी भी, अपनी माँ का विरोध करती

हुई, कुसुम को हृदय से प्यार करती है। वह इस निरीह, दुःखिता नारी की शुभेच्छु है। स्वयं पति-प्रेम में प्रवृत्त व्रजेश्वरी कुसुम से आग्रह करती है कि वह वृन्दावन के यहाँ जाना स्वीकार कर ले। सच तो यह है कि न जाने किस अज्ञात शक्ति के वश में होकर व्रजेश्वरी का सारा विष कुसुम के लिए अमृत बन जाता है।

मँझली बहिन
(मेजदिदि)

शरत् के कृतित्व में 'रामेर सुमति', 'बिन्दुर छेले' एवं 'मेजदिदि' की एक ऐसी अनुपम त्रिवेणी है, जिसे पाकर संसार का कोई भी कथा-साहित्य गौर-वान्वित हो सकता है। इन तीनों कहानियों की मूल संवेदना लगभग एक ही हैं, कलात्मक सूक्ष्मता भी प्रायः एक कोटि की है, किन्तु फिर भी उनके वातावरण में सुस्पष्ट विभिन्नता है। नारायणी, बिन्दो और हेमांगिनी के चरित्र समान भाव-धारा से अनुप्राणित हैं, पर उनके व्यक्तित्व अलग-अलग हैं। इन तीनों गल्पों में, किसी एक की अपेक्षाकृत श्रेष्ठता भी प्रतिपादित नहीं की जा सकती। नारी का वात्सल्यपरक स्वरूप अपनी सारी महिमा के साथ इन कहानियों में अंकित हुआ है, और उनका कथा-विधान शरत् की उच्चतम 'टेकनीक' का नमूना है। इसी-लिए इन तीनों रचनाओं का ध्येय पाठक के हृदय को एक ही भाव-लोक में ले जाने का है, किन्तु वहाँ तक पहुँचाने के लिए तीनों के मार्ग कुछ भिन्न-भिन्न हैं। नारी के वात्सल्यपरक स्वरूप पर शरत् की श्रद्धा कदाचित् सर्वाधिक है, अतः उसी के अंकन में उनका कलात्मक निखार भी अपनी चरम-सीमा पर पहुँचता है। नारायणी, बिन्दो एवं हेमांगिनी के चरित्र इसके साक्षी हैं।

'मँझली बहिन' का कथानक उतना ही सीधा और सरल है, जितनी उसकी कला। कहानियों के विधान में यह सरलता कितनी हृदय-ग्राहिणी होती है, यह सर्व-विदित है। परिवारविहीन, चौदह वर्ष का बालक किशन अपनी स्नेहशीला जननी के देहान्त के बाद आश्रय की खोज में अपनी सौतेली बहिन कादम्बिनी के पास पहुँचता है। उसकी कठोर प्रकृति की बहिन बड़ी कठिनाई से उसे अपने यहाँ रहने के लिए स्थान देती है। दोनों समय के रूखे-सूखे खाने के लिए किशन को जी-तोड़ परिश्रम करना पड़ता है और इतने पर भी बहिन का तिरस्कार और मार-पीट उसका पीछा नहीं छोड़ती। अपने अपराधों के लिए उसे प्रायः भूखा रहना पड़ता है। अगर ममता के वातावरण में पले हुए किशन का बाल-हृदय किसी प्रकार इन अत्याचारों का अभ्यस्त हो जाता है।

कादम्बिनी की देवरानी हेमांगिनी का हृदय अत्यन्त कोमल तथा वात्सल्यपूर्ण

है। वह अनाथ किशन के इन कष्टों को देख न पाती और उसकी मँझली बहिन बनकर यथासम्भव उसे स्नेह तथा मातृ-सुख का दान देती है। स्वभावतः ही कादम्बिनी को यह सब अच्छा नहीं लगता और इसी बात को लेकर देवरानी एवं जिठानी में प्रायः कलह हो जाया करती है। हेमांगिनी पति से आग्रह करती है कि वे किशन को अपने साथ रखें, किन्तु विपिन अपने बड़े भाई से और मनमुटाव नहीं करना चाहते। अन्ततः पति, जेठ तथा जेठानी के अत्यन्त विरोध करने पर भी स्नेह की शक्ति विजयिनी होती है, और हेमांगिनी किशन को अपनी तीसरी सन्तान मानकर अपने पास ही रख लेती है। पारिवारिक जीवन के सुखद दृश्य की अवतारणा के साथ कहानी का अन्त हो जाता है।

सम्पूर्ण गल्प में केवल दो ही नारी-पात्रों का अंकन हुआ है। कादम्बिनी एवं हेमांगिनी दोनों के चरित्र कथानक में सामान भाव से प्रतिष्ठित हैं। पारस्परिक तुलना में उनके व्यक्तित्व और भी उभर जाते हैं। गार्हस्थिक जीवन के कुशल शिल्पी शरत् ने इन दोनों गृहणियों के चरित्रों का निर्माण ही नहीं किया, वरन् उनमें प्राण-प्रतिष्ठा भी की है। उनके व्यक्तित्व जैसे पुस्तक के पृष्ठों से बाहर निकल आये हैं। दैनिक जीवन में कादम्बिनी एवं हेमांगिनी के प्रतिरूप अनेक मिल सकते हैं, परन्तु उन्हें दो निश्चित वर्गों का अलग-अलग प्रतिनिधि बनाकर साहित्यिक संवेदना में रँगना, शरत् की ही कला है।

'सुमति' तथा 'बिन्दो का लल्ला' की भाँति 'मँझली बहिन' में भी वात्सल्य एवं करुणा का संयोग हुआ है। किशन की सौतेली बहिन कादम्बिनी उसका सब प्रकार से तिरस्कार करती है, किन्तु दूसरी ओर हेमांगिनी जिसका उससे कोई भी सम्बन्ध नही है, उसके साथ बड़ा स्नेहपूर्ण व्यवहार करती है। इन विपरीत भावनाओं के संघर्ष में ही उक्त दोनों रसों की सृष्टि होती है, जिससे पाठक का मन करुणा से ओत-प्रोत हो उठता है।

कादम्बिनी के चरित्र का विश्लेषण हम पहले करेंगे। कादम्बिनी किशन की सौतेली बड़ी बहिन है और अपने पति-गृह में धन-सम्पत्ति का पूरा उपभोग करती है। पर उसकी रागात्मक वृत्तियाँ अपने परिवार तक ही सीमित हैं। उसकी अत्यधिक कठोर प्रकृति का परिचय हमें सर्वप्रथम तभी मिल जाता है, जब उसका अनाथ भाई किशन उसके घर आश्रय के लिए पहुँचता है। वह उसका स्पष्ट तिरस्कार करती हुई, रास्ता दिखाने के लिए आये हुए बूढ़े को लक्ष्य करके कहती है, "खूब मेरे सगे को बुला लाये हो, रोटियाँ तोड़ने के लिए।" इन शब्दों से उसकी कठोर प्रकृति के साथ-साथ उसकी कटु वाणी का भी परिचय मिलता है। अपनी सौतेली माँ के लिए वह कहती है, "पिता जो कुछ धन-सम्पत्ति छोड़ गये थे सभी तो कलमुँहीं ने इसके पेट में ठूंस दी है। मुझे तो एक कानी कौड़ी भी न

दी ।" मृत जननी के प्रति कादम्बिनी का यह तिरस्कार कितना असत्य है, यह समझने के लिए हमें जानना पड़ेगा कि उसके पिता की धन-सम्पत्ति के नाम सिर्फ़ एक मिट्टी की झोंपड़ी और उसके पास ही जँबीरी नींबू का एक पेड़ भर था; उसी झोंपड़ी में बेचारी विधवा किसी तरह सिर छिपाकर रहा करती और नींबू बेचकर किशन की स्कूल की फीस जुटाती ।

किशन के आगमन से कादम्बिनी का मन और भी असन्तुलित तथा असंयमित हो गया है । लोक-मर्यादा के भय से किसी प्रकार वह अपने इस अनाथ भाई को आश्रय दे तो देती है, किन्तु उसका तिरस्कार करने के लिए वह सदैव तत्पर है। 'मर, क्या पागल और बहरा है ?' जैसे वाक्यों से किशन का अभिनन्दन प्रायः ही हुआ करता है ।

कादम्बिनी की इस कटु प्रकृति का एक कारण यह है कि उसके लिए संसार में पैसे से बढ़कर और कुछ भी नहीं। पैसे के लिए वह सबका अपमान कर सकती है, तथा पैसे के लिए ही वह दूसरे का तिरस्कार भी सह सकती है। वस्तुतः उसकी प्रकृति में भौतिकता के परमाणु पर्याप्त विकृतावस्था में पहुँच चुके हैं। क्रोध-जैसा मानसिक विकार उसके दैनिक व्यवहार का स्थायी अंग है । 'वह उन लोगों में से नहीं, जिनका गुस्सा किसी को चुप रहते देखकर कम हो जाता है ।' इसीलिए उसकी झगड़ा करने की प्रवृत्ति सदैव उत्तेजित रहती है। कलह ने उसके जीवन में सदा के लिए अपना घर बना लिया है।

कादम्बिनी की विपरीत दिशा में हेमांगिनी का चरित्र है। वह शहर की लड़की है और दास-दासी रखकर, चार आदमियों को खिला-पिलाकर ठाट से रहना पसन्द करती है । वह पैसा बचाकर ग़रीबी चाल से नहीं रहती, इसीलिए कुछ दिन पहले दोनों परिवार अलग हो गये थे। हेमांगिनी चाहती है कि किसी प्रकार दोनों देवरानी-जिठानी में मनोमालिन्य मिट जाय, परन्तु ऐसा करने के प्रयत्न में कलह की मात्रा कुछ और बढ़ जाती है।

हेमांगिनी का हृदय अत्यन्त कोमल तथा सरल है। अनाथ किशन का प्रथम बार कुण्ठित, भीत और असहाय मुख देखकर उसका कलेजा हिल जाता है। वह तभी से उसे अपना लेती है। उसका व्यापक वात्सल्य किशन की रक्षा का साधन बन जाता है। उसके अन्दर का मातृत्व सीमित एवं संकुचित न होकर पर्याप्त रूप से विस्तृत है, और इसीलिए 'मँझली चाची को सभी बाल-बच्चे प्यार करते हैं।' वह किशन से कहती है "देख किशन, तू अपनी मँझली बहिन से कभी कोई बात मत छिपाना । जब जिस चीज़ की ज़रूरत हो, चुपचाप यहाँ आकर माँग लेना ।" इस स्नेह एवं ममता के कारण ही उसका जीवन इतना सजल, इतना सरल हो गया है। वह आगे भी कहती है, "भाई, तुझे मेरे सिर की सौगन्ध है,

आज से मुझे अपनी मरी हुई माँ की जगह ही समझना।" वस्तुतः हेमांगिनी के वात्सल्य का आलम्बन स्वयं किशन ही नहीं, वरन् कोई भी बालक हो सकता है। उसके जननी-रूप में मोह-माया तथा दया का पूरा-पूरा निखार हुआ है।

हृदय की सरलता एवं निष्कपटता के कारण ही हेमांगिनी अत्यन्त स्पष्ट-वादिनी है। इसीलिए अपनी जिठानी को वह 'निष्ठुर' एवं 'बेहया' कहने में नहीं झिझकती। उसके विचार उसकी वाणी के साथ एकाकार हो गये हैं तथा दृढ़ता उसके चरित्र में घुल-मिल गयी है। अनाथ किशन के लिए वह अपने पति, जेठ तथा जिठानी का सारा आक्रोश सह लेती है, किन्तु उसे छोड़ती नहीं। बीच-बीच में अवश्य वह उससे झुंझलाकर कह देती है, "अब तू यहाँ मत आना, जा।" और कभी-कभी तो अपने पति के रोष के कारण वह उसे घर से बाहर निकलवा देती है, किन्तु वह फिर शीघ्र ही अनुभव करती है 'वह बेचारा बहुत ही दुखी है। उसके माँ-बाप नहीं हैं। वे लोग उसे मार डालते हैं और यह मुझसे अपनी आँखों से देखा नहीं जाता।' उसका किशन के प्रति प्रेम पहाड़ी झरने की निर्मल-धारा के सदृश है, जो मार्ग में पत्थरों के अवरोध के कारण और भी तीव्रता से बहने लगता है। अपनी चारित्रिक दृढ़ता के कारण ही वह पति से कह देती है, "मैं कल ही उसे बुलाकर अपने पास रखूँगी। और यदि जिठानी जोर करेंगी, तो मैं उसे थाने में दारोगा के पास भेज दूँगी।" और इसके बाद किशन को कष्ट देने के कारण वह कादम्बिनी का भी जी भरकर तिरस्कार करती है।

जैसाकि शरत् की अन्य कहानियों की विवेचना करते समय कहा जा चुका है, शरत् की माताओं का प्रेम कोरा अतिमानवीय नहीं है। हेमांगिनी भी किशन की ग़लतियों के लिए, चाहे वह उसके भले के लिए ही की गयी हों, उसे ताड़ना देती है। जब उसे ज्ञात होता है कि किशन ने रुपया चुराकर उसके स्वस्थ होने के लिए देवी को भेंट चढ़ाई है तो वह उसे मारती भी है। यहाँ पर भी उसके स्नेह की दृढ़ता दर्शनीय है, किन्तु अन्त में 'रामेर सुमति' एवं 'बिन्दुर छेले' की भाँति 'मेजदिदि' में भी नारी की ममता एवं वात्सल्य ही विजयी होता है। पहले तो वह अपने पति विपिन से किशन को आश्रय देने के लिए प्रार्थना करती है, परन्तु जब वे पारिवारिक मर्यादा से डरते जान पड़ते हैं तो वह अत्यन्त शान्त एवं दृढ़ स्वर में कहती है, "मैं उसे ले आऊँगी, तो दुनिया में कोई उसे रोक सकेगा? मेरे दो बच्चे कल से तीन हो गये हैं। मैं किशन की माँ हूँ।" और जब इतने पर भी उसकी बात नहीं मानी जाती तो वह किशन को लेकर अपने मायके चल देती है, परन्तु कहानी का अन्त यहीं नहीं होता। स्नेह की शक्ति सर्व-विजयिनी है। विपिन यह सब समाचार सुनकर दौड़े-दौड़े हेमांगिनी को वापस लेने के लिए आधे रास्ते तक जाते हैं और कहते हैं, "किशन, अपनी मँझली बहिन को घर लौटा

ले चल भाई। मैं शपथपूर्वक कहता हूँ कि जब तक मैं जीता रहूँगा, तब तक दोनों भाई बहिन को कोई अलग न कर सकेगा" और यद्यपि यहीं कथा समाप्त हो जाती है, परन्तु फिर भी पाठक 'रामेर सुमति' एवं 'बिन्दुर छेले' की ही भाँति 'मेजदिदि' में भी, शरत् की अपूर्व व्यंजना के सहारे, सुखद गार्हस्थिक जीवन की कल्पना कर लेता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनाथ बालक किशन के प्रति हेमांगिनी का सबल प्रेम ही 'मेजदिदि' की मूल संवेदना है। इस कहानी से शरत् की यह मान्यता और भी दृढ़ हो जाती है कि वास्तविक वात्सल्य नारी का केवल अपनी सन्तान के लिए ही नहीं होता, वरन् वह किसी भी समय किसी भी बालक के लिए आषाढ़ के प्रथम मेघ की भाँति अनायास ही उमड़ सकता है, और इस वात्सल्य के मूल में मोह, ममता, करुणा एवं परोपकार की भावना अबाध गति से बहती है। 'मेजदिदि' में हेमांगिनी का प्रेम अपने बच्चों के लिए भी शायद उतना नहीं, जितना किशन के लिए है। नारी का यह व्यापक वात्सल्य सचमुच ही श्रद्धेय है। और उसके साथ अविच्छिन्न भाव से रहने वाली निःस्वार्थ परोपकार की भावना (जो हमें हेमांगिनी के साधारण जीवन में भी बराबर दिखायी देती है) तो और भी महिमामय है।

अब हम बहुत संक्षेप में कादम्बिनी एवं हेमांगिनी के चरित्रों की तुलना करेंगे। कादम्बिनी प्रकृति में अत्यन्त लोभी है; संसार में पैसा ही उसके लिए सब कुछ है; परन्तु हेमांगिनी की प्रकृति इसके विपरीत है। वह पारिवारिक सुख एवं परोपकार में भरपूर व्यय करती है। दूसरों के हित के लिए सौ-डेढ़ सौ रुपया ख़र्च कर देना उसके लिए कोई बड़ी बात नहीं। वह हृदय की सरल, निष्कपट तथा शान्त है, किन्तु कादम्बिनी क्रूर एवं कलहप्रिय है। इसके अतिरिक्त हेमांगिनी क्रोध का भाव अपने मन में अधिक देर तक नहीं रख सकती, पर उसकी जिठानी पक्की है, और अच्छी तरह समझती है कि टूटी हुई हाँड़ी में कभी जोड़ नहीं लगता। संक्षेप में, कादम्बिनी की मूल प्रकृति स्वार्थ-वृत्ति से प्रेरित है, यहाँ तक कि वह अपने अनाथ छोटे भाई को, स्वयं पर्याप्त रूप से सम्पन्न होती हुई भी अपने पास प्रेम से नहीं रख सकती, किन्तु उसकी देवरानी हेमांगिनी स्वभाव से परोपकारी है। उससे किसी के ऊपर अत्याचार नहीं देखा जा सकता। गाँव के त्रस्त व्यक्तियों को बचाने में वह कुछ भी उठा नहीं रखती। और किशन के लिए तो मानो उसकी सारी माया-ममता ही उमड़ पड़ती है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, एक वात्सल्य भाव की पृष्ठ भूमि पर ही शरत् की इन तीनों कहानियों—'रामेर सुमति' 'बिन्दुर छेले' एवं 'मेजदिदि' का निर्माण हुआ है, परन्तु एक ही मूल संवेदना होते हुए भी इन तीनों का व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न है। आगे चलकर 'अभागीर स्वर्ग' जैसी रचनाएँ भी इसी वर्ग के अन्तर्गत

आती हैं। वस्तुतः शरत् के रचना-काल में वात्सल्य भाव की कहानियाँ थोड़ी-थोड़ी दूर पर मिलती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि नारी के प्रिया-स्वरूप के विकारों का वर्णन करते-करते जब उनका मन थक जाता है तब वे उसके जननी-स्वरूप का अंकन करके हृदय को पवित्रता एवं शान्ति देते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि लेखक के मन की यह पवित्रता और शान्ति पाठक के लिए कितनी संवेदनीय है।

ग्रामीण समाज
(पल्ली-समाज)

जिन लोगों को यह शिकायत है कि शरत् अपनी कृतियों में सदैव आन्तरिक काम-कुण्ठाओं के वर्णन में उलझे रहे हैं, और उन्होंने कभी बाह्य जीवन को व्यापक दृष्टिकोण से नहीं देखा, उन्हें लेखक के 'पल्ली समाज' को बड़े मनोयोगपूर्वक पढ़ना चाहिए। इस उपन्यास में शरत् ने न केवल ग्राम-समस्याओं का उद्‌घाटन किया है, वरन् एक बड़ी हद तक अपनी अपूर्व व्यंजना के सहारे उन्होंने उसके लिए कुछ सुझाव भी उपस्थित किये हैं। अपने संक्षिप्त कलेवर में 'ग्रामीण समाज' बंगाल के ग्राम्य जीवन की विषमताओं को 'स्कैची' परन्तु ध्वन्यात्मक रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित करता है। जिस दृष्टिकोण को लेकर शरत् 'पण्डितजी' में चले थे, उसका कुछ व्यापक एवं विस्तृत स्वरूप 'ग्रामीण समाज' में अंकित हुआ है। 'पण्डितजी' में गाँवों की शिक्षा-समस्या मुख्य थी, परन्तु 'ग्रामीण समाज' में गाँव के व्यक्तियों की स्वार्थपरता, फूट एवं कलह का अधिक निदर्शन है। पुरुष और नारी का पारस्परिक प्रेम, जो अब तक शरत् के प्रायः सभी कथा-विधानों में प्रमुख स्थान पाता रहा था, इस उपन्यास में आकर नितान्त गौण हो गया है।

'पल्ली-समाज' की एक बड़ी विशेषता यह है कि इसमें अंकित नारी-पात्र वास्तविक जीवन के बहुत समीप आ गये हैं। कुरुचि-उत्पादक यथार्थवाद को प्रश्रय न देते हुए भी शरत् अब काफ़ी यथार्थवादी हो चले हैं, इस बात का स्पष्ट पता उनके नारी-चरित्र के अंकन से लग जाता है। माधवी जैसी प्रेमिका एवं विराज जैसी पत्नी, लेखक अपनी रचनाओं के प्रारम्भिक युग में ही चित्रित कर सका था; उसका यह आदर्शवाद 'चरित्रहीन' से शिथिल होता है, जो एक तरुण विचारक का प्रथम प्रबल विद्रोह है। 'पल्ली-समाज' के चरित्र-चित्रण में संयमित यथार्थवाद का अच्छा नमूना मिलता है; यहाँ उनके पात्र साधारण बुराइयों-भलाइयों से घिरे हुए, साधारण हाड-मांस निर्मित व्यक्ति हैं। कभी उनमें भलाई के परमाणु जोर बाँधते हैं तो कभी बुराई के। चरित्र की इस धूप-छाँह का अंकन ही शरत् की दूसरे युग की अधिकांश रचनाओं में व्याप्त है।

'पल्ली-समाज' के नारी-पात्रों में रमा एवं विश्वेश्वरी सर्वप्रमुख हैं। प्रचलित

मान्यताओं के अनुसार यद्यपि नायिका का स्थान रमा को ही दिया जाएगा, परन्तु विश्वेश्वरी का भी चरित्र कथा-विधान की दृष्टि से कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अस्तु, रमा के चरित्र का विश्लेषण हम सर्वप्रथम करेंगे।

शरत् की अधिकांश रचनाओं की नायिका के समान रमा एक विधवा युवती है, परन्तु लेखक की सामान्य विधवा नारियों के समान उसका व्यक्तित्व बहुत अधिक कोमल एवं सजल नहीं है, इसका पता हमें उपन्यास के पटोद्घात के समय ही लग जाता है, जब वह अपने बाल्यावस्था के साथी रमेश के लिए बिगड़कर कह देती है, "मैं कुछ भी न कहूँगी। दरवाज़े पर दरबान ही उसे उत्तर दे देगा।" कुलीन घर की लड़की होते हुए भी यद्यपि वह अधिक सामाजिक भेद-भाव को प्रश्रय नहीं देती, तथापि निरपराध रमेश के लिए उसके मन में कोई विशेष कोमल स्थान सुरक्षित नहीं है। वह वेणी से कहती है, "आग, करज और दुश्मन का कुछ भी बाक़ी नहीं छोड़ना चाहिए", और रमेश को अपना दुश्मन मानती हुई वह उसके कार्यों में बाधा डालना चाहती है। उसकी उक्तियों को सुन कर वेणी को भी कहना पड़ता है, "बहन, भला ऐसी कौन-सी बात है जो तुम न समझती हो। भगवान् ने तो तुम्हें लड़का बनाते-बनाते लड़की बना दिया।"

प्रकारान्तर से, यहाँ 'पल्ली-समाज' की मूल कथा की भी चर्चा अधिक अप्रासंगिक न होगी। रमा और रमेश दो विरोधी परिवारों की सन्तान हैं, परन्तु दोनों ही घनिष्ट बाल्य सहचर रहे हैं। एक-दूसरे के लिए ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से दोनों में पर्याप्त आकर्षण है। जब वे दोनों बड़े होने पर बहुत दिनों के उपरान्त एक-दूसरे से मिलते हैं तो उन्हें ज्ञात होता है कि पुराने पारिवारिक कलह के कारण दोनों के मार्ग अलग-अलग हो गये हैं। अधिक ग़लतफ़हमी रमा की ओर ही से है। खिन्न मन रमेश अपनी ताईजी के प्रोत्साहन पर ग्राम-सुधार के कार्य में प्रवृत्त होता है और अनेक विघ्न-विरोधों के उपरान्त भी उससे विमुख नहीं होता, यहाँ तक कि एक बार उसे निरपराध जेल भी जाना पड़ता है। उसे इस प्रकार नीचा दिखलाने वाले समुदाय में रमा का भी हाथ है। अन्त में ताईजी अर्थात् वेणी की माँ के उद्योग से रमा एवं रमेश के बीच की ग़लतफ़हमियाँ दूर हो जाती हैं, और वे अस्वस्थ तथा अपराधों के बोझ से दबी हुई रमा को लेकर तीर्थयात्रा के लिए चली जाती हैं।

रमा का चरित्र नारी-सुलभ कमज़ोरियों से भरा हुआ सामान्य कोटि का है। वे 'बिलकुल लक्ष्मी हैं' और शायद इसीलिए उसमें लोभ की भी कमी नहीं है। यद्यपि रमेश उसके बारे में कहते हैं, 'वह कभी पराई चीज़ नहीं छुएँगी', पर रमा उनके इस विश्वास को अपनी दुर्बलताओं के फलस्वरूप असत्य सिद्ध कर देती है। एक बार रमेश सारे गाँव के हितार्थ उसके तालाब का बाँध तोड़ देने की अनुमति लेने के लिए जाते हैं, पर स्वार्थवश वह यह कह कर मना कर देती है, "मैं इतने

रुपयों का नुकसान नहीं कर सकूँगी।' और तभी रमेश को क्रोध के आवेश में कहना पड़ता है, "तुम्हें निष्ठुर कहना भी भूल है। तुम बहुत ही नीच, बहुत ही छोटी हो।" आगे चलकर भी रमेश को रमा की 'अखण्ड स्वार्थपरता' का परिचय मिलता है, जिससे उसके अन्धे हृदय की आँखें खुल जाती हैं।

रमा और रमेश का सम्बन्ध कुछ विचित्र प्रकार का है। बाल्यावस्था का प्रेम दोनों को एक-दूसरे की ओर खींचता है, किन्तु पारिवारिक वैमनस्य उन्हें अलग कर देता है। रमेश के प्रति बरबस आकर्षित होती हुई भी रमा उसका बुरा चाहने में नहीं चूकती। वह उसे निरपराध होते हुए भी स्वयं अपनी गवाही देकर जेल भिजवाने का प्रयत्न करती है और वह इसमें सफल भी होती है। वस्तुतः 'ग्रामिण समाज' में शरत् ने अपनी पिछली कृतियों की अपेक्षा नारी का अधिक यथार्थ अंकन किया है, और साथ-ही-साथ इसमें नारी के सम्मुख पुरुष का व्यक्तित्व अधिक प्रबल है। रमा रमेश को बचाने का भी प्रयत्न करती है, किन्तु उसका यह प्रयत्न केवल कुल-मर्यादा की रक्षा के लिए है, स्वयं रमेश के लिए नहीं। ऐसा जान पड़ता है कि ईर्ष्या, द्वेष एवं वैमनस्य से घिरे होने के कारण, रमा का रमेश के प्रति प्रेम बहुत ही कम अवसरों पर उभर पाता है। रमेश के अनाचार (?) एवं देवता के प्रति अश्रद्धा होने के कारण उसका मन उसकी तरफ़ से और भी विमुख हो उठता है।

परन्तु इतना सब होने पर भी रमा एवं रमेश एक-दूसरे के ऊपर अपने अधिकार का अनुभव बराबर करते हैं। भैरव के घर में, रमेश का हाथ पकड़ कर रमा उसे भैरव से अलग कर देती है। वह यह बात अच्छी तरह जानती है कि अनेक भलाइयों और बुराइयों के बावजूद भी वह रमेश के विश्वास की अमानत-दार है। और वह स्वयं भी रमेश के प्रति श्रद्धा रखती है, उसकी यश-गरिमा सुनकर पुलकित हो उठती है।

अन्त में उसके व्यक्तित्व का अधिक अच्छा भाग विजयी होना है, और रमेश के प्रति अपने अपराधों के लिए वह पश्चात्ताप करती है। मन-ही-मन घोर सन्ताप के कारण वह बीमार पड़ जाती है। रुग्णावस्था में वह ताईजी से कहती है, "सिर्फ़ एक ही जगह हम दोनों एक-दूसरे से अलग न हो सके। अर्थात् तुमको हम दोनों ने ही प्यार किया···ताईजी, तुम मेरी तरफ़ से उनसे सिर्फ़ इतना ही कह देना कि वे मुझे जितनी बुरी समझते थे, मैं उतनी बुरी नहीं थी। और मैंने उन्हें जितना दुःख दिया है, उससे कहीं अधिक दुःख मैंने भी पाया है।" वस्तुतः उद्धरण की अन्तिम दो पंक्तियाँ रमा के चरित्र के लिए मूल सूत्र का कार्य करती हैं।

तीर्थ यात्रा के कुछ समय पूर्व जब रमा को देखने के लिए रमेश जाते हैं तो वह उनसे बातचीत में भी कुछ दूर ही रहना चाहती है, जिससे कहीं पुराना स्नेह

फिर से न उमड़ पड़े। उनकी महानता का कथन करते हुए वह रमेश के हाथों में अपने भाई यतीन्द्र को सौंप देती है, मानो उन्हें वह अपना खोया हुआ विश्वास फिर दे रही हो। और तभी वह रमेश को अपनी मौन वदना एवं सहन-शक्ति का कुछ आभास देती है। ताईजी का निष्कर्ष तो स्पष्ट ही है, "भगवान् ने उसे इतना रूप, इतना गुण और इतना बड़ा हृदय देकर क्यों इस संसार में भेजा था, और फिर क्यों बिना किसी दोष या अपराध के इस तरह उसके सिर पर दुःख का बोझ लादकर उसे संसार के बाहर फेंक दिया···तुम कभी भूलकर भी मेरी इस बात पर अविश्वास न करना कि तुम्हारी उससे अधिक मंगलाकांक्षिणी और कोई नहा है।"

वेणी की माँ तथा रमेश की ताई विश्वेश्वरी का चरित्र 'ग्रामीण-समाज' के ईर्ष्या तथा द्वेष के अन्धकार में निर्मल दीपक-ज्योति के समान है। इस स्नेहमय रमणी की तरफ़ थोड़ी देर तक देखते रहने से मानो सारा अन्तःकरण मोह से भर जाता है। जितना कोमल उनका हृदय है उतना ही अनिन्द्य उनका सौन्दर्य है। परन्तु इतनी कोमलता के साथ-साथ उनके व्यावहारिक जीवन में आवश्यक कठोरता का भी अभाव नहीं है ! उचित-अनुचित का विचार रखते हुए भी वे सामाजिक व्यवहार का पर्याप्त ध्यान रखती हैं। उनके व्यक्तित्व में साधारण मनोविकार भी हैं। वे अपने अन्यायी पुत्र की बुराई करती हुई भी उसका मोह नहीं छोड़ सकतीं। पारिवारिक मर्यादा का उन्हें पूरा ध्यान है; अत्यन्त सुलझे विचार रखते हुए वे प्राचीन रीति-नीति की अनुयायिनी हैं। व्यावहारिक संयम की उनमें कमी नहीं है, और इसी का उपदेश वे रमेश को भी देती हैं। वे उससे गाँव में रहकर सुधार-योजना में प्रवृत्त होने का आग्रह करती हैं। हर विषय में उनकी सुनिश्चित धारणाएँ हैं, और उन्हीं के अनुसार उनका क्रिया-कलाप चलता है। रमा, रमेश, वेणी सबके लिए उनके हृदय में स्थान है, किन्तु उनकी धार्मिक मर्यादा के सम्मुख सब तुच्छ हैं। अपने कुकृत्यों के लिए दण्डित वेणी के लिए उन्हें अधिक दुःख नहीं है, इससे वे सन्तुष्ट ही अधिक हैं। उनके चरित्र के मूल में उनकी संसार के प्रति अनासक्ति है और इसी के कारण उनका व्यक्तित्व इतना ऊँचा है। धार्मिक एवं नैतिक आस्थाएँ उनके जीवन में विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

रमा एवं ताई जी के अतिरिक्त 'ग्रामीण समाज' के शेष नारी-पात्र पार्श्व चरित्र हैं। रमा की मौसी कलह-प्रिय, अदूरदर्शिनी एवं शंकालु है। कटु-भाषा में वह अपनी सानी नहीं रखती। कुछ इसी प्रकार का, किन्तु इससे कुछ हल्का चरित्र विधवा ब्राह्मणी क्षेन्ती का है। गाँव की अनेक बुढ़ियाओं के समान वह संसार के सारे तथ्यों को समझने वाली एवं क्रोधी प्रकृति की है। भैरव आचार्य की पुत्री भी इसी वर्ग से सम्बन्धित है। लड़ने-झगड़ने एवं कटु भाषण में वह विशेष योग्य है। उसकी माँ का व्यक्तित्व उससे कुछ ऊँचा है।

'ग्रामीण समाज' के कथानक के अनुरूप ही उक्त तामसिक चरित्रों का निर्माण हुआ है। कामिनी की माँ-जैसा कोई एक-आध पात्र अवश्य ही यत्र-तत्र हृदय में कुछ श्रद्धा का संचार कर जाता है, अन्यथा ईर्ष्या एवं वैमनस्य से ग्रसित मानवता के दर्शन ही हमें शरत् की इस कृति में होते हैं। आदर्श से हटकर, उपन्यासकार का नारी-चरित्र का अंकन सामान्य भाव-भूमि पर आ गया है, इस बात का निर्देश हम पहले ही कर चुके हैं।

अरक्षणीया

'अरक्षणीया' के कथा-विधान की एक-एक पंक्ति में उपन्यास का शीर्षक जैसे व्याप्त हो गया है। निर्धन बंगाली विधवा की विवाह योग्य पुत्री को समाज किन तिरस्कार की निगाहों से देखता है, इसी का चित्रण करने के लिए शरत् बाबू ने इस गल्प का प्रणयन किया है, जो अपनी शास्त्रीय मर्यादा में एक गल्प होते हुए भी वास्तविक जीवन के क्षेत्र में अक्षरशः सत्य है। वह सड़ा-गला एवं खोखला समाज, जिसमें विवाह के नाम पर बड़े-से-बड़ा अनर्थ होता है, इस लघु उपन्यास का सर्वप्रमुख पात्र है। कथा का एक-एक अक्षर अरक्षणीया की कातर पुकार से मुखरित है, और अरक्षणीया की पुकार में अनेक कुलीन घर की कन्याओं की वेदना समाहित है।

'अरक्षणीया' की मूल-कथा पर्याप्त सीधी-सरल होते हुए भी अनेक घात-प्रतिघातों से पूर्ण है। निर्धन तथा परिवार से तिरस्कृत विधवा दुर्गा अपनी पुत्री के विवाह के लिए चिन्तित है। ज्ञानदा पूरे तेरह वर्ष की हो चुकी है, परन्तु धनाभाव के कारण अभी तक उसका सम्बन्ध भी निश्चित नहीं हो पाया। पड़ोस के सम्पन्न परिवार का कलकत्ता-प्रवासी पुत्र अतुल ज्ञानदा का बाल-सहचर रहा है। उसके बीमार पड़ने पर अकेली ज्ञानदा ने ही उसकी दिन-रात सेवा-शुश्रूषा करके उसे मौत के मुँह से बाहर निकाला था। दुर्गा के पति जब प्राण-त्याग कर रहे थे, उस समय अतुल ने ज्ञानदा का भार अपने ऊपर लेने का वचन उन्हें दिया था। बस इसी एक आशा पर दुर्गा का कष्टमय जीवन बीता जा रहा था। विधवा होने के कुछ समय पश्चात् अपने कुटुम्बियों के व्यवहार से दुखित होकर वे अपने बड़े भाई के यहाँ चली गयीं। घोर स्वार्थ से प्रेरित दुर्गा के बड़े भाई ने ज्ञानदा का विवाह जबर्दस्ती अपने साले के साथ करके अपने सौ रुपये के ऋण से मुक्त होना चाहा, परन्तु अपनी कर्कशा-स्नेहमयी मामी की कृपा से ज्ञानदा इस घोर अभिशाप से बच गयी। भाई के यहाँ रहने से दुर्गा तथा ज्ञानदा दोनों ही बीमार हो गयीं, इधर महीनों से अतुल का भी कोई समाचार न मिला था। इसलिए माँ-बेटी दोनों रुग्णावस्था में ही वापस अपने गाँव चली आयीं। यहाँ आकर जब दुर्गा को यह

ज्ञात हुआ कि अतुल का विवाह कहीं अन्यत्र हो रहा है और वह ज्ञानो के साथ अपना कोई सम्वन्ध नहीं मानता तो जैसे उनके ऊपर वज्रपात हो गया। इस धक्के ने उनका अन्त और भी निकट कर दिया। दुर्गा के शव के जलने के उपरान्त, जब श्मशान में अतुल ने निःसहाय ज्ञानदा को उसके द्वारा बहुत दिन पहले दी गयी चूड़ियों को तोड़ते देखा तो उसके हृदय में प्राचीन स्नेह फिर से उमड़ आया। प्रेम के सामने विरोधी शक्तियों को दबना पड़ा और अतुल ने वहीं, श्मशान में ही, अरक्षणीया को रक्षा का वरदान दिया।

इस गल्प में निश्चित रूप से नारी-पात्रों की प्रधानता है। अपने सीमित कलेवर में ही 'अरक्षणीया' पाँच विशिष्ट नारी-चरित्रों को बड़े व्यजनात्मक ढंग से पाठक के सम्मुख उपस्थित करती हैं। मध्यम-वर्ग से सम्बन्धित ये व्यक्तित्व अपनी सारी ईर्ष्या-द्वेष एवं स्नेह-सहित पुस्तक पृष्ठों से बाहर निकल आते हैं। उन सबकी अपनी अलग-अलग संवेदना है और अलग-अलग रूप। पर उनका चारित्रिक गठन एवं सामंजस्य समान भाव से कलात्मक है।

ज्ञानदा ही 'अरक्षणीया' है, यदि हम यह कहें तो कदाचित् अत्युक्ति न होगी। पूरी गल्प में उसका व्यक्तित्व एक पल के लिए भी विस्मृत नहीं किया जा सकता। यहाँ हमें यह अवश्य ध्यान रखना पड़ेगा कि अन्य स्थानों की अपेक्षा वंगाल में तेरह वर्ष एक की किशोरी बड़ी आसानी से उपन्यास अथवा गल्प की नायिका बन सकती है। वहाँ का तत्कालीन समाज इस छोटी-सी अवस्था में ही, बालिका से खेल के गुड्डे-गुड़िया छीनकर वास्तविक जीवन के गम्भीर दायित्व दे देता है। इसीलिए वहाँ के नारी-जीवन का अधिकांश इतना करुण, इतना असहाय है।

ज्ञानदा को शरत् की पूर्व-नायिकाओं से उत्तराधिकार के रूप में शील एवं नम्रता तो मिली है, पर रूप नहीं। 'काली-कलूटी होने के कारण कोई उसे ग्रहण ही नहीं करना चाहता!' और तभी दुर्गा का आहत मन कह उठता है, "अरे जले समाज, अगर तू कुछ भी नहां देखता, कुल-शील-स्वभाव-चरित्र वग़ैरह किसी गुण की परवा नहीं करता, केवल रंग काला होने से ही तू लड़की को दुरदुरा देता है, तो फिर लड़की का ब्याह न होने के लिए उसके माता-पिता को दण्ड देने का तुझे क्या अधिकार है?" सचमुच जिस विवाह के लिए लड़की को 'रूप की परीक्षा' देनी होती है, उस विवाह का मनुष्य की आत्मा से कोई सम्वन्ध नहीं। ऐसी प्रथा को प्रश्रय देने वाला समाज अधिक-से-अधिक सौन्दर्य के क्रय-विक्रय की हाट कहा जा सकता है।

परन्तु ज्ञानदा के व्यक्तित्व में रूप की कमी, नम्रता पूरी करती है। उसका शील दिखावे का न होकर प्राकृतिक है। गुरुजनों की आज्ञा का पालन करना उसका स्वभाव बन चुका है—"बचपन ही से बड़े-बूढ़ों की आज्ञा को—वह चाहे

उचित हो चाहे अनुचित—ज्ञानदा बिना सोचे-विचारे सिर-आँखों से मंजूर कर लेती थी, उनकी सेवा करती थी, मुँह बन्द रखकर सब कुछ सहती थी।' किसी आदेश का उल्लंघन करना, किसी आज्ञा का प्रतिवाद करना उसकी प्रकृति के विरुद्ध है।

अपने इन चारित्रिक गुणों एवं मानसिक संस्थान में ज्ञानदा 'परिणीता' की ललिता से बहुत कुछ मिलती है। दोनों की वय एक है, और रूप-रंग तथा गुण-शील में भी दोनों समान हैं। उनके परिवारों की आर्थिक दशा अत्यन्त दयनीय है, और इसीलिए वे अपने अभिभावकों की चिन्ता का कारण बनी हुई हैं। ललिता एवं ज्ञानदा दोनों अपने सम्पन्न पड़ोसी के पुत्र को प्यार करती हैं, और उन दोनों को प्रेम का प्रतिदान भी मिलता है; परन्तु तभी आकाश के नक्षत्रों की गति वक्र होती है, और दोनों के जीवन में विपत्तियों का आगमन कथा के प्रवाह को तीव्र करता है; परन्तु किशोरी के निर्मल तथा असहाय प्रेम में कितनी शक्ति है, इसे शरत् भलीभाँति जानते थे, और इसीलिए अन्त में ज्ञानदा एवं ललिता दोनों को ही अपना प्राप्य मिलता है।

'अरक्षणीया' की समस्या मुख्य रूप से बंगाल में निर्धन मध्यम वर्ग के परिवारों में कन्या-विवाह की समस्या है। और यदि धन के साथ-साथ कुमारी के लिए रूप का भी अभाव हुआ तो फिर कहना ही क्या? अभाग्यवश ज्ञानदा के लिए ये दोनों अभाव संयुक्त हो गये हैं और तभी तो 'चिता का मुर्दा भी तुम्हारी लड़की से ब्याह करने को राज़ी नहीं होता।' रूप तथा धन के समक्ष शील एवं सौजन्य का बलिदान समाज में बहुत दिनों से होता आया है, और 'अरक्षणीया' इसी की करुण कथा है। वस्तुतः इस देश की अनेक ज्ञानदाएँ इस लज्जा से बचने के लिए आत्महत्या का सरल मार्ग पकड़ लेती हैं, परन्तु धरती माता की तरह सहनशील होने के कारण ही शरत् के इस उपन्यास की चरित-नायिका इतनी ग्लानि एवं अपमान सहकर भी दुखी जीवन का भार उठाती रही। उसकी अपार सहिष्णुता ने ही उसे जीने के लिए विवश किया।

बारह-तेरह वर्ष की अल्पायु में ही ज्ञानदा 'सयानी—पूरी औरत' हो जाती है और तब तक अविवाहित रहने के दण्ड-स्वरूप वह अपने ही घर में एक प्रकार से अस्पृश्य एवं अमंगलसूचक हो गयी है। रसोई और ठाकुरद्वारे में जाने के लिए उसे निषेध है। यही नहीं, स्वर्णमंजरी के शब्दों में तो वह 'घर का एक मुर्दा है।' यदि वह निकाला नहीं जाएगा तो पड़े-पड़े सड़कर ऐसी बदबू फैलाएगा कि घर में रहना कठिन हो जाएगा। स्वर्ण ने यह बात ज्ञानदा को घृणा का आलम्बन मानकर कही है, हम लोग भी उसकी असहाय अवस्था को देखकर उसे जीवन्मृत कह सकते हैं, परन्तु यहाँ वह हमारे लिए करुणा का आलम्बन होगी।

ज्ञानदा और अतुल बाल-सहचर हैं। दोनों के हृदय में एक-दूसरे के लिए

विश्वास एवं स्नेह संरक्षित है । ज्ञानदा के पिता जब मरणासन्न हो जाते हैं तो वह अपने घर आये हुए अतुल के पैरों पर सिर पटककर रोने लगते हैं। उसे सांसारिक लोक-मर्यादा का कुछ भी ध्यान नहीं रहता । अतुल भी ज्ञानदा के अधिकार को मान्यता देता है और मरते हुए प्रियनाथ के सम्मुख उसका भार अपने ऊपर ले लेता है । ज्ञानदा को अपने प्राप्य के मिलने की आशा हो जाती है, जिसे उसने स्वयं मृत्यु के मुँह में से बचाया था, सावित्री के समान यमराज के हाथ से छीन लिया था, किन्तु जब कुछ दिनों के उपरान्त उसे यह ज्ञात होता है कि उसका अपना अतुल उसी के सामने दूसरे का होने वाला है तो उसके दु:ख की सीमा नहीं रहती । उसका अस्तित्व निराधार हो जाता है और वह अतुल-द्वारा दी गयी चूड़ियों को, जिन्हें वह प्राणों के समान प्रिय समझती थी अपनी माँ के जलते हुए शव के सम्मुख तोड़कर फेंक देती है । किन्तु ये टूटी हुई चूड़ियाँ अतुल के मन को ज्ञानदा से फिर जोड़ती हैं, और वहीं श्मशान में अरक्षणीया को अपने प्रियतम का संरक्षण मिल जाता है ।

ज्ञानदा को चरित्र की नम्रता अपनी माँ दुर्गा से विरासत के रूप में मिली है। बंगाल की विधवा नारी यदि निर्धन भी हो तो उसके दु:खों का अन्त नहीं रहता । संयोग से दुर्गा इसी कोटि की स्त्री हैं। इसीलिए उसमें कुछ-कुछ मान-अपमान से परे होने की बात आ गयी है। वह स्वर्ण से कहती है, "नहीं दीदी, मेरे अब मान-अभिमान क्या हैं !" पर इससे यह न समझना चाहिए कि उसका स्वाभि-मान एकदम नष्ट हो गया है । जब उसे अपने बड़े भाई के घर जाने के लिए कहा जाता है तो बिना बुलाये उनके यहाँ जाने के लिए एकाएक वह तैयार नहीं होती। अपनी ओर से वह किसी के भी गले नहीं पड़ना चाहती ।

दुर्गा अपनी एकमात्र सन्तान ज्ञानदा को प्राणों के समान चाहती है । उसे भूखा देखकर वह आप खाना तक नहीं खा सकती, किन्तु ऐसी स्नेहशील जननी भी पुत्री का दुर्भाग्य देखकर झुँझला उठती है। क्रोध के आवेश में यदि वह अतुल को मरने के लिए कह सकती है तो साथ ही साथ वह ज्ञानो को अपनी खाट से भी ढकेल सकती है। अत्यधिक राग एवं ममता को इस प्रकार क्रोध तथा खीज में बदलते देख सहृदय पाठक का मन भर आता है। दुर्गा की प्रकृति में इस क्षणिक तामसिकता का एकमात्र कारण है पुत्री-विवाह की चिन्ता, और इसी चिन्ता में वह घुल-घुलकर प्राण-त्याग कर देती है।

'अरक्षणीया' में दुष्ट चरित्र दुर्गा की विधवा जिठानी स्वर्णमंजरी का है। दिगम्बरी, एलोकेशी, बुढ़िया वैष्णवी आदि के व्यक्तित्व की सारी कड़ुआहट स्वर्ण को उत्तराधिकार-स्वरूप मिली है। वह प्रकृति की कटु होने के साथ ही साथ वाणी की भी कटु है । ज्ञानदा को वह 'पंख कटी परी' एवं 'पीपल पर की चुड़ैल' कहती है, दुर्गा के ऊपर अपने देवर की गृहस्थी को विनष्ट करने के प्रयत्न का

आरोप लगाती है। इन्हीं सब बातों को देखकर अन्त में छोटी बहू को कहना पड़ता है, "दीदी, दो-एक साल मधु-संक्रान्ति का व्रत कर डालो, जिससे दूसरे जन्म में ज़रा मीठी बोली-बानी हो।"

चारित्रिक कटुता के साथ स्वार्थवृत्ति उसके व्यक्तित्व की मूल संवेदना है। अपने लिए भलाई का मार्ग ढूंढ़कर दूसरे को वह सदैव बुराई की ओर बढ़ाना चाहती है। वह चाहती है कि दुर्गा भाई के यहाँ जाकर अपनी लड़की को किसी मर्द के गले मढ़ दे, जिससे स्वयं उसे कोई बुरा न कह सके। अपनी देवरानी एवं उसकी पुत्री के लिए वह एक पाई भी नहीं खर्च करना चाहती।

स्वार्थपरता के कारण ही स्वर्ण में हृदयहीनता की भी मात्रा कम नहीं है। उपन्यासकार के शब्दों में, "उसके हृदय नाम का कोई पदार्थ तो था ही नहीं—वह इस बला से बिलकुल बरी थी।" लेखक की इस टिप्पणी का महत्त्व तब समझ में आता है, जब वह निर्दोष, निःसहाय एवं हतभागिनी ज्ञानदा को अतुल के सामने अमानवीय ढंग से बुरा-भला कहती है—'हज़ार बार कह चुकी हूँ कि तुम्हारा मुँह देखने से सात पीढ़ियाँ नरक में गिरती हैं; मेरे सामने तुम न आया करो।' एक अबोध बालिका के लिए इतने कठोर एवं पैने शब्दों का प्रयोग स्वर्णमंजरी ही कर सकती है। ज्ञानदा को तो वह 'खानगी' (वेश्या) कहने में भी संकोच नहीं करती। संक्षेप में, स्वर्ण प्रकृति एवं वाणी की कठोर, कलहप्रिय, हृदयहीन तथा मर्यादा-शून्य है।

उपन्यास में अनाथनाथ की पत्नी छोटी बहू का चरित्र अपेक्षाकृत कम अंकित है। वह आलस्य की प्रतिमूर्ति, तथा कटु होती हुई भी अपनी जिठानी स्वर्ण के समान तीखी नहीं है। आलसी होने के कारण वह दूसरों की व्यथा का अनुभव करती हुई भी अपने परिश्रम से उनका दुख दूर नहीं कर पाती, परन्तु वह दूसरों का बुरा नहीं चाहती और न यथासम्भव अन्याय का पक्ष ही ग्रहण करती है। अतुल को भी समय पर वह खरी-खरी सुनाने में नहीं चूकती। और जब ज्ञानदा को घर से निकालकर 'मलेरिया के डिपो' हरिपालपुर भेज देने का प्रस्ताव उसके कानों तक पहुँचता है तो वह एकान्त में अपने स्वामी से कहती है, "तुम सठिया तो नहीं गये, जो बड़ी भावज की सलाह से ऐसे असमय में रोगी माँ के पास से लड़की को जुदा करने की बात कह आये? क़साई लोग भी—जिनका पेशा ही हत्या करना है—तुम्हारी अपेक्षा अधिक दया-माया रखते होंगे।" वस्तुतः छोटी बहू का मन ऊपर से खुरदुरा होते हुए भी अन्दर से संवेदनशील है। उसके व्यक्तित्व की तामसिक वृत्तियाँ भलाई के परमाणुओं को विजित नहीं कर सकी हैं।

'अरक्षणीया' में सबसे सुगठित चरित्र दुर्गा की भाभी भामिनी का है। उसके व्यक्तित्व की पृष्ठभूमि में मनोविज्ञान का वह सिद्धान्त स्थित है, जिसके अनुसार ऊपर से कठोर एवं कर्कश दिखाई पड़ने वाले व्यक्ति हृदय के बड़े कोमल एवं

सरल होते हैं। भामिनी का चरित्र इसी जाति का है। वह बातचीत ज़रा ऐंठ-ऐंठकर करती है, और जैसी वह बोलने में तेज़ है, वैसी ही लड़ने में भी प्रवीण। परन्तु वह गले पड़कर किसी से लड़ना-झगड़ना नहीं चाहती। इस प्रकार उसके चरित्र का तीखापन अधिकांशतः भलाई के लिए ही है, बुराई के लिए नहीं। अपनी ननद की एकमात्र सन्तान ज्ञानदा की परिचर्या वह बड़े मनोयोग से करती है। इसमें उसका अप्रकाशित वात्सल्य भलीभाँति प्रकट होता है। दुर्गा ने उसके स्वभाव की तीव्रता के कारण उसका नाम 'जला कुन्दा' रख छोड़ा है, परन्तु अन्त में वापस घर जाते समय उसे अपनी भाभी की उच्चाशयता का ज्ञान होता है, और वह भरे हुए कण्ठ से भामिनी से क्षमा माँगती है।

वस्तुतः भामिनी में प्यार करने की अपरिमित शक्ति है और इसका पता हमें रुग्ण ज्ञानदा के प्रति उसके स्नेहपूर्ण व्यवहार से लगता है। सच तो यह है कि भामिनी ऊपर से देखने से ही 'जला कुन्दा' लगती है, अन्दर तो वह चन्दन के समान शीतल है। इस चारित्रिक विपर्यय का अध्ययन शरत् के मनोवैज्ञानिक ने बड़े पूर्ण एवं सहृदय ढंग से किया है। प्रारम्भ में दुर्गा उससे मन-ही-मन बहुत डरती है, परन्तु धीरे-धीरे उसकी घृणा एवं भय कम हो जाता है।

अपनी प्रकृति के अनुकूल ही, स्पष्टवादिता भामिनी के चरित्र की प्रमुख विशेपता है। खरी-खरी सुनाने में वह अपने पति को भी नहीं छोड़ती। शम्भु के स्वार्थ का पर्दाफ़ाश करती हुई वह चिल्ला-चिल्लाकर कहती है, "मामा हैं! मामापन फैलाने आये हैं! नवीन के साथ ब्याह करोगे! तभी तो मय सूद के सौ रुपये अदा हो सकेंगे, क्यों न? इसीलिए वह बड़ा अच्छा वर है, क्यों?···तुम्हें गले में फाँसी लगाकर मर जाने के लिए रस्सी नहीं मिलती कहीं क्या? धिक्कार है! लानत है!" वस्तुतः निःसन्तान भामिनी में माया-ममता का अभाव नहीं है, इसीलिए किसी के भी प्रति किये जाने वाले अन्याय को वह सहन नहीं कर सकती।

स्पष्टवादिता के साथ चरित्र की दृढ़ता एवं स्वाभिमान रहता है। अपने पति द्वारा हरामज़ादी कहे जाने पर उसके क्रोध का पार नहीं रहता, शम्भु को वह चेतावनी देती है, "फिर ज़बान से यह गाली निकाली तो तुम्हारे इस मुँह में जलती हुई चूल्हे की लकड़ी जो न ठूंस दूँ तो मैं पाँचू घोषाल की लड़की ही नहीं··· तरकारी काटने की मेरी छुरी देख रखो। साले-बहनोई की एक साथ नाक काटकर तब जान छोड़ूँगी। मेरा नाम भामिनी है, यह याद रहे।" यहाँ इस बात का ध्यान हमें अवश्य रखना पड़ेगा कि इस शक्तिशाली क्रोध की पृष्ठभूमि में वह दया है जो दुर्गा एवं उसकी पुत्री के प्रति अन्याय होते देखकर भामिनी के हृदय में उमड़ पड़ती है। ज्ञानो के प्रति उसकी ममता का परिचय हमें तब मिलता है, जब वह बताती है कि उसकी बीमारी में डॉक्टर को बुलाने के लिए उसने अपना

एक मात्र गहना बेच डाला था। कर्कशता के आवरण में दबी हुई भामिनी के हृदय की यह विशालता सचमुच ही श्रद्धेय है। उसके जीवन का ध्येय है, "जो कुछ अपना है वही लेकर रखो, खाओ-पियो। परायी रकम लेकर अपना पेट मोटा करने की कोशिश करते हो? ऐसा करने वाले का भगवान् कभी भला नहीं करते।"

जैसा अन्यत्र कहा जा चुका है, निर्धन बंगाली कन्या का विवाह 'अरक्षणीया' की कथा का सर्वप्रमुख समस्या है। जब दुर्गा कहती है, "ओः! इतने बड़े शत्रु (लड़की) को भी अपने गर्भ में रखने और खिला-पिलाकर बड़ा करने की झखमारी माता को करनी पड़ती है" तो उपन्यास की समस्या हमारे सम्मुख स्पष्ट रूप से आ जाती है। फिर, विवाह न कर पाने की चिन्ता ही नहीं, वरन् उसके फलस्वरूप समाज से च्युत हो जाने की आशंका भी पुत्रवती जननी के सिर पर सदैव मँडराया करती है—'मैं अपने समाज की निष्ठुरता या धींगाधींगी खूब जानती हूँ। लड़की का ब्याह न करें, तो बिरादरी से अलग कर दिये जायँ।' और तभी आँसुओं की धारा के बीच दुर्गा को अतुल से कहना पड़ता है, "दूसरे जन्म में मैंने न-जाने कितनी स्त्री-हत्या, बाल-हत्या की हैं अतुल, जिससे इस जन्म में मेरे पेट से लड़की पैदा हुई है।" वस्तुतः एक निर्धन गृहस्थ को अपनी काले रंग की लड़की का विवाह करने के लिए क्या-क्या करना पड़ता है, इसका सही अनुमान लगाना बहुत कठिन है। इसके फलस्वरूप सोलह साल की लड़की का विवाह साठ साल के वृद्ध से हो जाता है, जिसे देखकर एक बार शायद निष्ठुरता के हृदय में भी दया का संचार हो सकता है।

और फिर बंगाल में ग्यारह-बारह साल की लड़की 'सयानी—पूरी औरत' हो जाती है, और यदि उस अवस्था तक उसका विवाह न हो सका तो अपने घर में ही वह एक प्रकार से अस्पृश्य समझी जाने लगती है। इतना होने पर भी प्रान्त के किसी-किसी भाग में ज़बर्दस्ती पकड़कर ब्याह कर लेना रोज़मर्रा की साधारण घटना है। इन अत्याचारों से पीड़ित होकर ही ज्ञानो को कहना पड़ता है, "मेरा ब्याह करने वाला कोई नहीं है, तो भी मेरी उमर बढ़ती ही जाती है—यह भी क्या मेरा अपराध है, प्रभो?" वस्तुतः बंगाल में नारी होने के अपराध के लिए शायद एक ही प्रायश्चित्त है, और वह है आत्महत्या। तत्कालीन इतिहास इन जघन्य कृत्यों से पग-पग पर भरा हुआ है। चिता का मुर्दा भी निर्धन लड़की से विवाह करने के लिए तैयार नहीं है, और दूसरी ओर समाज का फौलादी पंजा सिर के ऊपर है; ऐसी दशा में लड़की के लिए जो कुछ भी किया जाएगा वह सब उसके लिए आत्महत्या की कोटि का ही होगा। या तो उसका विवाह किसी रुग्ण एवं असहाय व्यक्ति के साथ हो जाएगा, या उसे किसी वृद्ध के सम्मुख रूप की परीक्षा देनी होगी, अथवा अन्ततः वह जीवन का मोह ही छोड़ देगी। इस

प्रकार शास्त्र की बलि-वेदी पर कन्या का बलिदान (कन्यादान नहीं !) बंगाल के समाज में बहुत दिनों तक होता रहा है, जिसके विरोध में बड़े-बड़े सुधारक एवं साहित्यिक भी नहीं ठहर सके।

यह है बंगाल में कन्या-विवाह का अत्यन्त सूक्ष्म चित्रण, जो प्रस्तुत उपन्यास का कदाचित् सर्वप्रमुख पात्र है, और जिसकी गणना मानवता के महानतम अभिशाप एवं कलंक के अन्तर्गत की जा सकती है। शरत् की 'अरक्षणीया' इस समस्या का एक संक्षिप्त, परन्तु अत्यन्त मर्मस्पर्शी दृश्य उपस्थित करती है।

श्रीकान्त

[श्रीकान्तेर भ्रमण काहिनी]

'श्रीकान्त' के चार पर्वों की रचना उपन्यासकार ने अलग-अलग की है। चारों पर्वों के रचनाकाल में समय का पर्याप्त व्यवधान है। 'श्रीकान्त' का प्रत्येक पर्व अपने आप में पूर्ण है—हिन्दी के 'शेखर : एक जीवनी' की भाँति। अतः पूरे उपन्यास में एक प्रकार से समरसता का अभाव ही कहा जाएगा। जीवन के विशृंखल सूत्रों को कलाकार की संवेदना में रँगकर, शरत् ने अपनी भ्रमण-कहानी प्रस्तुत की है। इसीलिए उपन्यास के पात्रों में, किसी बँधे-बँधाये एवं सुगठित चरित्र को खोजना प्रायः असफल रहता है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि 'श्रीकान्त' में शरत् बाबू की उत्कृष्ट चरित्र-चित्रण-शैली कुछ नीचे गिर गयी है, वरन् यह कि उसमें किसी निश्चित तारतम्य का अभाव है। और वस्तुतः आत्मकथात्मक उपन्यास में इस प्रकार की शैली नितान्त स्वाभाविक ही नहीं, स्यात् नितान्त आवश्यक भी है। मानव-जीवन की लम्बी अवधि में बहुत से व्यक्तित्व घटना-स्थल पर एक बार आकर फिर सदैव के लिए तिरोहित हो जाते हैं। ऐसे चरित्रों को उनके अल्पकालीन विराम में ही अंकित करना चाहिए। सच तो यह है कि ऐसे पात्रों का क्षणिक सम्पर्क व्यक्ति के जीवन को सदा के लिए प्रभावित कर जाता है।

अस्तु, 'श्रीकान्त' की कथा बहुत दूर-दूर तक बिखरी हुई है। स्वयं नायक के जीवन के सहारे ही इन विशृंखल सूत्रों में परस्पर एकता स्थापित हो सकती है, अन्यथा विभिन्न कथा-भाग एक दूसरे से सम्बद्ध नहीं जान पड़ते। घुमक्कड़ श्रीकान्त का परिचय बाल्यावस्था में ही इन्द्रनाथ से हो जाता है। ये दोनों बाल-सहचर अकेले बहुत दूर-दूर तक नाव पर चढ़कर घूमने जाते हैं। एक दिन इन्द्र-नाथ श्रीकान्त को नदी किनारे, एक निर्जन वन में रहने वाली अपनी मुँहबोली दीदी के यहाँ ले जाता है। यह दीदी शान्त, संयमी और पति-भक्त अन्नदा है, जिसके व्यक्तित्व का अमिट प्रभाव श्रीकान्त पर जीवन-पर्यन्त रहता है। अपने पति शाहजी की मृत्यु के उपरान्त एक दिन अन्नदा जीजी बिना किसी को बताये हुए, अकेली घर छोड़कर चली जाती है, और श्रीकान्त अपनी दीदी का

अधिकाधिक सम्पर्क पाने के लिए लालायित रह जाता है।

कुछ और बड़ा होने पर श्रीकान्त का परिचय एक नाचने-गाने वाली बाईजी प्यारी से होता है, जो वस्तुतः उसकी निकट बालसहचरी राजलक्ष्मी है। श्रीकान्त उसे नहीं पहचान पाता, परन्तु वह श्रीकान्त को पहचान लेती है। इसके बाद जब दोनों एक-दूसरे को परस्पर अच्छी तरह जान लेते हैं, तो उनके हृदय में शैशवावस्था का प्रणय फिर से जाग उठता है। राजलक्ष्मी श्रीकान्त के अत्यन्त निकट आना चाहती है, परन्तु उसका वैधव्य एवं उसकी वर्तमान स्थिति बीच में रुकावट बन जाती है। फर श्रीकान्त और प्यारी एक-दूसरे के ऊपर अपने अधिकार का अनुभव करने लगते हैं, और उसका प्रयोग भी करते हैं।

श्रीकान्त अपनी घुमक्कड़ प्रवृत्ति तथा व्यवसाय के अभाव के कारण बर्मा चला जाता है। रास्ते में उसकी जान-पहचान अभया नामक एक 'फारवर्ड' लड़की से होती है, और उन दोनों में परस्पर दृढ़ मैत्री स्थापित हो जाती है। बर्मा पहुँचने पर श्रीकान्त अभया से प्रायः मिला करता है, और एक बार तो घोर रुग्णावस्था में श्रीकान्त की परिचर्या करके अभया उसकी जान बचा लेती है। अभया के कहने से ही वह राज्यलक्ष्मी के पास वापस कलकत्ता चला आता है।

अनेक दिन राज्यलक्ष्मी के साथ रहने के बाद श्रीकान्त फिर एक दिन बाहर निकल पड़ता है। इस बार वह एक वैष्णव-मठ में पहुँचता है, जहाँ की प्रमुख वैष्णवी कमल लता उसे रोक रखती है। श्रीकान्त का मन भी वहाँ से वापस आने को नहीं होता, और परम वैष्णवीय वातावरण में उसके कुछ दिन बड़े आराम से कट जाते हैं। कमल लता श्रीकान्त को हृदय से चाहती है, और मन-ही-मन उसका बड़ा आदर करती है।

अन्ततः श्रीकान्त जब उस आश्रम से फिर वापस कलकत्ता पहुँचता है तो उसे वहाँ राजलक्ष्मी उसकी प्रतीक्षा में मिलती है। इस बार राजलक्ष्मी अपने सारे मोह को छोड़कर, अपने सारे वैभव को त्यागकर, श्रीकान्त को सम्पूर्ण रूप में पाने के लिए आयी है। वह श्रीकान्त को अपने साथ गंगामाटी नामक गाँव में ले जाती है और वहाँ दोनों व्यक्ति परम शान्ति के वातावरण में रहने लगते हैं।

तभी एक दिन श्रीकान्त को अपने मित्र, एवं कमललता के प्रिय, गौहर की बीमारी का समाचार मिलता है। वह सीधा मुरारीपुर के लिए अकेले प्रस्थान करता है। उसके वहाँ पहुँचने के पहले ही गौहर की मृत्यु हो जाती है। कमललता के दुःख का पार नहीं रहता, और उसकी मानसिक वेदना तब और बढ़ जाती है, जब गौहर के साथ उनका अनुचित सम्बन्ध जानकर मठ के अधिवासी उसका तिरस्कार करते हैं। श्रीकान्त वापस गंगामाटी के लिए चल देता है; कमललता भी उसके साथ स्टेशन तक आती है। श्रीकान्त उसे वृन्दावन का टिकट देकर ट्रेन में बैठा देता है। 'गाड़ी दूर-से-दूर होने लगी, गवाक्ष से देखा, उसके झुके हुए मुँह पर

स्टेशन की प्रकाश-माला कई बार आकर पड़ी और फिर अन्धकार में मिल गयी। सिर्फ़ यही मालूम हुआ कि हाथ उठाकर मानो वह मुझे शेष नमस्कार कर रही है।' और यहीं श्रीकान्त की कथा समाप्त हो जाती है—मानव-जीवन की भाँति ही अपूर्ण और अशेष !

'श्रीकान्त' के विस्तृत कथा-भाग में लेखक ने तेरह नारी-पात्रों का अवतरण किया है। इनमें से अन्नदा, राजलक्ष्मी (प्यारी), अभया और कमललता उपन्यास में प्रमुख पात्रों का स्थान ग्रहण करते हैं; उनके व्यक्तित्व काफ़ी उभरे हुए हैं। टगर, सुनन्दा और पूटूँ का कथा-विधान में स्थानीय महत्त्व है, और शेष बुआजी, मालती, बर्मी स्त्री, कुशारी पत्नी, चक्रवर्त्ती-गृहिणी और पद्मा पार्श्व-चरित्र मात्र हैं। प्रमुख पात्रों में राजलक्ष्मी को छोड़कर, अन्नदा, अभया और कमललता का चित्रण केवल एक-एक पर्व में ही हुआ है। अन्नदा जीजी प्रथम पर्व में हमारे सम्मुख आती हैं, अभया दूसरे पर्व में और कमललता चतुर्थ पर्व में। केवल राजलक्ष्मी उपन्यास के चारों पर्वों में अंकित है। वस्तुतः राजलक्ष्मी ही 'श्रीकान्त' की कथा की, और श्रीकान्त के व्यक्तित्व की प्रमुख संवेदना है। सबसे पहले हम उसी के चरित्र का विश्लेषण करेंगे।

राजलक्ष्मी अथवा प्यारी को हम श्रीकान्त के जीवन का सत्य कह सकते हैं। उपन्यास में उसके प्रथम दर्शन प्यारी के रूप में होते हैं। कुमार के तम्बू की बाईजी, 'खूब सुन्दर, सुकण्ठ और गाने में निपुण' है; उसके होंठों का गठन कुछ इस क़िस्म का है, मानो हर बात वह मज़ाक में ही कहती है और मन-ही-मन हँसती है। एक वेश्या के आवरण में भी वह श्रीकान्त के प्रति अपने प्रेम को हृदय में सुरक्षित रख छोड़ती है। अपने बाल-सहचर को देखते ही उसके व्यक्तित्व की प्यारी का जीवन समाप्त हो जाता है। उसका इधर-उधर भटकता हुआ मन श्रीकान्त पर आकर स्थिर हो जाता है, जैसे कोई बरसात की उमड़ती हुई नदी किसी अज्ञात शक्ति के वशीभूत होकर शारदीय रजनी की सुरसरि-धार के समान शान्त हो जाय। यहीं से उसके जीवन का प्रथम अंक समाप्त होकर द्वितीय अंक आरम्भ हो जाता है। वह श्रीकान्त के घुमक्कड़ एवं बीहड़ मन को वश में करने की चेष्टा करती है; उसकी श्रीकान्त से यही प्रार्थना है कि 'सुख के दिनों में नहीं, तो दुःख के दिनों में मुझे न भूलिए।'

राजलक्ष्मी के चारित्रिक मूल्यांकन के लिए, उसके श्रीकान्त के साथ सम्बन्ध को हमें माप-स्वरूप स्वीकार करना होगा। उपन्यास के उत्तरार्द्ध में तो उसने अपना जीवन श्रीकान्त के साथ एकाकार ही कर दिया है। और उसका यह आत्मसमर्पण तभी प्रारम्भ हो जाता है, जब वह परिणत वय में श्रीकान्त को प्रथम बार देखती है। मार्ग में श्रीकान्त की रुग्णावस्था का समाचार पाकर वह सीधी उसे अपने घर लिवा लाती है। श्रीकान्त के स्वस्थ होने पर वह अपने खोये हुए

बाल्यावस्था के अधिकार को पुनः प्राप्त करना चाहती है, किन्तु श्रीकान्त का थकित व्यवहार उसे कुछ संकुचित कर देता है। कुछ दिनों तक लक्ष्मी एवं श्रीकान्त में इसी प्रकार की आँख-मिचौनी चलती है। पर अन्ततः श्रीकान्त के पुरुष की अकर्मण्य प्रकृति पर राजलक्ष्मी की नारी की ममता एवं स्नेह विजय प्राप्त कर लेता है। श्रीकान्त को पाने के लिए राजलक्ष्मी ने कितने प्रयत्न किये हैं, इसका स्पष्ट उल्लेख वह स्वयं करती है—"तुम्हें पाने के लिए मैंने जितना किया है, उससे आधा भी अगर भगवान् के पाने के लिए करती तो अब तक शायद वे भी मिल जाते। मगर मैं तुम्हें न पा सकी।" उद्धरण के अन्तिम अंश में श्रीकान्त को न पा सकने की जो खीज परिलक्षित है, वह स्पष्ट ही श्रीकान्त की अस्थिर प्रकृति के कारण है। पर राजलक्ष्मी का अपार धैर्य श्रीकान्त को पाकर ही रहता है। गोसाईं द्वारिकानाथ से वह यही आशीर्वाद चाहती है कि इसी तरह हँसते-खेलते इनके समक्ष ही एक दिन वह मर जाये। श्रीकान्त से वह कहती है, "तुम्हारी कुलटा राजलक्ष्मी ने अपनी नौ वर्ष की उम्र में उस किशोर वर को एक मन से जितना ज़्यादा प्यार किया था, इस संसार में उतना ज़्यादा प्यार कभी किसी ने किसी को नहीं किया।" वस्तुतः श्रीकान्त के प्यार में ही राजलक्ष्मी का भाग्य निहित है।

राजलक्ष्मी के जीवन-वृत्त से उसकी चारित्रिक दृढ़ता का बड़ा स्पष्ट आभास मिलता है। चतुर-बुद्धि रतन की इस बात में पर्याप्त सचाई है कि 'बाईजी की बात में कभी जरा भी फ़र्क़ नहीं पड़ता।' मानसिक दुःख का अत्यधिक भार उठाने पर भी वह धरित्री के समान सहनशील है। अभया के शब्दों में 'राजलक्ष्मी ने जीवन में दुःख को ही सम्बल-रूप से प्राप्त किया है।' पर इतने पर भी उसके चरित्र में विशुद्ध वैष्णव सहनशीलता का नमूना मिलता है। संयम उसके स्वभाव में सहज बन गया है। वह श्रीकान्त से स्वयं कहती है, "तुम्हारी लक्ष्मी चाहे जैसी हो लेकिन अस्थिर मन की नहीं है। उसने एक बार जिसे सत्य समझ लिया, फिर उसे उससे कोई डिगा नहीं सकता।"

संयम एवं सहनशीलता के साथ-साथ राजलक्ष्मी में व्यावहारिक साधना की भी कमी नहीं है। वह प्रारम्भ से ही एक भारतीय आचरण-शील रमणी के समान हमारे सम्मुख आती है। पुरुष एवं स्त्री का भेद करती हुई वह कहती है, "वे जो इच्छा हो खावें, जो इच्छा हो पहिनें, जैसे भी हो सुख से रहें, हम लोग आचार का पालन करती जावें, बस यही बहुत है।" कृच्छ्र-साधना में उसकी प्रवृत्ति उसे तपःपूत बनाती है। छुआछूत का विचार उसके जीवन के साथ इस प्रकार ग्रथित है कि इस विषय में सत्यासत्य का प्रश्न ही अवैध है। गुरु-पुरोहित, तैंतीस करोड़ देवता, तथा बहुत-सी विधवाओं का भरण-पोषण उसके चरित्र की धार्मिक पृष्ठभूमि है।

लक्ष्मी एक ओर जहाँ अपने चरित्र में इतनी सहज है, वहीं उसके व्यक्तित्व में आत्माभिमान एवं स्पष्टवादिता भी है। वह किसी बात को छिपाना नहीं जानती। प्यारी के रूप में वह श्रीकान्त से कहती है, "मैं भली औरत नहीं हूँ, यह तो तुम जानते हो ? फिर भी, तुम्हें क्यों सन्देह नहीं हुआ ?" स्पष्टवादिता की शक्ति वह कमललता से अर्जित करती है और अपने प्रियतम को वह अपनी सारी कलंक-कथा, उसके न चाहते हुए भी, सुना देती है। उसे अपने ऊपर पूरा विश्वास है और तभी तो वह कहती है, "जिस साधना से तुमको पाया जाता है, उससे तो भगवान् भी मिल सकते हैं। यह वैष्णव वैरागियों का काम नहीं है। मैं डरने जाऊँगी न जाने कहाँ की इस कमललता से ?"

अपने पूर्व के कलंकित जीवन के बावजूद राजलक्ष्मी का चरित्र अत्यन्त शान्त एवं दयामय है। सहिष्णुता उसके स्वभाव में है। गाँव में जो लोग उसके परम शत्रु हैं, उन्हीं के आठ-दस लड़कों को वह पढ़ाई-लिखाई का खर्च देती है। शीतकाल में कितने ही लोगों को कपड़े और कम्बल देती है। वस्तुतः उसकी इस दया की पृष्ठभूमि में स्वस्थ भावुकता है। उसका हृदय इतना कोमल है कि वह दूसरों के कष्टों का वर्णन सुन तक नहीं सकती। इसलिए स्टेशन-प्लेटफ़ार्म पर मिले हुए एक गरीब क्लर्क की लड़की सरला को वह एक साड़ी उपहार-स्वरूप भेजती है। दान ही नहीं वरन् अदम्य त्याग की भावना से उसका व्यक्तित्व परिपूर्ण है। सर्व-त्याग के द्वारा ही उसने अपने प्रेम को ऐसा निष्पाप, ऐसा एकान्त बना लिया है। श्रीकान्त के शब्दों में, "एक-एक करके सभी कुछ छोड़ दिया मालूम होता है। सिर्फ़ एक मैं ही बाक़ी रह गया हूँ।" निष्काम परोपकार की भावना उसके मन में बहुत दिनों से लगी हुई है। श्रीकान्त-द्वारा, अनजान चक्रवर्ती-गृहिणी की निर्धनता सुनकर वह उनका बहुत-सा कर्ज़ा अपने ऊपर ले लेती है। यहाँ हमें रुग्ण श्रीकान्त की परिचर्या करने के कारण चक्रवर्ती-गृहिणी के प्रति उसकी कृतज्ञता भी दिखाई देती है। रतन के अनुसार "माँ जब देती हैं तो दोनों हाथों से उँडेल देती हैं।" भगवती बाबू की चित्रलेखा की तुलना में शरत् की राजलक्ष्मी अधिक शान्त परन्तु अधिक प्रभविष्णु है। उसके राग में भी अनासक्ति है। इसी-लिए संन्यासी आनन्द को वह 'दुनिया से अलग की कोई चीज़' दिखाई पड़ती है।

राजलक्ष्मी के परोपकार-कृत्यों से स्पष्ट है कि उसका मन कितना दया एवं ममतामय है। अपने सौतेले लड़के बंकू को वह अपने पुत्र के समान ही मानती है। यौवनावस्था में बदल जाने पर भी, बालक बंकू की धारणा है कि ऐसी माँ सबको नसीब नहीं हो सकती। राजलक्ष्मी स्वयं उसकी भावनाओं का इतना अधिक ध्यान रखती है कि उसके समक्ष वह यह भी नहीं चाहती कि कोई उसे 'प्यारी' कहकर सम्बोधित करे, और इस प्रकार उसके पुत्र को स्मरण दिलावे

कि उसकी माँ एक नाचने-गाने वाली बाईजी है। 'उसकी असंयत कामना, उच्छृंखल प्रवृत्ति, उसे चाहे जितने अधःपात की ओर क्यों न ठेलना चाहे, परन्तु यह बात भी तो उससे भूली नहीं जाती कि वह एक लड़के की माँ है।' लेखक के अनुसार, ऐसी रमणियों को देखकर यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि नारी की चरम सार्थकता मातृत्व में है। राजलक्ष्मी अपनी मूल प्रकृति में एक गृहिणी है, इसीलिए 'लोगों का गेरुवा वसन छुड़वाना उसका काम हो गया है।' एक गृहिणी के रूप में उसका अतिथि-सत्कार उसकी खास अपनी चीज है।

अपने इन्हीं गुणों के कारण राजलक्ष्मी की प्रभविष्णुता अदम्य है। रतन के शब्दों में, ''क्या जाने क्या जादू-मन्त्र जानती हैं वे! अगर कहें कि तुम लोगों को यमराज के घर जाना होगा, तो इतने आदमियों में किसी की हिम्मत नहीं कि कह दे, 'ना'।'' वस्तुतः उसकी इस प्रभविष्णुता का एक कारण उसकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि है। वह दूसरे के मन की बातों को दर्पणवत् स्पष्ट देख सकती है। इसके अतिरिक्त अपने सरल व्यवहार में भी वह बेजोड़ है। 'अपनी इच्छा को ही जबर्दस्ती दूसरे के कन्धे पर लाद देने के कड़ुएपन को वह स्नेह के मधुर-रस से इस तरह भर दे सकती है कि उस ज़िद के विरुद्ध किसी का भी कोई संकल्प सिर नहीं उठा सकता।' उसकी व्यवहारकुशलता में वह करामात है, जिससे कुशारी पत्नी एवं उनकी देवरानी के बीच बहुत दिन से चला आने वाला कलह समाप्त हो जाता है। इस व्यावहारिक बुद्धि के न होने के कारण ही वह शास्त्र-ज्ञाता सुनन्दा को बहुत ऊँचा स्थान नहीं देती। उसकी विचार-शक्ति एवं मनुष्यों की परख कुछ कम नहीं है। सुनन्दा के बारे में वह कहती है, ''उसकी पोथी की विद्या जब तक मनुष्यों को सुख-दुःख, भलाई-बुराई, पाप-पुण्य, लोभ-मोह के साथ सामंजस्य नहीं कर पाती, तब तक पुस्तकों के पढ़े हुए कर्त्तव्य-ज्ञान का फल मनुष्यों को बिना कारण छेदेगा, अत्याचार करेगा और तुम्हें बताये देती हूँ कि संसार में किसी का भी कल्याण नहीं करेगा।'' इस कथन से हमें उसकी गहरी अन्तर्दृष्टि का पता चलता है। किन्तु उसकी व्यवहारकुशलता एवं अन्तर्दृष्टि के अतिरिक्त, उसके चरित्र की प्रभावोत्पादकता का मुख्य कारण उसका 'भद्रपन' है। वह अपनी प्रकृति से कभी किसी को हानि नहीं पहुँचा सकती। राजलक्ष्मी की प्रभविष्णुता श्रीकान्त की अकर्मण्यता के समक्ष और भी अधिक प्रदीप्त हो उठती है।

लक्ष्मी के चरित्र का विश्लेषण करते समय एक बात के लिए हमें विशेष रूप से सावधान रहना पड़ेगा, और वह यह है कि अपनी सारी प्रभविष्णुता के बावजूद, राजलक्ष्मी श्रीकान्त के चंचल मन के समक्ष सदैव झुकी-सी रहती है। श्रीकान्त अकर्मण्य है, इसलिए राजलक्ष्मी की नारी उसे निश्चित रूप से प्रभावित करती है, किन्तु बदले में श्रीकान्त की आकर्षण-शक्ति भी कुछ कम नहीं है।

राजलक्ष्मी, शायद व्यक्तित्व की विपर्ययता के कारण, पुरुष के प्यार को अधिक महत्त्व देती है। 'दुःख के तराजू में इस आत्मोत्सर्ग के साथ समतौलता बनाये रखने के लिए जिस प्रेम की ज़रूरत है, उसे यदि पुरुष अपने भीतर से बाहर न प्रकट कर सके, तो किसी भी स्त्री के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह पूरा कर सके।' और इसलिए नारी के समक्ष पुरुष को प्राथमिकता देती हुई वह आगे कहती है, "पुरुष जाति चिरकाल से ही उच्छृंखल रही है, चिरकाल से ही कुछ-कुछ अत्याचारी भी रही है; किन्तु, इसीलिए तो स्त्री के पक्ष में भाग खड़े होने की युक्ति काम नहीं दे सकती। स्त्री जाति को सहन करना ही होगा; नहीं तो संसार नहीं चल सकता।' और नारी-जाति के सम्बन्ध में उसके यह विचार तभी हैं, जब वह स्वयं पर्याप्त रूप से सहनशील है। उसके लिए कष्टों का बोझा उठाना ही परम नारीत्व है और 'इसमें कोई हीनता की बात नहीं है।' पुरुष के प्रति उसका आत्म-समर्पण इतना अधिक है कि वह श्रीकान्त को अपना गुरु—अपने सारे कर्मों का नियामक मानती है।

राजलक्ष्मी के चरित्र के माध्यम से शरत् के कृतित्व पर कई आरोप लगाये गये हैं; उनमें से सर्वप्रमुख यह है कि शरत् ने अपने जीवन-दर्शन में पतित नारियों एवं वेश्याओं के प्रति सहानुभूति ही नहीं प्रकट की, वरन् उनको अवांछनीय उच्च स्थान दिया है, और ऐसा करने से कला की सामाजिकता को धक्का पहुँचाया है। यह सच है कि शरत् की एक-आध कृतियों को पढ़कर बहुत शीघ्रता में ऐसी धारणा बना लेना नितान्त स्वाभाविक है, परन्तु लेखक के दृष्टिकोण को कुछ अधिक गहराई से समझने पर उक्त धारणा भ्रान्तिमूलक जान पड़ेगी। 'श्रीकान्त' की राजलक्ष्मी को ही लीजिए ! उसके जीवन का पूर्वार्द्ध प्यारी वेश्या के रूप में बीता है। किन्तु प्रश्न तो यह है कि उसके वेश्या बनने का कारण क्या है? इसके उत्तर में हमारे सम्मुख उसका बाल-विवाह और उसके दुष्परिणाम आ जाते हैं। लक्ष्मी एवं उसकी बहिन का विवाह एक साथ ही, एक अधेड़ ब्राह्मण रसोइये के साथ होने वाला था, किन्तु दहेज के कारण ब्याह आधा ही रह गया, और राज-लक्ष्मी के जीवन का कोई भी सहारा अवशिष्ट न रहा। ऐसे समय में उसे 'कुत्ते-बिल्लियों की-सी दुर्दशा' का सामना करना पड़ा। इन सारे दुःखों से घबड़ाकर अपरिणत वय में ही उसने वेश्या का रूप स्वीकार कर लिया।

यह तो हुई उसकी चारित्रिक पृष्ठभूमि, किन्तु क्या इतना सब होने पर भी उसे पतित कहा जा सकता है? शायद नहीं ! उसका वात्सल्य, उसकी पति-भक्ति उसकी सहनशीनता किसी भी भारतीय नारी के लिए गौरव का विषय हो सकती है। उसके व्यक्तित्व में व्यभिचार-बुद्धि का अभाव है। अपने देश के सतीत्व पर उसे गर्व है, पति-परित्याग उसके निकट पाप की सीमा है। और उसकी सहिष्णुता तो सचमुच सराहनीय है, जिसके सहारे वह श्रीकान्त के बीहड़ मन को भी वश में

कर लेती है। अपने इन्हीं गुणों के कारण राजलक्ष्मी उपन्यासकार के लिए ही नहीं, वरन् पाठक के लिए भी श्रद्धेय है। फिर शरत् की अन्नदा जीजी के सम्बन्ध में उच्च धारणाएँ उन्हें असतीत्व का समर्थक नहीं ठहरातीं।

राजलक्ष्मी के उपरान्त 'श्रीकान्त' में दूसरा प्रमुख नारी-चरित्र अन्नदा का है। उपन्यास में अन्नदा का बहुत कम अंकन हुआ है, परन्तु उसके जीवन का जितना भाग भी चित्रित है, वह भागीरथी के जल के समान निर्मल एवं पवित्र है। अन्नदा दीदी के प्रभाव के कारण ही श्रीकान्त के रूप में लेखक 'स्त्री जाति को कभी तुच्छ रूप में नहीं देख सका।' उनको देखने से ऐसा जान पड़ता है, 'मानो राख से ढँकी हुई आग हो। जैसे युग-युगान्तरव्यापी कठोर तपस्या समाप्त करके अभी आसन से ही उठकर आयी हो।' वे पारस-मणि के समान उज्ज्वल एवं दिव्य हैं; उनका स्पर्श लोहे को सोना बना देता है। श्रीकान्त का दृढ़ विश्वास है कि 'उनका दर्शन पाकर प्रत्येक उपस्थित व्यक्ति सच्चरित्र साधु हो जाता।' कहना न होगा कि अन्नदा की इस प्रभविष्णुता का आधार उनका अपूर्व शील-सौजन्य है। उन्हें देखने से ही मानो हृदय में स्नेह एवं श्रद्धा का संचार होने लगता है।

अन्नदा के चरित्र का सर्वप्रमुख गुण उनकी अटल पति-भक्ति है। क्रुद्ध श्रीकान्त कहता है, "उस दिन से अब तक इस शैतान के बच्चे ने (अन्नदा का गँजेड़ी पति) उन्हें कितनी मार मारी है, इसका कोई हिसाब नहीं। इतने पर भी जीजी लकड़ी ढोकर, कण्डे बेचकर किसी तरह इसे खिलाती-पिलाती हैं, गाँजे के लिए पैसे देती हैं—फिर भी यह उनका अपना न हुआ।" अन्नदा ने पति को अपना धर्म तक समर्पित कर दिया है। उनके मुसलमान हो जाने पर वह स्वयं को भी मुसलमान ही मानती हैं। शाहजी की मृत्यु के उपरान्त वे अकेले उनका सारा कर्ज़ चुकाती हैं, क्योंकि पति का ऋण खुद उनका ऋण है।

अन्नदा का दाम्पत्य-जीवन अपने प्रारम्भिक काल से लेकर पति के बिछोह तक प्रायः दुःखमय ही बीता। उनके पति ने सदैव उनके एवं अपने लिए लज्जा एवं कलंक के उपकरण प्रस्तुत किये, परन्तु वे किसी प्रकार उन्हें दबाती चलीं। यहाँ तक कि एक धनी परिवार की कन्या होने पर भी वे अपने पति के साथ घर छोड़ कर चली आयीं और जब कि उनके पति अत्यन्त निर्धनावस्था में सँपेरे का काम करके गहन वन में कुटिया बनाये हुए रहते थे। यहाँ उनका जीवन कितने दुःख एवं कितनी करुणाजनक अवस्था में बीता, इसका अन्दाज़ लगाना कठिन है। परन्तु इतने पर भी उनका धैर्य, उनकी सहनशीलता अटल रही। वे अपने दुःखों के लिए स्वयं अपने पूर्व-जन्म के पापों को ही उत्तरदायी ठहराती हैं। किसी अन्य व्यक्ति के ऊपर दोषारोपण करना उनके स्वभाव के विरुद्ध है।

अन्नदा जीजी के समान 'पतिव्रता स्त्री' का श्रीकान्त के कोमल मन पर पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा है। उनके शान्त एवं सजल व्यक्तित्व के कारण वह नारी

के कलंक की बात पर सहज ही विश्वास नहीं कर सकता। 'सोचता हूँ कि न जानते हुए नारी के कलंक की बात पर अविश्वास करके संसार में ठगा जाना भला है, किन्तु विश्वास करके पाप का भागी होना अच्छा नहीं।" जिस अन्नदा का स्मरण-मात्र इतना पुनीत है, उसके व्यक्तित्व की शुभ्रता एवं पवित्रता का अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है। श्रीकान्त के शब्दों में, "जिनके मुख की याद मन में लाते ही, न मालूम कैसे, प्रथम यौवन की उच्छृंखलता अपने आप सिर झुका लेती है।" संन्यासिनी ऐसी शान्त अन्नदा एवं धरित्री के समान सहनशील उसका मन किसी भी व्यक्ति के हृदय में श्रद्धा एवं विश्वास संचारित कर सकता है। श्रीकान्त के जीवन के तो कण-कण पर अन्नदा का प्रभाव छा गया है। उसने प्रण किया है, कि 'जीवन में जब कभी किसी के मुँह से ऐसी कोमल बोली, होंठों में ऐसी मधुर हँसी, ललाट पर ऐसा अलौकिक तेज, आँखों में ऐसी सजल करुण दृष्टि पाऊँगा, तभी मैं आँख उठाकर उसकी ओर देखूँगा। जिसे मैं अपना मन दूँगा वह भी मानो ऐसी ही सती-साध्वी होगी।' और सचमुच ही श्रीकान्त के माध्यम से अन्नदा का अलौकिक तेज मानो राजलक्ष्मी में प्रतिबिम्बित होकर उसकी काया को तपःपूत बना देता है, उसके असत् को सत् में परिवर्तित कर देता है।

अन्नदा का जीवन पितृ-गृह छोड़ने के बाद दुःखमय बीता है। अभया उनकी कथा सुनकर कह उठती है, "श्रीकान्त बाबू! अन्नदा जीजी, राजलक्ष्मी—इन दोनों ने जीवन में दुःख को ही सम्बल रूप से प्राप्त किया है।" विरोधाभास-सा जान पड़ने पर भी यह सच है कि अन्नदा का व्यक्तित्व दुःख एवं कष्टों पर आधारित है। श्रीकान्त का विश्वास है कि 'मेरी अन्नदा जीजी अपने दुःख का सारा भार चुपचाप सहन करने के सिवाय और कुछ न कर सकतीं।' इस सती-सावित्री के देश में भगवान् ने सचमुच ही पति के कारण सहधर्मिणी को अपरिसीम दुःख देकर, सती के माहात्म्य को उज्ज्वल-से-उज्ज्वलतर करके संसार को दिखाया है। पर अन्नदा ऐसी सती के मुँह पर असती की काली छाप मारकर उसे हमेशा के लिए संसार से क्यों निर्वासित कर दिया, इसका रहस्य कोई नहीं जानता। शायद ऐसी नारियों का सम्पर्क ग्रहण करने लायक आज का समाज है नहीं। तभी तो उनका व्यक्तित्व कीचड़ के देश में कमल के समान लगता है।

अन्नदा जीजी दुखी होने पर भी सहनशील और स्वाभिमानिनी हैं। वे शाहजी का ऋण अपने आभूषणों को बेचकर चुकाती हैं, और अपने स्नेहमय बन्धु-द्वय इन्द्रनाथ और श्रीकान्त से कुछ भी आर्थिक सहायता नहीं लेतीं, क्योंकि उनमें से कोई भी स्वयं जीविकोपार्जन नहीं करता। 'कुल बाईस पैसे लेकर उस निरुपाय निराश्रय स्त्री ने संसार के सुदुर्गम पथ में अकेले यात्रा कर दी है।' और उन्हें दान देने का साहस भी किस में था; उस जलती अग्निशिखा में जो

कुछ भी दिया जाता, वह जलकर ख़ाक हो जाता। अन्नदा जीजी सन्तोष एवं धैर्य की जीवित प्रतीक हैं। उन्होंने भगवान् के चरणों में एकान्त भाव से अपने आप को समर्पित कर दिया था। शाहजी की मृत्यु पर भी वे विशेष दुखी नहीं होतीं, केवल यही कहती हैं, "जाने दो, अच्छा ही हुआ इन्द्रनाथ, भगवान को मैं तनिक भी दोष नहीं देती।" नारी का ऐसा चरित्र जिसे किसी से कुछ भी शिकायत नहीं है, किसी भी समाज एवं साहित्य में गौरव की वस्तु हो सकता है। शरत् की कला के फलस्वरूप अन्नदा जीजी के अंकन में जो व्यंजनात्मकता आ गयी है, इससे उनका चरित्र और भी शुभ्र एवं श्रद्धेय हो उठा है।

राजलक्ष्मी एवं अन्नदा के पश्चात् 'श्रीकान्त' में तीसरा प्रमुख नारीचरित्र अभया का है। अभया के नाम में ही उसके व्यक्तित्व की पूरी-पूरी व्यंजना छिपी हुई है। भय उसके मानसिक संस्थान का अंग नहीं है। उसकी शारीरिक रूप-रेखा उसकी प्रभावोत्पादकता को भलीभाँति व्यक्त करती है—'ऊँचा कपाल स्त्रियों की सौन्दर्य-तालिका में कोई स्थान नहीं रखता, यह मुझे मालूम है; फिर भी इस तरुणी के चौड़े मस्तक पर बुद्धि और विचार-शक्ति की एक ऐसी छाप लगी हुई देखी जिसे मैंने कदाचित् ही देखा है।' उसकी बातचीत से भी यह ज्ञात होता है कि वह 'अत्यन्त फारवर्ड' है। वस्तुतः उसका चरित्र शरत् के नारी-समाज के उस वर्ग के अन्तर्गत आता है, किरणमयी जिसकी अग्रगामिनी है तथा कमल जिसकी सौम्य प्रतिनिधि है। 'चरित्रहीन' की किरणमयी का विद्रोह दूध के पहले उफ़ान की तरह अत्यन्त तीव्र एवं आवेगपूर्ण था; परन्तु अभया तक आते-आते यह विद्रोह पर्याप्त स्थिर एवं संयमित हो गया है।

अभया, किरणमयी की भाँति, प्राचीन परम्पराओं का एकदम ही तिरस्कार नहीं करती। उसमें प्रभविष्णुता है, मनुष्य को वश में करने की अद्‌भुत शक्ति है; इतने पर भी उसका व्यक्तित्व अत्यन्त शान्त है । वह अपनी सौत के साथ मज़े में गिरस्ती चला सकती है। स्वामी द्वारा तिरस्कृत एवं परित्यक्त होने पर भी उसकी पति-भक्ति कम नहीं हुई है। निष्ठुर पति को खोजने के लिए वह अनेक कष्टों को सहन करती हुई, एक दूर के रिश्ते के भाई रोहिणी को साथ लेकर बंगाल से बर्मा आ पहुँची है। श्रीकान्त से वह कहती है, "आपके मुँह में फूल-चन्दन पड़ें, श्रीकान्त बाबू, मैं और कुछ नहीं चाहती। वे जीवित हैं, बस इतना ही मेरे लिए काफ़ी है।" उसकी प्रभविष्णुता इतनी अधिक है कि उसके निर्लज्ज पति को भी स्वीकार करना पड़ता है कि 'ऐसी सती लक्ष्मी क्या कहीं और है ?'

परन्तु उक्त विवेचना से यह नहीं समझना चाहिए कि अभया की पति-भक्ति परम्परानुगत है। 'शेष प्रश्न' की कमल का स्मरण दिलाती हुई वह कहती है, "एक दिन मेरे द्वारा जो विवाह के मन्त्र बोल लिये गये थे उन्हीं को बुलवा लिया जाना ही क्या मेरे जीवन का एक मात्र सत्य है, बाक़ी सब बिलकुल मिथ्या ही

है ? इतना बड़ा अन्याय, इतना बड़ा निष्ठुर अत्याचार, मेरे पक्ष में कुछ भी, कुछ भी नहीं है ?" वह अपनी विचार-शैली में काफ़ी सुलझी हुई है । जब वह देखती है कि उसका पति किसी भी प्रकार उसके साथ रहने को तैयार नहीं तो वह स्वयं ही उसका त्याग कर देती है, और रोहिणी के साथ अपना नया घर बसा लेती है । इस प्रकार उसका चरित्र आदर्श अथवा यथार्थ न होकर, नितान्त स्वाभाविक है । सब औसत मनुष्यों की भाँति उसके व्यक्तित्व में भी भलाई और बुराई के परमाणु हैं, जिनमें कभी एक पक्ष विजयी होता है, और कभी दूसरा । हाँ, अन्नदा जीजी जैसे आदर्श नारी-चरित्रों के सम्मुख उसका चित्रण यथार्थवादी अधिक है । पर व्यक्तित्व की ऊँची-नीची भूमियों के बावजूद उसका मन, राजलक्ष्मी के समान हो, 'सचमुच भद्र है ।' इसीलिए उसकी आकर्षण-शक्ति का अनुभव करके श्रीकान्त को कहना पड़ता है, "यह कौन है जो मुझे इस तरह धीरे-धीरे जोर डालकर अपने जीवन के साथ जकड़ रही है ।"

उपन्याकार के अधिकांश प्रतिनिधि नारी-पात्रों की परम्परा में अभया अत्यन्त सहनशील एवं कर्मण्य है । नितान्त कष्टमय परिस्थितियों में भी वह हँस सकती है, यद्यपि उसकी हँसी में उसके भयानक दुःख की छाया दिखाई देती है । परन्तु उसकी सहनशीलता की एक सीमा है, क्योंकि अपनी प्रकृति में वह कर्मण्य है । वह आराम से बैठना नहीं जानती; उसका चरित्र स्थिर (static) न होकर गत्यात्मक (dynamic) है । इसीलिए प्रचलित परम्पराओं के प्रति वह विद्रोह करती है । 'चिरकाल से ही स्त्रियों को ऐसे दुर्भाग्य का भोग करना पड़ रहा है और इस दुःख को सहन करते रहने में ही उनके जीवन की चरम सफलता है,' यह सोचकर उसकी अपनी विपत्तियों एवं निराशा के बीच वह चुपचाप नहीं रह सकती । उसका उद्योग ही उसे दूर देश तक लाया है, और उसका उद्योग ही उसके आने वाले जीवन को भी सफलतापूर्वक ग्रथित करता है । प्रसिद्ध समीक्षक श्री इलाचन्द्र जोशी का यह मत कि 'शरत् की नारियों का विद्रोह समुद्र के तूफ़ान के समान है, जो अपनी मर्यादा को लांछित नहीं कर सकता, अभया के इस संयमित असन्तोष एवं विद्रोह के सम्बन्ध में कदाचित् सर्वाधिक सत्य है ।

अभया की व्यवहार-कुशलता कम ध्यान देने योग्य नहीं है । श्रीकान्त के निकट आने पर भी बर्मा की यात्रा के समय उसके व्यवहार में ऐसा कुछ था जो प्रत्येक क्षण याद दिला दिया करता था कि 'हम लोग केवल यात्री हैं जो एक जगह ठहर गये हैं—किसी के साथ किसी का सचमुच का कोई सम्बन्ध नहीं है; दो दिन बाद शायद जीवन-भर फिर कहीं किसी की किसी से मुलाकात ही न हो ।' इस प्रकार, कुछ आवश्यक प्राचीन संस्कारों के साथ वह 'फारवर्ड' है— आधुनिका है । दूसरे के मनोभावों को पहिचानने में वह प्रायः भूल नहीं करती । श्रीकान्त के मन की चिन्ता को वह भलीभाँति, अनायास ही समझ लेती है ।

किरणमयी के वर्ग की नारी होने के कारण अभया की विचार-शक्ति पर्याप्त रूप से परिपक्व है। 'अभया केवल अपने मत को अच्छा प्रमाणित करने के लिए ही वाग्वितण्डा नहीं करती—वह अपने कार्य को भी बलपूर्वक विजयी करने के लिए बाक़ायदा युद्ध करती है। उसका मत कुछ हो और काम कुछ हो, ऐसा नहीं है।' नाम के महत्त्व पर प्रकाश डालती हुई वह कहती है, "नाम ही तो सब कुछ है श्रीकान्त बाबू, नाम को छोड़कर दुनिया में और है ही क्या? ग़लत नामों के भीतर से मनुष्य की बुद्धि की विचारशीलता और ज्ञान की धारा कितनी बड़ी भूलों के बीच बहायी जा सकती है, सो क्या आप नहीं जानते? इसी नाम के भुलावे के कारण ही तो सब देश और सब काल विधवा के आचरण को सबसे श्रेष्ठ मानते आ रहे हैं। यह निरर्थक त्याग की निष्फल महिमा है श्रीकान्त बाबू, बिलकुल ही व्यर्थ, बिलकुल ही ग़लत।" अभया के इन तर्कों को सुनकर श्रीकान्त को कहना पड़ता है, "दरअसल उसे बहस में हरा देना एक तरह से असम्भव ही है।" अभया को अपने मतामत पर पूरा विश्वास भी है। बर्मा जाते समय वह श्रीकान्त से कहती है—"यदि कहीं अटको तो चिट्ठी लिख कर मेरी राय ज़रूर ले लोगे!"

अभया की पारिवारिक दशा अत्यन्त दयनीय है; उसके बाप हैं नहीं, माँ भी मर गयी हैं, और इस सबके ऊपर पति का निष्ठुर व्यवहार एवं लांछना उसके लिए असह्य हो गयी है। अन्त में, पति का घर छोड़कर वह स्वयं ही नहीं चली जाती, वरन् वह वहाँ से तिरस्कृत करके निकाली जाती है। ऐसी दशा में उसका आत्म-सम्मान अनेक सामाजिक विधानों के रहते हुए भी उभर पड़ता है, और वह श्रीकान्त से कहती है—"वे अपनी बर्मी स्त्री को लेकर सुख से रहें, मुझे इसकी कोई शिकायत नहीं; किन्तु मैं आपसे यह बात जानना चाहती हूँ कि पति जब एकमात्र बेत के ज़ोर से स्त्री के समस्त अधिकारों को छीन लेता है और उसे अंधेरी रात में अकेली घर के बाहर निकाल देता है, तब इसके बाद भी विवाह के वैदिक मन्त्रों के ज़ोर से उस पर पत्नी के कर्त्तव्यों की जिम्मेदारी बनी रहती है या नहीं?" पति का घर छोड़ कर आने के बाद अभया का दुखित मन और भी चिड़चिड़ा हो जाता है। उसका स्नेह—उसकी ममता केवल दो ही व्यक्तियों के लिए अवशिष्ट रह जाती है—एक तो रोहिणी और दूसरे श्रीकान्त। रोहिणी के साथ वह गार्हस्थिक जीवन का समारम्भ कर देती है, और श्रीकान्त जैसे मित्र की वह प्लेग की भयानक बीमारी में सेवा-शुश्रूषा करने से नहीं हटती। वस्तुतः अभया की नारी का अपार स्नेह उसके दुर्भाग्य के ताप के कारण सूख गया है। माँ बनने की लालसा उसके मन में विद्यमान है; अपने भावी पुत्र का पालन, वह सारा कलंक और सारा अपयश सिर पर लेकर भी, करने को तैयार है। रोहिणी का प्रेम तो उसके जीवन का सर्वस्व हो गया है। ऐसे मनुष्य के सारे जीवन को

लँगड़ा बनाकर वह 'सती' का खिताब नहीं खरीदना चाहती, यह वह स्वयं स्वीकार करती है।

'श्रीकान्त' के नारी-समाज के तीनों प्रमुख व्यक्तित्व—राजलक्ष्मी, अन्नदा और अभया एक-दूसरे के लिए अपने-अपने हृदय में पर्याप्त स्थान रखते हैं। अभया अन्नदा जीजी की भक्त है, और राजलक्ष्मी अभया के सम्मुख नतमस्तक है, यद्यपि इनमें से किसी ने किसी को देखा नहीं है। पर श्रीकान्त अभया और अन्नदा के चरित्र की तुलना में अन्नदा को ही ऊँचा स्थान देता है—'यह भी ठीक है कि उसके (अभया के) विचारों की स्वाधीनता, उसके आचरण की निर्भीक सावधानता, उसका परस्पर का सुन्दर और असाधारण स्नेह—यह सब मेरी बुद्धि को उसी ओर निरन्तर आकर्षित करते थे, किन्तु फिर भी, मेरे जीवन-भर के संस्कार किसी तरह भी उस ओर मुझे पैर नहीं बढ़ाने देते थे। मन में केवल यही आता था कि मेरी अन्नदा जीजी यह कार्य न करतीं।' अन्नदा की अपार कष्ट-सहिष्णुता के सम्मुख अभया का यह जीवन निश्चय ही अधिक महिमामय नहीं है—कम-से-कम भारतीय दृष्टिकोण से—कि 'सुख प्राप्त करने के लिए दुःख स्वीकार करना चाहिए, यह बात सत्य है किन्तु इसीलिए, यह स्वतः सिद्ध नहीं हो जाता कि जिस तरह भी हो, बहुत-सा दुःख भोग लेने से ही सुख हमारे कन्धों पर आ बैठेगा।' यद्यपि यह ठीक है कि 'अभया के लिए कुछ भी कठिन नहीं है। मृत्यु ! वह भी उसके आगे छोटी ही है', तथापि उसका मन तपस्या के भारतीय आदर्शों से युक्त नहीं—वस्तुतः अभया के व्यक्तित्व, विचार-धारा एवं आचरण में प्राच्य एवं प्रतीच्य की प्रकृति का अद्भुत मिश्रण है; पर उसके 'मन में (किरणमयी एवं कमल के समान ही) जलेबी-जैसा पेच है।'

'श्रीकान्त' में चौथा प्रमुख नारी-चरित्र है कमललता वैष्णवी का। उम्र उसकी तीस से ज्यादा नहीं होगी—श्यामवर्ण, इकहरा बदन, हाथ में कुछ चूड़ियाँ हैं पीतल की—सोने की भी हो सकती हैं। बाल छोटे-छोटे नहीं हैं, गिरह देकर पीठ पर झूल रहे हैं। गले में तुलसी की माला और हाथ की थैली के भीतर भी तुलसी की जपमाला है। छापे-आपे का ज्यादा आडम्बर नहीं है। सब व्यवस्थाओं में उसका कर्तृत्व है सबके ऊपर, किन्तु स्नेह से, सौजन्य से और सर्वोपरि सविनय कर्मकुशलता से यह कर्तृत्व इतनी सहज श्रृंखला में प्रवहमान है कि कहीं भी ईर्ष्या-विद्वेष का ज़रा-सा भी मैल नहीं जमने पाता। उपन्यासकार के इन वर्णनों से कमललता की वैष्णवी वेश-भूषा और भाव-भंगिमा पाठक के मानस-चक्षुओं के सम्मुख नितान्त साकार हो जाती है। उसका शान्त एवं सौम्य व्यक्तित्व जीवन के तूफ़ानों से भरा हुआ है, इस बात को आसानी से नहीं जाना जा सकता। उसका पूर्व-जीवन समाज की दृष्टि से कलंकित है। वैष्णवी होने से पहले उसका नाम था उषा। अपने होने वाले पति मन्मथ की वंचना के फलस्वरूप वह

अविवाहितावस्था में ही माँ बन गयी। अपने नवजात शिशु को गंगा में बहाकर उसने एक पाप और अर्जित किया। अन्ततः सब ओर से विमुख होकर वह वैष्णवियों के मठ में आकर सम्मिलित हो गयी।

कमललता में प्रेम करने की अपूर्व शक्ति है, किन्तु उसके हृदय की रागात्मिका वृत्ति पूर्णतः व्यक्त नहीं हो पाती। अन्दर-ही-अन्दर घुटते रहने के कारण उसका प्रेम अदम्य हो गया है। इस बात का उल्लेख करती हुई वह श्रीकान्त से कहती है, "तुम लोगों के और हम लोगों के प्यार की प्रकृति ही भिन्न है। तुम लोग चाहते हो विस्तार और हम चाहती हैं गम्भीरता, तुम लोग चाहते हो उल्लास और हम चाहती हैं शान्ति। जानते हो गुसाँई कि प्रेम के नशे से हम भीतर-ही-भीतर कितना डरती हैं। उसके उन्माद से हमारे हृदय की धड़कन नहीं रुकती।" यद्यपि आश्रम के वातावरण के फलस्वरूप उसकी वासना का उन्नयन भक्ति में हो चला है, तथापि उसका अतृप्त प्रेम अपने लिए उपयुक्त आश्रय की खोज में प्रवृत्त है। उसका स्नेह सार्वजनीन है; 'किसी के चले जाने पर वह शोक में अधमरी हो जाती है।' पर इससे उसके उमड़ते हुए राग को अभिव्यक्ति नहीं मिलती। पूर्ण आस्तिक होते हुए एवं भगवद्-भक्ति के वातावरण में रहते हुए भी उसका आत्मसमर्पण पूरा नहीं हो पाता, जिसके लिए सम्पूर्ण मानवता साधारणतः, और स्त्री-जाति विशेषतः, सदैव लालायित रहती है।

उषा के रूप में कमल लता की रागात्मक वृत्तियाँ सबसे पहले मन्मथ पर केन्द्रीभूत हुई थीं। श्रीकान्त को वह बताती है, "फिर भी, एक दिन उससे ज्यादा मेरा अपना कोई नहीं था——संसार में इतना प्यार किसी ने भी किसी को नहीं किया होगा।" पर तन-मन सौंप देने के उपरान्त भी उसे अपने प्रिय से प्रतिदान-स्वरूप वंचना मिली। इसके बाद, मठ में आने पर उसका झुकाव गौहर की ओर हुआ। किन्तु इस बार उसके प्रेम के बीच धर्म की ऊँची, अलंघ्य दीवार थी। निदान, इस बार भी उसका प्यार अभिव्यक्त न हो सका। तभी उसके आश्रम में श्रीकान्त का आगमन हुआ। अब उसने सोच लिया था कि वह श्रीकान्त को अपने पास से न जाने देगी। किन्तु वह 'विवाहित' श्रीकान्त का भी सामीप्य प्राप्त न कर सकी। श्रीकान्त के चले जाने पर गौहर बीमार पड़ा और उसकी मृत्यु हो गयी। उसकी रुग्णावस्था के समय कमललता ने अन्तिम तीन दिनों में न तो खाना खाया और न सोयी, गौहर का बिछौना छोड़कर वह एक बार भी नहीं उठी। कमल लता के इस व्यवहार के कारण मठवालों ने उसका तिरस्कार किया। इस लांछना से ऊबकर वह कहीं बाहर जाने की इच्छा करने लगी। इसी बीच मित्र की बीमारी का समाचार देर से पाकर, श्रीकान्त भी आये। कमल लता उन्हीं के साथ गाँव छोड़कर चली आयी, शेष जीवन के दिन वृन्दावन में बिताने के लिए। वृन्दावन जाने को तैयार श्रीकान्त से विदा लेते समय वह कहती है,

"जानती हूँ कि तुम्हारे कितने आदर की हूँ। आज विश्वासपूर्वक उनके पाद-पद्मों में मुझे सौंप कर तुम निश्चिन्त होओ, निर्भय होओ। मेरे लिए सोच-सोचकर अब तुम अपना मन खराब मत करना गुसाँई, तुम्हारे निकट मेरी यही प्रार्थना है।"

यह है बहुत संक्षेप में कमललता की प्रेम-कथा। उसके निरुपाय जीवन में मन्मथ, गौहर तथा श्रीकान्त का प्रवेश हुआ, किन्तु किसी से भी उसे अपने प्रेम का प्रतिदान न मिल सका। अन्ततः भारी मन और एकाकी जीवन लिये हुए वह वृन्दावन-विहारी की शरण में चली गयी, जिससे कि निराश्रय जिन्दगी के अन्तिम दिन त्याग एवं शान्ति के वातावरण में बिताये जा सकें।

कमललता का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभविष्णु है। उसके रूप-रंग तथा व्यवहार में आकर्षण और जादू भरा हुआ है। इस प्रभविष्णुता के मूल में शायद उसका असहाय प्रेम ही है, जो वर्षों से उसके हृदय के किसी कोने में संचित पड़ा है। इसीलिए वैष्णव-मठ के वातावरण में उसका प्रभाव इतना मादक है। गौहर के नौकर नवीन के अनुसार इस वैष्णवी का जाल तोड़कर अचानक बाहर नहीं निकल जाया जा सकता। श्रीकान्त सोचता है यह असम्भव नहीं है और बहुत असंगत भी नहीं है। नारी-हृदय की सारी अतृप्ति उसकी रूप-रेखा एवं व्यवहार में फूटकर निकलना चाहती है, किन्तु समुचित निकास के अभाव में वह उसके व्यक्तित्व में उभरी-उभरी-सी है, जिसके फलस्वरूप वह इतनी मोहक, आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक बन गयी है।

'श्रीकान्त' के प्रमुख नारी-पात्रों के व्यक्तित्व की कुछ मीमांसा करने के उपरान्त अब हम उन चरित्रों को देखेंगे जिनका उपन्यास में स्थानीय महत्त्व है। ऐसे पात्र तीन हैं—सुनन्दा, टगर और पुटू। सुनन्दा के चरित्र का विश्लेषण हम सर्वप्रथम करेंगे। उसके व्यक्तित्व का मूल तत्त्व है न्यायप्रियता। अन्याय के समक्ष वह 'टूट जायगी पर नवेगी नहीं।' जिस दिन से उसे यह ज्ञात होता है कि उसके जेठ किसी दूसरे की सम्पत्ति का उपभोग कर रहे हैं, उसी दिन वह घर छोड़कर पति-पुत्र के साथ बाहर चली जाती है। बड़ी दृढ़ता के साथ वह अपनी जिठानी से कह देती है, "नहीं जीजी, वह जायदाद अपनी नहीं है। उसे अगर तुम न लौटा दोगी तो मैं अब रसोई में घुसूंगी ही नहीं। उस नाबालिग़ लड़के के मुँह का कौर छीनकर अपने पति-पुत्र को भी न खिला सकूंगी, और ठाकुरजी का भोग भी मुझसे न लगाया जायगा।" अन्ततः वह घोर निर्धनता में रहना पसन्द करती है, पर अन्याय के प्रतिवाद में वह अपना सब-कुछ छोड़ देती है—जीर्ण वस्त्र की तरह। दृढ़ता के साथ-साथ उस के व्यक्तित्व में सरलता एवं स्पष्टता का बहुत बड़ा अंश है। इसके अतिरिक्त सुनन्दा में व्यावहारिक तथा मानसिक संयम सहज हो गया है, जो उसकी अध्ययनशीलता के साथ उसके

प्रभाव को और भी अधिक बढ़ाता है। वस्तुतः उसके शास्त्र-ज्ञान ने ही उसे ऐसा कठोर, पत्थर के सदृश बना दिया है, और इसीलिए राजलक्ष्मी की दृष्टि में सुनन्दा की यह पोथी की विद्या अधिक श्रद्धेय नहीं है। पर अपनी सिधाई तथा नम्रता के कारण वह सबको प्रभावित करती है। सुनन्दा अपने पति के विश्वास की अमानतदार है, तथा श्रीकान्त उसे 'अजीब औरत' मानता हुआ, स्पष्ट निर्णय देता है, "जिन थोड़े से नारी-चरित्रों ने मेरे मन पर गहरी रेखा अंकित की है, उनमें से एक है कुशारी महाशय के छोटे भाई की विद्रोहिनी बहू सुनन्दा।"

टगर का चरित्र स्थानीय महत्त्व रखता हुआ भी उपन्यास की कथा को विशेष प्रभावित नहीं करता। श्रीकान्त की बर्मा-यात्रा के समय वह अपनी कलहप्रियता से पाठकों के निकट शिष्ट हास्य का आलम्बन अवश्य बन जाती है। बर्मा के दृश्यों में भी यत्र-तत्र उसकी अवतारणा की गयी है।

पूटूँ का चरित्र श्रीकान्त के जीवन में और 'श्रीकान्त' के कथा-भाग में अवश्य कुछ महत्त्व रखता है। 'लड़की अच्छी है। साधारण भद्र गृहस्थ घराने की, रग गोरा तो नहीं था लेकिन देखने में सुन्दर थी।' उसका आन्तरिक व्यक्तित्व स्पष्ट तथा सरल जान पड़ता है। उसका विवाह श्रीकान्त से तय होने जा रहा है, पर इस सम्बन्ध में बाबा जी की सारी चालबाजी वह श्रीकान्त को स्वयं बता देती है। वह हृदय की अत्यन्त निर्मल है। जब श्रीकान्त अपने रुपये की मदद से उसका विवाह अन्यत्र उसके प्रिय शशधर से कराने का वचन देता है, और कहता है, "अच्छा, वहाँ तुम्हारी शादी हो जाने पर अगर वे लोग तुम स प्रेम न करें?" तो बड़े विश्वास एवं दृढ़ता के साथ वह उत्तर देती है, "मुझसे? प्रेम क्यों नहीं करेंगे? मैं रसोई बनाना, सिलाई करना और गृहस्थी के सारे काम जानती हूँ। मैं अकेले ही उनका सारा काम कर दूंगी।"

पार्श्व-चरित्रों में अनुशासनप्रिय तथा स्नेहमय श्रीकान्त की बुआजी, अस्थिर प्रकृति की मालती, सरल एवं निरीह बर्मी स्त्री, क्लैसिकल प्रवृत्तियों-वाली कुशारी पत्नी, निर्धन, चिड़चिड़ी परन्तु सहृदय चक्रवर्ती-गृहिणी, तथा कमललता की भोली-भाली सखी पद्मा विशेष उल्लेखनीय हैं।

आत्मकथात्मक उपन्यास होने के कारण 'श्रीकान्त' की विचारात्मक उक्तियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। 'श्रीकान्त' के अध्ययन से शरत् की नारी-सम्बन्धी निम्न-लिखित धारणाएँ एकत्र की जा सकती हैं :—

(1) स्त्री-जाति को तुच्छ रूप में नहीं देखा जा सकता। (1:48)

(2) नारी के कलंक पर अविश्वास करके ठगा जाना अच्छा, पर विश्वास करके पाप का भागी बनना अच्छा नहीं! (उपन्यास के नायक की यह युक्ति नहीं, संस्कार है।) (1:73)

(3) स्त्री-जाति का मन भी कैसा विराट् अचिन्तनीय व्यापार है। (1:102)

(4) कितनी बुरी है यह स्त्रियों की जाति, एक दफ़ा भी किसी को प्यार किया कि मरी ! (1:101)

(5) नारी की चरम सार्थकता मातृत्व में है, यह बात शायद खूब गला फाड़कर प्रचारित की जा सकती है। (2:130)

(6) कन्या-दान बंगाली गृहस्थ का भार है जो उन्हें सोने नहीं देता। (1:78)

(7) हृदय का विनिमय नर-नारी की अत्यन्त साधारण घटना है—संसार में नित्य ही घटती रहती है—विराम नहीं, विशेषत्व नहीं। फिर भी यह दान और प्रतिग्रह ही व्यक्ति-विशेष के जीवन का अवलम्बन कर ऐसे विचित्र विस्मय और सौन्दर्य से उद्भासित हो उठता है कि उसकी महिमा युगयुगान्त तक मनुष्य के हृदय को अभिषिक्त करती रहकर भी समाप्त नहीं होना चाहती। यही वह अक्षय सम्पत्ति है जो मनुष्य को बृहत् करती है, शक्तिशाली बनाती है और अकल्पित कल्याण द्वारा नया बना देती है। (4:158)

(8) बंगाल की कन्या अत्याचार की चिर-अभ्यस्त है; और कहीं तो शायद कुत्ते-बिल्लियों की भी इतनी दुर्गति करने में मनुष्य का हृदय काँपता होगा। (4:160)

(9) (नारी के) स्नेह की गहराई समय की स्वल्पता से नहीं नापी जा सकती। (3:39)

(10) अजीब देश है यह बंगाल ! इसमें राह चलते माँ-बहिनें मिल जाती हैं, किसमें सामर्थ्य है कि इनसे बचकर निकल जाय ? (3:39)

(11) तुम्हारे देश की स्त्रियाँ अपने आपको छोटा समझने के कारण छोटी नहीं हो गयी हैं। सच यह है कि तुम्हीं लोगों ने उन्हें छोटा समझकर छोटा बना दिया है, और तुम खुद भी छोटे हो गये हो। (2:134)

(12) सर्वांगीण सती-धर्म की एक अपूर्वता—दुःसह दुःख और सर्वथा अन्याय के बीच में भी उसकी आकाश-भेदी विराट् महिमा, मेरी अन्नदा जीजी की स्मृति के साथ चिरकाल के लिए मन की गहराई में खुदकर अंकित हो गयी है। (2:77)

(13) आज मैं आपसे यह कहे जा सकता हूँ कि मैंने अपने जीवन में जो थोड़े-से महान् नारी-चरित्र देखे हैं उन सबने दुःख के भीतर से गुजरकर ही मेरे मन में ऊँचा स्थान पाया है। (2:91)

देवदास

'देवदास' की गणना शरत् के दुःखान्त उपन्यासों की प्रथम श्रेणी में होती है। अपने विशिष्ट क्षेत्र में यह कृति एक साहित्यिक क्लैसिक बन गयी है। कथा और कला की सरलता ने 'देवदास' को कितना मार्मिक, कितना हृदयद्रावक बना दिया है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। उपन्यास के पटोद्घाटन और पटाक्षेप की योजना में शरत् की टेकनीक अपने उच्चतम शिखर पर जा पहुँचती है। 'देवदास' की कथा अत्यन्त संक्षिप्त और सादी है। सेक्स सम्बन्धी सामाजिक विषमता उसकी आधार-भूमि है, और उसकी पृष्ठभूमि का निर्माण स्थानीय विशेषताओं से युक्त बंगाल के ग्रामीण वातावरण में हुआ है। आकार के अनुसार ही उपन्यास में पात्रों की संख्या भी बहुत कम है।

'देवदास' की मूल कथा इस प्रकार है—तालसोनापुर गाँव में देवदास—देव भैया और पार्वती का बाल्यकाल साथ-साथ व्यतीत होता है। अपरिणत वय में दोनों ही अभिन्न साथी हैं। कुछ बड़ा होने पर शरारती देवदास को पढ़ने के के लिए कलकत्ते भेज दिया जाता है और पारो गाँव में अकेली रह जाती है। पारो के माँ-बाप उसके विवाह के लिए चिन्तित हैं। पारो की दादी चाहती हैं कि पारो का विवाह देवदास के साथ हो जाय, पर देवदास की माँ इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर देती हैं। अन्ततः पारो का विवाह हाथीपोता के एक अधेड़ ज़मीदार से होता है, जिसकी पहली पत्नी मर चुकी है। इस विवाह से न पारो सुखी है न देवदास ही, परन्तु परिस्थितियों के सामने दोनों को झुकना पड़ता है। अविवाहित देवदास कलकत्ता में रहता है और अपनी मानसिक वेदना को भुलाने के लिए मदिरा का सेवन प्रारम्भ कर देता है। वहाँ उसकी जान-पहचान चन्द्रमुखी नामक एक वेश्या से होती है, जो उसे हृदय से चाहने लग जाती है। अनियमित जीवन व्यतीत करने के कारण देवदास का स्वास्थ्य बहुत गिर जाता है और एक दिन सब ओर से निराश होकर, अपने नौकर धर्मदास के साथ वह अपने घर के लिए चल देता है। रास्ते में पार्वती की ससुराल का स्टेशन मिलता है, और वह धर्मदास को गाड़ी में सोना छोड़कर, वहीं उतर पड़ता है। अत्यन्त रुग्ण एवं दयनीय

अवस्था में वह एक बैलगाड़ी लेकर हाथीपोता की ओर रवाना होता है। अड़तालीस घण्टों तक अपार कष्ट सहकर वह पार्वती के घर पहुँचता है। रात होने के कारण वह घर के बाहर ही पड़ा रहता है; सवेरा होते-होते उसके प्राण निकल जाते हैं। अपरिचित शव को चाण्डाल लोग श्मशान ले जाकर जलाते हैं; जब पार्वती को अपने सौतेले पुत्र द्वारा यह समाचार ज्ञात होता है तो वह सब कुछ समझ जाती है, और देवदास के जलते हुए शव की ओर दौड़ती है, पर कुछ दूर तक चलकर मूर्च्छित हो जाती है, और इस प्रकार नियति-चक्र का एक घेरा समाप्त होता है।

'देवदास' के नारी-चरित्रों का अंकन बड़ी सादगी से किया गया है। रेखा-चित्रों की भाँति ही इन पात्रों में व्यंजनात्मकता अधिक है, किसी भी प्रकार की जटिलता का अभाव है। चरित्रांकन की इस सिधाई एवं सरलता के कारण उपन्यास के पात्रों में आकर्षण एवं प्रभाव की मात्रा बहुत बढ़ गयी है, और कथानक अत्यन्त शक्तिशाली बन गया है। 'देवदास' की नारी रोमांस से ओत-प्रोत स्नेह तथा ममता में भीगी हुई है। उसकी मानसिक वृत्तियाँ जटिल नहीं हैं; अपनी सज्जा में वह एकदम निरीह, भोली तथा सरल है। स्त्री के मन की अँधेरी गहराइयों से वह अपरिचित है, अवचेतन की रहस्यात्मकता से वह अछूती है। अतः 'देवदास' की नारी को हम पारदर्शक कहना ही अधिक उचित समझेंगे।

'देवदास' की नायिका पार्वती है, और देवदास के व्यक्तित्व की नायिका पारो है। पारो का चरित्र माधवी, ललिता तथा ज्ञानदा की परम्परा में है—निर्मल, विकारहीन और शान्त। शरत् की नायिकाओं के इस वर्ग में वयःसन्धि का बड़ा स्वाभाविक चित्रण है। वे बाल्यावस्था की सरलता और परिणत वय की दृढ़ता के संयोग से निर्मित हैं। उनके व्यक्तित्व में कोमलता और कठोरता साथ-साथ चलती है। शैशव और यौवन की इस सम्मिलित पृष्ठ-भूमि पर शरत् के इन नारी-चरित्रों का अंकन अत्यन्त सजल एवं स्निग्ध है। अपनी प्रकृति के अनुसार, वय तथा विचारों के संक्रान्ति काल में इन नायिकाओं के जीवन पर किसी ट्रैजडी की छाया ही अधिक दिखाई देती है।

पारो और देव भैया बचपन से ही अभिन्न हैं। वस्तुतः उनकी वैयक्तिक संवेदना एक-दूसरे के साथ इतनी अधिक घुल-मिल गयी है कि एक के चरित्र का विश्लेषण करते समय हम दूसरे को अलग नहीं कर सकते। बाल्यावस्था में पारो देवदास के प्रत्येक सुख का बहुत अधिक ध्यान रखती है। उसे पिटने से बचाती है, संकट काल में स्वयं-निर्वासन के समय उसके भोजन का प्रबन्ध करती है, और इतने पर भी अधिक चपल न होने के कारण वह देव भैया से हरदम डरती रहती है। लड़कपन के इस भय और आदर का अर्घ्य लिये हुए पार्वती जीवन पर्यन्त देवदास के सम्मुख विनत रही, इसका पूरा प्रमाण हमें उपन्यास

की कथा से मिलता है ।

देवदास को कलकत्ता भेजने का जब उपक्रम होता है तो पार्वती कहती है, "देखो, देव भैया, जाना नहीं ।" पर पारो की अविरल अश्रुधारा और उसका चीखना-चिल्लाना देवदास को जाने से न रोक सका । देव भैया के चले जाने पर यदा-कदा उसके जो पत्र आते हैं, वही उसके सूने बचपन के साथी हैं। वह अकेली इधर-उधर घूमती है, पर अन्य किसी बाल-सहचर को नहीं ढूँढ़ती । गाँव के क्रीड़ा-स्थलों अथवा स्कूल पहुँचने पर उसके हृदय में देव भैया की स्मृति फिर जाग उठती है, और उसके छोटे-छोटे कपोलों पर बड़े-बड़े आँसू गिरने लगते हैं। इस तरह बाल्यावस्था से ही देवदास पार्वती की सुख-शान्ति का अमानतदार है।

उत्तरोत्तर बढ़ती हुई वयस का भार पार्वती में लज्जा भर देता है, और बहुत दिनों बाद देवदास के गाँव लौटने पर पारो उसके सामने अधिक प्रगलभता के साथ बातचीत करने में संकोच का अनुभव करती है, परन्तु लज्जा का भाव मन में रखते हुए भी जब पारो को यह ज्ञात होता है कि देवदास की माँ उसे बहू बनाने के लिए तैयार नहीं हैं तो वह रात के समय ही देवदास के पास पहुँचती है। यहाँ उसकी प्रेम की दृढ़ता सचमुच दर्शनीय है। लड़कपन से ही उसकी यह धारणा थी कि 'देव भैया पर मेरा कुछ अधिकार है।' अपनी सखी मनोरमा से वह स्पष्ट कहती है, "मैं हँसी नहीं करती···मैं यही जानती हूँ कि मेरे स्वामी का नाम देवदास है।" और अपने अधिकार के दावे के लिए वह रात ही में देवदास के घर जाती है। उसे भूतों से डर नहीं लगता, अँधेरे में उसका जी नहीं घबराता, नितान्त निर्जन एवं निस्तब्ध रास्ते में वह भयातुर नहीं होती। जब देवदास उससे पूछता है, "इस तरह यहाँ आने में क्या तुम्हें तनिक भी लज्जा नहीं हुई?" तो वह सिर हिलाकर कह देती है, "कुछ भी नहीं।" उसके प्रेम की पवित्रता और सच्चाई उसके हृदय को आवेगमय बना देती है, इसीलिए उसे अपने मार्ग में किसी भी प्रकार की सामाजिक बाधा अथवा कलंक का भान नहीं होता ।

पार्वती के चरित्र में एक ओर जहाँ सरलता और सिधाई है, वहीं दूसरी ओर दृढ़ता एवं सहनशीलता भी है। 'पार्वती सदा से आत्माभिमानिनी थी' और इसीलिए वह प्राण-पण से इस बात की चेष्टा करती थी कि मैं जो इतना कष्ट सहती हूँ, सो इसका किसी को तिल भर भी पता न चलने पावे। वह देव-दास के सम्मुख झुकती अवश्य है, परन्तु उसके व्यक्तित्व के समक्ष अपनी सत्ता एकदम नष्ट नहीं कर देती। पारो की प्रार्थना एक बार अस्वीकृत करके जब फिर देवदास स्वयं अपनी ओर से उसके साथ विवाह का प्रस्ताव रखता है तो वह अपनी असहमति तथा उदासीनता प्रकट करती हुई कहती है, "तुम्हारे माता-पिता हैं, और मेरे नहीं हैं? उनके राजी होने या न होने की जरूरत नहीं

हैं ?…जब से होश सँभाला है, तभी से तुम से डरती आ रही हूँ। सो क्या इसी-लिए तुम मुझे भय दिखलाने के लिए आये हो? तुम अहंकार कर सकते हो, मैं नहीं कर सकती !" उसकी भावनाओं का आवेग इतना अधिक बढ़ जाता है कि वह विष की तरह क्रूर हँसी हँसकर देवदास को एक चुनौती देती है, "जाओ आखिरी वक़्त मेरे नाम पर एक कलंक की घोषणा कर दो।"

यदि इस स्थान पर पार्वती देवदास के प्रस्ताव को स्वीकृत कर लेती तो उपन्यास के कथानक की दिशा ही बदल जाती, परन्तु स्वाभिमानिनी पारो अपनी तरुणावस्था की पहली चोट को भूल नहीं पाती, और इसीलिए वह अपने सबसे निकट व्यक्ति देवदास का भी तिरस्कार कर देती है। यहाँ पार्वती का चरित्र आदर्श अथवा यथार्थ न होकर नितान्त स्वाभाविक एवं प्राकृतिक है। उसके हृदय की दृढ़ता तो ऐसी है कि एक वृद्ध विधुर के साथ विवाह के समय भी उसके होंठों के कोने पर हँसी की एक रेखा रहती है। नियति से वह किसी भी प्रकार दबना नहीं जानती, इसीलिए अपने बड़े-से-बड़े दुर्भाग्य में वह रोती नहीं, स्थिर होकर बैठती है। उसके जीवन की पहली निराशा उसे पत्थर की भाँति कठोर तथा सहनशील बना देती है। उसका अपराजित रूप और उद्दाम यौवन एकदम शान्त हो जाता है।

वृद्ध पति के घर आने पर उसके जीवन का दूसरा अंक प्रारम्भ होता है। अब वह बड़ी विचारशील, नम्र एवं निरभिमान बन गयी है। उसकी सारी कामनाएँ जैसे समाप्त हो गयी हों ! जीवन के उत्साह पर असमय में ही सफ़ेदी छा गयी हो ! परम वैष्णवीय भावनाओं से अभिभूत होकर उसने अपार शान्ति के वातावरण में परिस्थितियों की कटुता के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया है। ज़िन्दगी की सारी वासनाओं का उन्नयन हो गया है। 'काम-धन्धा करने, मीठी बातें कहने और परोपकार तथा सेवा-शुश्रूषा करने में दिन कट जाते हैं और सब कुछ भूलकर ध्यानमग्ना योगिनी की तरह रहने में भी कट जाते हैं। कोई उसे कहता है लक्ष्मी-स्वरूपा अन्नपूर्णा और, कोई कहता है अन्यमनस्का उदासिनी।'

विवाह के उपरान्त पार्वती में अनायास ही विचार-शीलता बढ़ जाती है। लेखक के शब्दों में, 'अवस्था के अनेकों प्रकार के परिवर्त्तनों ने पार्वती को उसकी उम्र की अपेक्षा बहुत कुछ परिपक्व कर दिया है। इसके सिवा व्यर्थ की लज्जा-शरम या जड़ता-संकोच उसमें कभी था ही नहीं।' पति के घर आने पर उसकी व्यवहारकुशलता में भी अभिवृद्धि हुई है। अपने सौतेले लड़के की पत्नी द्वारा उसके दान पर आपत्ति होने के कारण पार्वती अपना हाथ खींच लेती है— 'अब अतिथिशाला और देव-मन्दिर की पहले की तरह सेवा नहीं होती।' उसके लिए सारी बाह्य सज्जा अनावश्यक हो गयी है। नितान्त निरभिमान होकर उसने अपने सारे आभूषण अपनी ननद को सौंप दिये हैं। अपनी नम्रता एवं व्यवहार-

कुशलता के कारण ही वह क्रुद्ध यशोदा तथा जलदवाला को अपने वश में कर लेती है।

वृद्ध पति मिलने पर भी पार्वती उनको हृदय से चाहती है। वर्षों का व्यवधान उनके बीच में दीवार नहीं बनता। वह अपने पति भुवन चौधरी से कहती है, "तुम बूढ़े हुए तो मैं भी बहुत जल्दी बूढ़ी हो जाऊँगी। औरतों को बूढ़ी होते क्या ज्यादा देर लगती है?" और केवल पति ही नहीं, पति की सारी 'कच्ची अव्यवस्थित' गृहस्थी का भी उसे पूरा ध्यान है। विवाह के बाद इसीलिए वह शीघ्र ही अपने घर नहीं जाती। सौतेली सन्तानों के लिए उसके मन में इतनी ममता है कि बड़ी लड़की यशोदा को कहना पड़ता है, "क्यों भैया, सौतेली माँ भी इतना आदर कर सकती हैं?" यशोदा का सारा क्रोध और गर्व तो पार्वती की नम्रता के सम्मुख एकदम झुक जाता है। रूठी हुई यशोदा को मनाकर घर लाने के लिए उसकी ससुराल जाने को वह स्वयं उद्यत होती है। यशोदा के आ जाने पर वह उससे कहती है—"बड़ा घर ठहरा, कितने ही नौकर-नौकरानियों की ज़रूरत है। मैं भी तो एक दासी के सिवा और कुछ नहीं हूँ। छीः बेटी, तुच्छ दास-दासियों पर नाराज होना क्या तुम्हें शोभा देता है?" कहना न होगा कि इस हार्दिक सौजन्य के सम्मुख किसका अभिमान टिक सकता है?

अन्य सात्त्विक गुणों के साथ-साथ अब पार्वती के व्यक्तित्व में दया का भाव भी उभर उठा है। देवदास के पुराने नौकर धर्मदास को वह अपने गले का हार उतार कर दे देती है, जिससे कि वह उसे अपनी लड़की को पहना सके। निःसन्तान होने के कारण उसका वात्सल्य बहुत व्यापक हो गया है। 'उसके अपने लड़के-वाले नहीं हैं, इसीलिए दूसरों के लड़के-बच्चों पर उसका बहुत अधिक अनुराग है। ग़रीबों और दुखियों की बात तो दूर रही, जिन लोगों के खाने-पीने का कुछ ठिकाना है, उनके बाल-बच्चों का भी अधिकांश व्यय उसने अपने ऊपर ले लिया है। इसके सिवा देव-मन्दिर का काम-धन्धा करके, साधु-संन्यासिनियों की सेवा करके और अन्धों तथा लूले-लँगड़ों की परिचर्या करके उसके दिन कट रहे हैं··· वह दरिद्र भले आदमियों को चुपचाप आर्थिक सहायता देती है। यह उसका ख़ुद अपना ख़र्च था।' वस्तुतः अपने इन सत्कार्यों के फलस्वरूप पार्वती नारी के उस मूल रूप तक पहुँच गयी है, जिसे हम 'जगज्जननी' कहत हैं। दया के साथ-साथ, क्रोध के स्थान पर अब उसमें क्षमाशीलता आ गयी है। महेन्द्र की बहू के अपराधों पर कुछ भी ध्यान न देकर वह उसे क्षमा कर देती है, और कहती है, "छीः बेटा, वह तो मेरी बहुत अच्छी लड़की है।" अपनी इस सात्त्विकता के प्रभाव से ही वह सब का क्रोध शान्त करती है, दूसरों के हृदय से अपने प्रति विद्वेष का भाव मिटा देती है।

जीवन के उत्तरार्द्ध में यद्यपि पार्वती का स्वभाव बहुत कुछ बदल जाता है,

पर उसके हृदय में देवदास के प्रति प्रेम कभी कम नहीं होता। विवाहोपरान्त देवदास से प्रथम बार मिलने पर उसको कुछ संकोच का अनुभव अवश्य होता है, किन्तु उसके मन की दृढ़ता पूर्ववत् रहती है। धर्म द्वारा जब उसे देवदास की दुर्दशा का समाचार मिलता है तो उसे इस बात का पश्चात्ताप होता है कि वह भैया को कुछ सुख न दे सकी। देवदास के द्वारा अपने मस्तक पर किये गये आघात से बने हुए चिह्न को वह बहुत पवित्र मानती है—"देव भैया, यह निशान ही मेरे लिए सान्त्वना है—यही मेरा सम्बल है। तुम मुझसे स्नेह करते थे, इसलिए तुमने हम लोगों का बाल्य इतिहास ललाट पर लिख दिया है। यह मेरे लिए लज्जा नहीं, कलंक नहीं, बल्कि गौरव की सामग्री है।" वह देवदास को किसी भी प्रकार सुख पहुँचाने में अपने को कृतकार्य समझती है। जब देवदास कहता है, "तुम्हारे घर चलूंगा तो मेरी खूब सेवा करोगी?" तो पार्वती उत्तर देती है, "यह तो मेरी लड़कपन की साध है। स्वर्ग के देवता, मेरी यह साध पूरी कर दो। इसके बाद अगर मैं मर जाऊँ तो उसका कोई दुःख नहीं।" और जब मनोरमा उसे पत्र द्वारा देवदास के मद्य-पान का समाचार देती है तो वह उसे अपने यहाँ लाने के लिए स्वयं ही तालसोनापुर पहुँचती है। इस कार्य में वह तनिक भी लज्जा का अनुभव नहीं करती—'अपनी चीज़ आप ले जाऊँगी इसमें लाज काहे की?' परन्तु नियति-चक्र के सम्मुख पार्वती की कुछ भी नहीं चलती। देवदास उसी के घर के सामने आकर मर जाता है और उसे इसका पता भी नहीं लगता। इसीलिए शरत् के साथ-साथ पाठकों को भी देवदास और उसके वर्ग के लोगों के लिए प्रार्थना करनी पड़ती है, "उसकी तरह किसी की मृत्यु हो तो मरने में कोई हर्ज नहीं है। लेकिन ऐसा हो कि उस समय एक स्नेहपूर्ण कर-स्पर्श उसके मस्तक तक पहुँचे और एक करुणार्द्र स्नेहपूर्ण मुख देखते-देखते इस जीवन का अन्त हो। मरने के समय वह किसी की आँखों का एक बूंद जल देखकर मर सके।"

पार्वती के उपरान्त 'देवदास' की कथा में, और देवदास के व्यक्तित्व में चन्द्रमुखी का प्रमुख भाग है। वह कलकत्ता में वेश्यावृत्ति करके अपना जीवनयापन करती है, परन्तु वह अत्यन्त सहृदय है। अपने जीविकोपार्जन में उसे कोई कठिनाई नहीं, क्योंकि रूप और वाक्पटुता उसके व्यक्तित्व में पूर्ण विकसित हैं। यद्यपि उसकी अवस्था अधिक हो गयी है तो भी उसके शरीर में रूप नहीं समाता, ऐसा जान पड़ता है कि अवस्था के साथ ही उसके रूप में भी वृद्धि हो रही है। वार्तालाप में उसे अप्रतिभ करना बहुत ही कठिन काम है। परन्तु ये तो उसके चरित्र के व्यावसायिक गुण हैं। इनके बीच में भी उसकी मूल-नारी-प्रकृति की ज्योति कभी क्षीण नहीं होती।

चन्द्रमुखी के व्यक्तित्व का अधिक अच्छा भाग उस समय प्रकाश में आता है, जब उसका देवदास से सम्पर्क होता है। उसके हृदय की सुप्त सद्वृत्तियाँ तभी

जाग्रत होती हैं। देवदास से प्रथम बार भेंट होने पर ही वह उसकी ओर आकर्षित हो जाती है। चुन्नीलाल से वह कहती है, "जब उनका मन ठिकाने हो, तब फिर एक बार लाना, उन्हें फिर एक बार देखूँगी।" ऐसा जान पड़ता है कि वह किसी ऐसे ही व्यक्ति की प्रतीक्षा में थी जो उसके विकारग्रस्त मन को निर्मलता की ओर ले जाए। वह देवदास से प्रेम करने लग जाती है। उसके चले जाने पर वह अपना व्यवसाय समाप्त कर देती है, और अपने शृंगार की ओर से उदासीन हो जाती है। उसके प्रेम में भोग प्रधान न होकर, त्याग प्रधान है। अब उसकी वेश्या-मनोवृत्ति की प्रतिक्रिया होती है।

अत्यन्त हीन दशा में चन्द्रमुखी देवदास की प्रतीक्षा करती रहती है, और अन्त में जब वह आता है, तब मानो उसकी तपस्या पूर्ण होती है। वह कहती है, "नाराज़ न होना। जाने से पहले मैंने आशा की थी कि अगर एक बार तुमसे भेंट हो जाय तो अच्छा हो।" और फिर वह देवदास को बताती है, "जिस दिन तुम पहले-पहल यहाँ आये थे, उसी दिन तुम पर मेरी दृष्टि पड़ी थी। यह मैं जानती थी कि तुम बहुत बड़े धनी के लड़के हो। लेकिन धन की आशा से मैं तुम्हारी ओर आकृष्ट नहीं हुई···शराब से मुझे बहुत घृणा है। कोई शराब से मतवाला होता तो उस पर बहुत क्रोध आता। लेकिन तुम मतवाले होते तो क्रोध नहीं आता— बहुत ही दुःख पाती।" अब चन्द्रमुखी अपने निराश्रित जीवन में देवदास को ही सहारा समझती है; अभाव के समय वह उससे धन माँगने का वादा भी करती है, परन्तु साथ ही वह यह भी चाहती है कि किसी प्रकार देवदास की वह कुछ सेवा कर सके। जाने के समय वह देवदास से कहती है, "ईश्वर न करे, यदि कभी दासी की आवश्यकता हो तो इसे स्मरण रखना।" उसका विश्वास है कि देवदास की गृहस्थी में दासी की तरह रहकर वह अपने दिन सुख से बिता सकेगी।

कलकत्ता छोड़कर गाँव में रहने पर भी उसे देवदास की सदा चिन्ता रहती है। उसका पता लगाने के लिए वह पैदल ही तालसोनापुर जाती है। रास्ते में उसके अनभ्यस्त कोमल पैर क्षत-विक्षत होकर लहू-लुहान हो जाते हैं, पर भूखी-प्यासी रहते हुए भी वह हार नहीं मानती। इस अविचलित प्रेम का अचल रूप से देवदास के मन पर प्रभाव पड़ता है। मरणासन्न अवस्था में देवदास को अपनी माँ के साथ ही चन्द्रमुखी का स्मरण हो आता है। 'पापिष्ठा समझकर जिससे हमेशा घृणा की है, उसी को अपनी माता के पास ही गौरव के साथ स्पष्ट होते देख उसकी आँखों से झर-झर आँसू बहने लगते हैं।'

यहाँ एक बात का स्मरण रखना आवश्यक है कि देवदास को इतना अधिक प्रेम करती हुई भी चन्द्रमुखी उसे अपने लिए प्राप्त नहीं करना चाहती, क्योंकि वह भलीभाँति जानती है कि उसके अभीष्ट पर किसी दूसरे का अधिकार है। शराब के नशे में देवदास ने जब पार्वती का नाम लिया था, तभी वह अपनी सीमा

समझ गयी थी, परन्तु देवदास को प्यार करने से उसे कोई रोक न सकता था। यदि वह चाहती तो अपनी सेवा और सहिष्णुता से निरुपाय देवदास को प्राप्त भी कर सकती थी, परन्तु उसके हृदय की विशालता और कदाचित् उसकी सामाजिक स्थिति के ज्ञान ने ऐसा नहीं होने दिया। और इस प्रकार दूसरे का घर उजाड़ कर उसने अपना घर नहीं बसाया। देवदास के पास पहुँचने की तीव्र इच्छा को अपने मन में ही रखकर, वह कलकत्ता के समीपवर्ती किसी गाँव में चली गयी, क्योंकि तीर्थ और धर्म पर उसकी कोई श्रद्धा नहीं, और हो भी कैसे सकती थी जबकि उसका तीर्थ और धर्म देवदास ही बन गया था।

अपने कोमल शरीर और मन को लेकर चन्द्रमुखी गाँव में एक झोंपड़ी बनाकर रहने लगती है। प्रेम की असफलता ने उसे निराश नहीं किया, वरन् उसकी वासनाओं का उन्नयन किया है। वह देवदास के भेजे हुए रुपयों को गाँव के विपत्ति में पड़े हुए व्यक्तियों को उधार देती है, सूद नहीं लेती। जो रुपये नहीं दे सकता वह नहीं देता। वह मूल धन के लिए भी लोगों को तंग नहीं करती, क्योंकि वह सोचती है, 'वे जीते रहें, मुझे रुपयों की चिन्ता क्या!' और इस तरह परम शान्ति के वातावरण में उसके दिन व्यतीत होते हैं। सेवा और परोपकार की भावनाएँ उसके व्यक्तित्व में एकदम सहज हो गयी हैं। इसीलिए जब अपनी झोंपड़ी को छोड़कर चन्द्रमुखी कलकत्ता के लिए चलने लगती है तो गाँव की सभी स्त्रियाँ और पुरुष रोने लगते हैं, स्वयं चन्द्रमुखी की आँखों में भी जल नहीं समाता।

चन्द्रमुखी का चरित्र नारी के मूल गुणों--धैर्य एवं सहिष्णुता से विहीन नहीं है। 'उसमें कितनी अधिक बुद्धि है। वह कितनी शान्त और धीर है। और वह कितना स्नेह करती है'—ये तीनों छोटे-छोटे वाक्य उसके चरित्र के प्रमुख तत्त्वों पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। उसका अलोभ तथा मदिरा के प्रति घृणा उसे वेश्या सिद्ध नहीं करते। सहनशीलता उसमें इतनी अधिक है कि उसे पूरा-पूरा समझने के पहले ही देवदास कहता है (और यह कितना सत्य है!) "आहा! तुम सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति हो! स्त्रियों को लांछना, भर्त्सना, अपमान, अत्याचार और उपद्रव आदि कितने सहने पड़ते हैं, तुम्हीं सब इसका दृष्टान्त हो!"

चन्द्रमुखी के हृदय में पार्वती के लिए पर्याप्त श्रद्धा है। वह देवदास से कहती है, "मुझे विश्वास नहीं होता कि पार्वती ने तुम्हें धोखा दिया है। बलिक मेरा ख़याल है कि स्वयं तुमने अपने आपको धोखा दिया है···मेरी समझ में स्त्रियों की जो यह बहुत बड़ी बदनामी है कि वे बहुत ही चंचल तथा अस्थिर-चित्त हुआ करती हैं, सो ठीक नहीं। वे उतनी अधिक बदनामी के योग्य नहीं हैं।" इन शब्दों से स्पष्ट जान पड़ता है कि वेश्या-वृत्ति में होने पर भी चन्द्रमुखी प्रेम की उच्चता एवं महानता भलीभाँति समझती है। वस्तुतः उसे अपनी वर्तमान स्थिति पर पश्चात्ताप भी है, वह बताती है—'जितनी घृणा तुम मुझ पर करते हो, मैं भी

उतनी ही घृणा अपने आप पर करती हूँ ।' स्त्री-पुरुष के प्रेम के सम्बन्ध में उसके विचार बड़े सुलझे हुए हैं, उसका मत काफ़ी सुनिश्चित जान पड़ता है । वह कहती है, "रूप का मोह तुम लोगों की अपेक्षा हम लोगों में बहुत ही कम होता है; इसीलिए तुम लोगों की तरह हम लोग उन्मत्त नहीं हो जातीं । तुम लोग आकर अपना प्रेम जतलाते हो, न जाने कितनी तरह की बातों और भावों में जब उसे प्रकट करते हो, तब हम लोग चुप ही रहती हैं। प्रायः ऐसा होता है कि तुम लोगों के मन को क्लेश पहुँचाने में हम लोगों को लज्जा आती है, दुःख होता है, संकोच होता है । मुँह देखने में भी जब घृणा होती है, तब भी कदाचित् लज्जा के कारण कह नहीं सकतीं कि हम तुम्हें प्रेम नहीं कर सकेंगी । इसके बाद एक बाह्य प्रणय का अभिनय आरम्भ होता है । फिर एक दिन जब उसका अन्त हो जाता है तब पुरुष क्रुद्ध और अस्थिर होकर कहते हैं कि कैसी विश्वासघातिनी है···उस समय कदाचित् कुछ ममता उत्पन्न हो जाती है । स्त्रियाँ समझती हैं कि कदाचित् यही प्रेम है । वे शान्त और धीर भाव से संसार के सब काम-धन्धे करती हैं, दुःख के समय प्राणपण से सहायता करती हैं। उस समय तुम लोग उनकी कितनी सुख्याति करते हो ! बात-बात में उन्हें कितना धन्य कहते हो ! लेकिन सम्भवतः उस समय भी उन्हें प्रेम का अक्षर-ज्ञान तक नहीं होता ।" उक्त लम्बे उद्धरण से चन्द्रमुखी की विचारशीलता स्पष्ट प्रकट होती है, और साथ ही उसकी सूक्ष्म दृष्टि का भी पता चलता है । यहाँ स्मरणीय है कि अपने प्रेम के सम्बन्ध में चन्द्रमुखी की उक्त धारणा नहीं है। यह तो स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में एक सामान्य कथन है । अवश्य ही, इससे कुछ उसकी प्रवृत्तियों पर भी प्रकाश पड़ता है ।

'देवदास' में पारो तथा चन्द्रमुखी—दो ही प्रमुख नारी पात्र हैं। इन दोनों की तुलना करता हुआ देवदास स्वयं चन्द्रमुखी से कहता है, "तुम दोनों में परस्पर कितना अन्तर है फिर भी कितनी समानता है। एक आत्माभिमानिनी और उद्धत है; और दूसरी कितनी शान्त और संयत है । वह कुछ भी सहन नहीं कर सकती और तुम कितना सहन करती हो। उसका कितना यश और कितना सुनाम है और तुम पर कितान कलंक है। उससे सभी प्रेम करते हैं और तुमसे कोई प्रेम नहीं करता।"

उपन्यास के पार्श्व-चरित्रों में, मनोरमा का व्यक्तित्व औसत दर्जे का है; पारो की यह सखी वस्तुओं को ऊपरी निगाह से देखने वाली है । पार्वती की सौतेली वधू जलदबाला में लड़कपन अधिक है । बुद्धिमती और कार्यपटु होते हुए भी एक गृहिणी की सूक्ष्म बुद्धि का उसमें अभाव है। क्रोध को वश में रखना वह नहीं जानती । परन्तु प्रकृति की सरल एवं भोली है । इसके अतिरिक्त देवदास की माँ, देवदास की भाभी, पारो की माँ, पारो की दादी और पारो की सौतेली

पुत्री यशोदा का, कथानक में यत्र-तत्र उल्लेख भर है। उपन्यास में हमें उनकी चरित्र-योजना की सामग्री नहीं मिलती। इनका कहीं कोई विशेष स्थानीय महत्त्व भी नहीं है। 'देवदास' की ख्याति तो पारो एवं चन्द्रमुखी के चरित्रांकन पर ही आधारित है।

दत्ता

शरत् ने अपने कुछ उपन्यासों में प्रेममूलक समस्या के साथ ही गुँथी हुई बंगाली समाज की ब्राह्म तथा हिन्दू समस्या को भी अंकित किया है। अपने रचनाकाल के पूर्वार्द्ध में उन्होंने 'परिणीता' के माध्यम से एक ऐसा चित्र उपस्थित किया था; प्रौढ़ लेखनी से प्रसूत 'दत्ता' और 'गृहदाह' में भी इसी समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। उक्त तीनों उपन्यासों में प्रेम का संघर्ष प्रायः एक प्रकार का है। इनमें से 'दत्ता' एवं 'गृहदाह' की रचना में समय का विशेष व्यवधान नहीं है। अतः उनका मूल कथानक समानान्तर विचारधारा के फल-स्वरूप कहा जा सकता है। परन्तु यदि 'दत्ता' को 'गृहदाह' से कुछ पहले की रचना माना जाय, जैसा कि दोनों उपन्यासों की प्रकृति एवं चरित्र-चित्रण से स्पष्ट है, तो ऐसा जान पड़ेगा मानो परिणीता' की सरल हृदया ललिता ही कुछ अधिक गम्भीर एवं विकसित होकर 'दत्ता' की विजया बन गयी है, और आगे चलकर 'गृहदाह' की अचला में विजया की अस्थिरता तथा रहस्यात्मकता अपनी चरम सीमा पर जा पहुँची है।

'दत्ता' का कथानक इस प्रकार है—जगदीश, वनमाली तथा रासविहारी वचपन के मित्र हैं। जगदीश के एक लड़का है, जिसका नाम है नरेन्द्र। वनमाली के एक कन्या है, जिसका नाम है विजया, एवं रासविहारी के पुत्र का नाम विलास है। वृद्धावस्था तक पहुँचते-पहुँचते जगदीश एवं वनमाली की मृत्यु हो जाती है, केवल रासविहारी जीवित रहते हैं। विजया के रूप-गुण तथा धन को देखकर कूटनीतिज्ञ रासविहारी उसे अपनी पुत्र-वधू बनाना चाहते हैं। विजया भी विलास की ओर कम आकृष्ट नहीं है। अतः एक प्रकार से यह निश्चित हो जाता है कि विजया विलास की पत्नी होगी। तभी एक दिन विजया की नरेन्द्र के साथ प्रथम वार भेंट होती है। उसे देखकर वह मुग्ध हो जाती है तथा उसे अपने पिता की अन्तिम कामना याद आती है कि विजया नरेन्द्र की वधू बने। परन्तु विजया एवं विलास दोनों ही ब्राह्म हैं, जबकि नरेन्द्र हिन्दू है। रासविहारी की कूटनीति एवं धार्मिक विषमता के फलस्वरूप नरेन्द्र और विजया के बीच ऊँची दीवार खड़ी

हो जाती है। विजया की अनिच्छा रहते हुए भी उसके विलास के साथ विवाह की तिथि निश्चित हो जाती है। पर शरत् भलीभाँति जानते थे कि मनीषियों ने व्यर्थ ही नहीं कहा है—'जा पर जाकर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलहिं न कछु सन्देहू', और इसीलिए कथा का अन्त होते-होते, बड़े ही नाटकीय ढंग से विजया का विवाह नरेन्द्र के साथ हो जाता है।

'दत्ता' के अपेक्षाकृत विस्तृत कथा-भाग में केवल दो ही नारी-पात्रों का अंकन हुआ है। एक तो विजया का, जो उपन्यास की नायिका है, और दूसरा नलिनी का जो पार्श्व-चरित्र है। इतने कम नारी-पात्र लेखक की किसी भी अन्य कृति में शायद न मिलेंगे। इसका कारण कदाचित् यही हो सकता है कि उपन्यासकार ने 'दत्ता' की रचना इस प्रकार की है कि उसका कथानक केवल एक नारी-चरित्र की संवेदना से ढँक जाए! इसीलिए उपन्यास के कथाविधान में किसी दूसरे नारी-पात्र की आवश्यकता नहीं हुई। नलिनी का चरित्र कथा में कुछ संघर्ष भरने के लिए रखा गया है। इस दृष्टि से उपन्यास में उसका स्थानीय महत्त्व अवश्य है। अन्यथा 'दत्ता' की एक-एक पंक्ति में विजया के हृदय की संवेदना ही परिव्याप्त है।

विजया अभिजात्य वर्ग के एक धनी पिता की एकमात्र पुत्री है। बचपन में ही उसकी माता की मृत्यु हो गयी थी, और युवावस्था तक पहुँचते-पहुँचते वह अपने पिता को भी खो बैठी। भाई-बहिन उसके कोई है नहीं! उसकी सम्पत्ति एवं कुलनीता की रक्षा के लिए उसके पिता के घनिष्ठ मित्र रासविहारी तथा उनका पुत्र विलास अवशिष्ट हैं। इन्हीं के सहारे वह घर-बाहर का प्रबन्ध करती है।'

विजया के चरित्र की सर्व-प्रमुख विशेषता है उसकी पितृ-भक्ति, जो आधुनिक सभ्यता के रंग में रँगी हुई कन्याओं में प्राय: नहीं मिलती। अपने वृद्ध पिता वनमाली से वह सदैव ही कहती रही है, "बापू, तुम्हारा आदेश मैं किसी दिन नहीं टालूँगी।" स्नेहमय पिता के अनुरोधों को वह टालती है, किन्तु केवल तभी जब कूटनीतिज्ञ रासविहारी द्वारा धर्म का भयानक आवरण उसके मन पर डाल दिया जाता है, किन्तु अपनी इस करनी का उसे सदैव पश्चात्ताप रहता है, और इसीलिए पिता के आदेश के विरुद्ध उनके बाल्यमित्र जगदीश के पुत्र नरेन्द्र से ऋण की अदायगी स्वरूप लिखा हुआ घर वह वापस करने की सोचती है, 'बापू का आदेश ही उसकी अदालत है।'

पिता की शिक्षा-दीक्षा के अनुरूप ही विजया के व्यक्तित्व में व्यावहारिक संयम सहज हो गया है। विलास के कठोर से कठोर वाक्य-प्रहारों को वह बिना किसी उत्तर के सहन कर लेती है। इस व्यावहारिक संयम के फलस्वरूप उसकी प्रकृति बहुत कुछ सन्धि-करने वाली हो गयी है। अपने किसी अपराध को स्वीकार

करके कलह को शान्त करने में उसे कोई लज्जा नहीं। मानसिक संघर्ष के समय यह ब्राह्म महिला केवल यह सोचकर रह जाती है, "मंगलमय की इच्छा से सब मंगल के लिए ही हुआ है।" परन्तु जब इतने से भी काम नहीं चलता तो वह विवश होकर आकस्मिक निर्णय करती है, अन्यथा प्रत्युत्पन्नमति उसकी विचार-शैली की विशेषता नहीं।

अभिजात्य वर्ग के रहन-सहन के कारण उसके दैनिक जीवन के आचार-विचार बड़े ही सुलझे हुए हैं। सभ्य समाज के आचरणों का वह स्वयं पालन करती है और साथ ही दूसरों से भी उसी प्रकार के व्यवहार की आशा रखती है। विलास के अशिष्ट व्यवहार से वह सदैव असन्तुष्ट रहती है। भद्रता के तकाजे के कारण ही प्रथम भेंट के समय वह नरेन्द्र से उसका नाम तक नहीं पूछ पाती। उसकी शिष्टता का मापदण्ड भी नितान्त भारतीय है। वह पुरुषों को पहले खिलाने का अधिकार नहीं छोड़ना चाहती और जाति-भेद में उसका विश्वास है; इसीलिए ब्राह्म होते हुए भी उसके विचारों में हिन्दुत्व अवशिष्ट है। दूसरों की निन्दा उसे एकदम अच्छी नहीं लगती, और यह बात वह नरेन्द्र को कुछ कठोरता के साथ बता भी देती है।

किसी भी चित्रकार को आकर्षित करने वाले सौन्दर्य की स्वामिनी होने के साथ-साथ विजया के चरित्र में सहृदयता की कमी नहीं है। गाँव की प्रजा का दुःख सुनकर उसका कोमल चित्त व्यथा से भर उठता है। नरेन्द्र के खाने-पीने की दुर्व्यवस्था जानने पर उसकी आँखों में आँसू आ जाते हैं। हृदय की स्निग्धता से संयुक्त दया भी उसके मन की स्वाभाविक वृत्ति है। अपने गुमाश्ते वृद्ध दयाल की बीमारी में, वह स्वयं रुग्ण होते हुए, नरेन्द्र को उसके पास परिचर्या के लिए भेजती है। किसी के दुःख निवारण के लिए दो-चार सौ रुपया व्यय कर डालना उसके लिए बड़ी बात नहीं। अपने पुराने नौकर कालीपद को नौकरी से अलग किये जाने पर वह रासविहारी तथा विलास को असन्तुष्ट करके स्वयं उसे रख लेती है। उसके जीवन की ये छोटी-छोटी घटनाएँ उसके कोमल मन की परि-चायक हैं, जो स्त्रियोचित दया के संयोग के कारण अत्यन्त सजल एवं स्निग्ध हो गया है।

विजया की विचार-शक्ति अवस्था के अनुकूल ही पूर्ण परिपक्व नहीं हो पायी है। विलास द्वारा दिये गये यश प्राप्त करने के प्रलोभनों में वह सहज ही फँस जाती है। लेखक के शब्दों में, "सचमुच इतने बड़े नाम का लोभ संवरण करना अठारह वर्ष की लड़की के लिए सम्भव नहीं!" और इस प्रकार समाज से सम्मान प्राप्त करने के लिए, वह पिता की अन्तिम इच्छा को ठुकरा कर भी, नरेन्द्र के पैतृक घर को लेने की सम्मति दे देती है, जिससे उसमें ब्राह्म-मन्दिर की प्रतिष्ठा हो सके। पर ब्रह्म समाज की अनुयायिनी होने पर भी उसके मन में अन्य धर्मों

के प्रति विद्वेष नहीं है। धार्मिक सहिष्णुता उसके चरित्र का प्रमुख अंग है। इसीलिए अपने घर की बगल में वह दुर्गा-पूजा के उत्सव को सम्पन्न करने की आज्ञा दे देती है। विलास के इस सम्बन्ध में आपत्ति करने पर वह स्पष्ट शब्दों में कहती है, "आप जो कर सकें करें, लेकिन मैं किसी के धर्म-कर्म में बाधा नहीं डाल सकूँगी।" अपरिपक्व अवस्था की होने पर भी उसकी सावधानी से रासविहारी बहुत परेशान हैं। अपनी दिनचर्या में विघ्न पड़ता देखकर वह विलास को फटकार देती है—"महीने-महीने दो सौ रुपये वेतन आप लेते हैं। वे रुपये तो मैं आपको यों ही खाली देती नहीं, काम करने के लिए देती हूँ···आपके असंख्य उत्पात मैं निःशब्द सहती आ रही हूँ, लेकिन मैंने जितना ही सहन किया है, अन्याय और उपद्रव उतना ही बढ़ता गया है। मालिक-नौकर के सम्बन्ध के सिवा आज से आपका मेरा और कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा।" और इस प्रकार विलास से, जो उसका संभाव्य पति है, वह स्वयं को 'तुम' कहकर सम्बोधित करने का अधिकार तक छीन लेती है। पर जब उसके क्रोध का आवेश उतर जाता है, तो अपने अशिष्ट आचरण के लिए वह लज्जित होती है। विलास के प्रति प्रदर्शित असंयत रूक्षता पर उसे पश्चात्ताप है।

ऊपर की समीक्षा से एकदम स्पष्ट है कि विजया का चरित्र सामान्य मानव-जीवन की भलाइयों-बुराइयों से भरा हुआ, नितान्त स्वाभाविक है। कभी उसका मन इतना दुर्बल हो जाता है कि वह विलास के डर से अपने प्रिय भृत्य कालीपद को निरपराध ही नौकरी से अलग करने के लिए तैयार हो जाती है, और कभी उसका मन इतना सशक्त हो उठता है कि वह रासविहारी को भी कठोर-से-कठोर बातें निःसंकोच सुना देती है। अपनी स्पष्टवादिता के कारण वह रासविहारी के सम्मुख ही उनकी नीयत पर सन्देह प्रकट करती है। विलास को वह बता देती है कि उसका प्रेम केवल धन के लिए है। मन की ऊँची-नीची भूमियों से अवसर पाकर नलिनी के प्रति उसकी ईर्ष्या भी उभर पड़ती है। नरेन्द्र को नलिनी की ओर झुकते देखकर वह हत-बुद्धि हो जाती है। उसके हृदय को भारी धक्का लगता है, वह सोचती है, "जगत् के सभी पुरुष एक ही साँचे में ढले हुए हैं। रासविहारी, दयाल, विलास, नरेन्द्र—असल में किसी के साथ किसी का कोई प्रभेद नहीं। बुद्धि और अवस्था के तारतम्य से जो कुछ बाहर दिखलाई देता है, केवल वही प्रभेद है। नहीं तो अपने सुख और सुभीते के लिए नीचता में, कृतघ्नता में, निर्मम निष्ठुरता में नारी के लिए ये सभी समान हैं।" कहना न होगा कि मनुष्य में ऐसी विचार-धारा तभी जाग्रत होती है, जबकि उसके मन के निर्बलतम स्थान पर चोट पहुँचती है।

यहाँ तक तो विजया के चरित्र के सामान्य गुण-दोषों की संक्षिप्त समीक्षा हुई। अब हम उसके मानसिक संस्थान की उस वृत्ति का विश्लेषण करेंगे, जो

नारी-समाज की आदिम एवं मूल मनोवृत्ति है, और जिसे हम प्रेम जैसे व्यापक नाम से पुकारते हैं। विजया के हृदय की रागात्मिका शक्ति बहुत तीव्र न होकर संयमित अधिक है। उसके हृदय में यौवनावस्था के आवेग के दो साझीदार हैं—नरेन्द्र और विलास। अवश्य ही पल्ला नरेन्द्र की ओर झुका दिखाई देता है, क्योंकि उसका नैसर्गिक आकर्षण नरेन्द्र की ओर ही है, परन्तु कुछ परिस्थितियों से विवश होकर उसे विलास की ओर झुकना पड़ता है। इसके दो प्रमुख कारण हैं—एक तो विलास विजया का सजातीय ब्राह्म है, और दूसरे अपेक्षाकृत वह धन-सम्पन्न है। नरेन्द्र के विपक्ष में ये दोनों ही बातें ठहरती हैं। वह हिन्दू है और उसके घर में सम्पत्ति का नाम-निशान नहीं। इसके अतिरिक्त वृद्ध तथा अनुभवी रासविहारी की कूटनीति भी विजया और नरेन्द्र के बीच यथासम्भव ऊँची दीवार खड़ी करने का प्रयत्न करती है। इस प्रकार विजया का हृदय प्रथम यौवनावस्था से लेकर विवाह होने के कुछ क्षण पूर्व तक, तीव्र मानसिक संघर्षों की रंगभूमि बना रहता है।

प्रथम बार ही एक अपरिचित व्यक्ति के रूप में जब विजया की नरेन्द्र से भेंट होती है तो उसका मन अस्थिर हो उठता है। वह सोचती है, "कौन है यह, और अब कब इससे भेंट होगी?" फिर लेखक की तो मान्यता ही है, 'जो लोग समझते हैं, यथार्थ बन्धुत्व होने के लिए अनेक दिन चाहिए उन्हें याद दिला देना ज़रूरी है, कि नहीं, यह बहुत ज़रूरी नहीं है।' यहाँ शरत् बाबू अपनी इस उपपत्ति के लिए कोई निश्चित कारण नहीं देते; और वस्तुतः यह 'यथार्थ बन्धुत्व अकारण ही आविर्भूत होता है।' अतः इस प्राकृतिक नियम के अनुकूल ही विजया और नरेन्द्र एक-दूसरे को अपने काफ़ी निकट अनुभव करते हैं। पर विजया के मन में आकर्षण का जादू अधिकग हरा है। इसीलिए वह अपरिचित नरेन्द्र को देखने की तृष्णा मन में सँजोये रहती है। बहुत दिनों तक न मिलने पर वह बिना किसी को बताये उसका पता लगवाती है।

विजया को सबसे अधिक असन्तोष इस बात का है कि नरेन्द्र के मन में उसके प्रेम की प्रतिक्रिया नहीं दिखाई देती। उस वैज्ञानिक को सदैव ही निर्विकार रहता जानकर उसकी झुँझलाहट बढ़ जाती है। इसीलिए कभी-कभी अपने व्यवहार तथा वार्त्तालाप से वह नरेन्द्र को परेशान भी कर देती है। पर उसकी सारी छेड़-छाड़ उसके हृदय के प्रेम को और पुष्ट करती है। विजया के आचरण को देखकर, बड़ी सरलता से नरेन्द्र स्वयं कहता है, "मैं तो आपके लिए एकदम पराया हूँ, मेरे दुःख-कष्ट से सचमुच ही तो आपका कुछ हानि-लाभ नहीं है, तो भी आपका आचरण देखकर बाहर का कोई नहीं कह सकता कि मैं आपका अपना व्यक्ति नहीं हूँ।" नरेन्द्र के इस कथन में यद्यपि बाह्य शिष्टाचार का कोई अंश नहीं, तथापि उसकी निष्कपट उदासीनता, जो उसके व्यवहार एवं बातचीत से

टपकती है, विजया के निकट चिन्ता का विषय है। प्रणय-रीति से अपरिचित नरेन्द्र विजया के मनोभाव ठीक-ठीक नहीं पहचान पाता, इसीलिए उसके चले जाने पर अनजाने में ही विजया का मन, आँखें और वस्त्र एक साथ भीग उठते हैं ।

कुछ तो नरेन्द्र की सरलता के कारण और कुछ रासविहारी एवं विलास के भय से विजया नरेन्द्र के प्रति अपने प्रेम को स्पष्टतः प्रकट नहीं करपाती। बीमारी की अवस्था में अवश्य ही वह एक बार सब के सम्मुख भावावेश में नरेन्द्र से कहती है, "मैं जब तक अच्छी न हो जाऊँ, बोलो, कि तब तक तुम कहीं न जाओगे—तुम चले गये तो मैं शायद बचूँगी नहीं ।" यह नियति का व्यंग है कि विजया के इतने बड़े आग्रह को भी नरेन्द्र नही समझ पाता। परिणामस्वरूप अनिच्छा रहते हुए भी वह परिस्थितियों के प्रभाव से दिन-प्रतिदिन विलास के अधिकाधिक निकट आती जाती है । कलकत्ता जाते हुए, स्टेशन पर जब नरेन्द्र उसके सन्देश को क्रोधित होकर ठुकरा देता है तो इस समाचार को जानकर वह एकदम स्तब्ध रह जाती है। कालीपद देखता है कि उसकी दृष्टि जैसी निर्विकार वैसी ही शून्य है।

विलास का प्रेम उसके मन मे प्रविष्ट नहीं होता। "शाम के गहरे अँधेरे में एकाकी कमरे में उसके संगी-विहीन प्राण जब व्यथा से व्याकुल हो उठते हैं, तब कल्पना में निःशब्द पद-संचार करके जो धीरे-धीरे उसके बगल में आ बैठता है, वह विलास नहीं और एक व्यक्ति है" विजया यद्यपि भलीभाँति समझती है कि विलास के सम्मुख, संसार-यात्रा के दुर्गम पथ में, इस हृदय में रहने वाले व्यक्ति का मूल्य बहुत कम है—वह जैसा अपटु है, वैसा ही निरुपाय भी—तथापि अपने मन से वह उसे निकालने में असमर्थ है। नरेन्द्र के प्रति प्रेम उसके अस्तित्व का आधार हो गया है। इसीलिए विलास के साथ विवाह की भूमिका-स्वरूप, आशीर्वाद के स्वर्ण-वलय को हथकड़ियों के समान, वह अवश हाथों में पहनती है। पर उस मूर्छितप्राय निरुपाय नारी के हृदय की गम्भीर वेदना को कोई नहीं समझ पाता ।

और जब एक दिन नरेन्द्र द्वारा दिये गये अपने मृत पिता के पत्रों से उसे इस बात का पता चलता है कि उनकी हार्दिक इच्छा यही थी कि विजया का विवाह नरेन्द्र के साथ हो, तो उसके मन का संघर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। अपने ऋणी नरेन्द्र को दान देने की बात से उसके मन को कष्ट पहुँचता है, परन्तु वस्तुतः तो नरेन्द्र ही उसका स्वामी है। जब उसे इस बात का ज्ञान होता है, तो रासविहारी की कूटनीति के चक्र में पड़कर नरेन्द्र के प्रति किये गये अपने व्यवहार को याद कर उसका मन सन्ताप से भर उठता है, परन्तु अब तो बाहर निकलने का भी कोई मार्ग नहीं रहता।

इसी बीच में एक ग़लतफ़हमी उसके उखड़े हुए, उदासीन हृदय को नरेन्द्र

से दूर कर देती है। वह एक बार नरेन्द्र को दयाल की अविवाहित भांजी नलिनी के साथ देखकर शंकित हो उठी थी, परन्तु जब वह यह सुनती है कि रोज़ शाम को नरेन्द्र कलकत्ता से नलिनी को पढ़ाने के लिए आया करता है तो उसका सन्देह और भी दृढ़ हो जाता है। फिर एक बार जब वह दयाल के घर नरेन्द्र और नलिनी को अत्यन्त घनिष्ठ भाव से पास-पास बैठा देखती है तो उसके हृदय में नरेन्द्र के प्रति सारा प्रेम एक बार ही मुरझा जाता है, नलिनी के प्रति ईर्ष्या की आग उसके मन में भड़क उठती है। नरेन्द्र की ओर तो वह देखती तक नहीं। उसके बाद यह पूछने पर, "मुझे शायद पहचान भी न सकीं ?" वह शान्त अवज्ञा के साथ उत्तर देती है, "पहचान सकने से ही क्या पहचान करना ज़रूरी हो जाता है ?"

पर इसके बाद कथानक फिर एक बार मोड़ लेता है और विजया को ज्ञात होता है कि नरेन्द्र केवल उसी से प्रेम करता है। यह जानकर उसका मन निर्मल हो उठता है, परन्तु अब तो उसके बाहर निकलने के सारे मार्ग अवरुद्ध हैं। वह नरेन्द्र तक पहुँचे किस प्रकार ? इस विकट परिस्थिति में उसके स्नेह की दृढ़ता सचमुच दर्शनीय है। वह भग्न कण्ठ से कहती है, "नहीं नहीं, मरण के अतिरिक्त अब और कोई मार्ग नहीं।" पर प्रेम का निर्मल-से-निर्मल सूत्र भी बड़ी कठिनाई से टूटता है। नलिनी एवं दयाल की चतुराई से एक बड़े नाटकीय वातावरण में विजया और नरेन्द्र का विवाह हो जाता है, और इस प्रकार विजया के प्रेम का और उपन्यास के कथानक का बड़े सन्तोषजनक एवं सुखद रूप में अन्त होता है।

विजया के नैसर्गिक प्रेम को नरेन्द्र का प्रतिद्वन्द्वी विलास, कुछ दुर्बल क्षणों को छोड़कर, कभी प्राप्त न कर सका। यह सोचते हुए भी कि कुछ दिनों के बाद ही विलास उसका पति होने जा रहा है, विजया उसे अपने निकट न ला सकी। कुछ दिनों के लिए अवश्य, जब खिन्नता तथा उदासी के वातावरण में वह नरेन्द्र की ओर से विमुख हो गयी थी, उसका विवश मन विलास की ओर आकर्षित हुआ था। पर शीघ्र ही उसकी भूल का निराकरण हुआ तथा उसकी नैसर्गिक वृत्तियाँ पूर्ववत् हो गयीं। यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो 'परिणीता' से लेकर 'गृहदाह' तक प्रेम की प्रतिद्वन्द्विता की भावना एक निश्चित ढंग से विकसित होती हुई दिखाई देती है। 'परिणीता' की ललिता की ओर शेखर तथा गिरीश आकर्षित हैं, पर प्रतिदान-स्वरूप ललिता केवल शेखर को ही अपना हृदय देती है। अतः उसके मन में किसी प्रकार का संघर्ष नहीं। 'दत्ता' में विजया को प्राप्त करने के इच्छुक दो हैं—नरेन्द्र तथा विलास। यद्यपि विजया समग्र भाव से नरेन्द्र को ही चाहती है, परन्तु कुछ काल के लिए उसका झुकाव विलास की ओर भी होता है। उसके मन में संघर्ष की भावना अपेक्षाकृत कुछ अधिक तीव्र हो जाती है। 'गृहदाह' के कथानक की मूल संवेदना उक्त दोनों उपन्यासों की मूल संवेदना से एकदम मिलती-

जुलती है—ब्राह्म तथा हिन्दू, एवं धनी तथा निर्धन का वही प्रेममूलक संघर्ष इसमें भी विद्यमान है, परन्तु अपने जीवन के उत्तरार्द्ध तक आते-जाते, नारी के एकनिष्ठ प्रेम में शरत् का विश्वास कुछ डिग उठा था। 'गृहदाह' में भी अचला के दो प्रेमी हैं—महिम और सुरेश। पर यहाँ अचला का हृदय दोनों की ओर समान भाव से आकर्षित है। उपन्यास के अन्त तक शायद लेखक स्वयं नहीं निश्चित कर सका कि अचला महिम को अधिक चाहती है अथवा सुरेश को। मनोविज्ञान के प्रभाव तथा अवस्था एवं अनुभव में वृद्धि के साथ-साथ, लेखक की नारी में रहस्यात्मकता की मात्रा बढ़ती गयी है, इसका स्पष्ट आभास हमें उपर्युक्त विवेचन से मिलता है।

जैसा कहा जा चुका है, 'दत्ता' में केवल दो नारी-चरित्र हैं—विजया तथा नलिनी। जहाँ विजया पूरे उपन्यास में छायी रहती है, वहाँ नलिनी का कथानक में स्थानीय महत्त्व है। इसीलिए उसके चरित्र के अध्ययन की सामग्री हमें अधिक नहीं मिलती। नलिनी विजया के यहाँ एक कर्मचारी दयाल की सुशिक्षिता एवं रूपवती भांजी है। अवस्था में विजया से वह कुछ ही बड़ी है। नरेन्द्र के प्रति उसकी आत्मीयता अत्यन्त सहज भाव से हो जाती है। पर उसका नरेन्द्र के साथ केवल मैत्री का सम्बन्ध है। हृदय की वह निष्कपट तथा सरल जान पड़ती है। इसीलिए उसकी हार्दिक इच्छा है कि नरेन्द्र और विजया परस्पर एक सूत्र में बँध जाएँ, और अपने इस निश्चय को वह अनेक विघ्न-बाधाओं के रहते हुए भी कार्य रूप में परिणत कर डालती है। उसके मन में सेक्स की विकृतियाँ नहीं हैं, इसीलिए उसका व्यक्तित्व इतना उदार, इतना सरल तथा इतना विनोद-प्रिय है। उसका जितना चरित्र उपन्यास में अंकित है वह नितान्त पारदर्शक तथा समन्वित है। दो बिछुड़े हुए हृदयों को मिलाने का पुण्य उसकी प्रकृति को स्पृहणीय बना देता है।

गृहदाह

विचार एवं विधान-दोनों ही दृष्टियों से 'गृहदाह' शरत् बाबू की अत्यन्त प्रौढ़ कृति है। लेखक की नारी-चरित्र सम्बन्धी विचार-भूमि में उसका विशिष्ट स्थान है। 'परिणीता' और 'दत्ता' में अंकित प्रेम की प्रतिद्वन्द्विता एवं रागात्मक संघर्ष अपनी चरम सीमा पर 'गृहदाह' में पहुँचा है। उपन्यास के शीर्षक से ही उसके सारे वातावरण की एक झलक हमारी आँखों के सामने आ जाती है। किसी के जलते हुए घर की संवेदना से प्रेरित होकर शरत् ने इसकी रचना की होगी। 'गृहदाह' के पात्रों का विकास प्रारम्भ से ही शंका और संशय के वातावरण में होता है। उनके अभिशप्त व्यक्तित्व मानसिक अस्थिरता एवं दुर्बलता के प्रतीक हैं। इसीलिए उपन्यास के कथानक में पाठक एक क्षण के लिए भी जी भर कर साँस नहीं ले पाता। उसका मन सहमा-सहमा-सा रहता है। पग-पग पर उसे किसी आने वाली आकस्मिक दुर्घटना का आभास मिलता है। इन्हीं कारणों से 'गृहदाह' को यदि आदि से लेकर अन्त तक एक सिसकती हुई ट्रैजडी कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी।

यह बात निश्चित है कि 'गृहदाह' की घटनाओं की यथाक्रम योजना बिना उसे आद्योपान्त पढ़े हुए समझ लेना सम्भव नहीं। यहाँ पर बहुत संक्षेप में हम उसकी मूल-कथा की कुछ चर्चा करेंगे। महिम और सुरेश अभिन्न मित्र हैं। महिम निर्धन, परन्तु प्रकृति का अत्यन्त दृढ़ है। इसके विपरीत सुरेश एक धनाढ्य गृह का लड़का है, पर अनेक गुणों के होते हुए भी उसका स्वभाव अपेक्षाकृत अस्थिर है। इन दोनों ही युवकों का अपना निकट का कोई सम्बन्धी नहीं है। महिम एक अचला नाम की ब्राह्म युवती से प्रेम करता है, तथा उससे विवाह करना चाहता है; किन्तु ब्रह्म-समाज का कट्टर विरोधी होने के कारण सुरेश ऐसा करने से महिम को रोकता है। इस विवाह में अवरोध डालने के लिए वह स्वयं अचला के पिता के पास जाता है। पर वहाँ पहुँच कर अचला के शील-सौन्दर्य पर वह भी कम मुग्ध नहीं होता। उसके पिता का कई हजार का ऋण वह शीघ्र चुका देता है। सुरेश का धन-वैभव तथा उसके गुणों को देखकर केदार बाबू

अचला का विवाह उसी से करना चाहते हैं।

यहीं से अचला के हृदय में रागात्मक संघर्ष का प्रारम्भ हो जाता है। पर विवाह वह महिम से ही करती है। पति-गृह पहुँचने पर अचला की भेंट मृणाल से होती है, जिसका विवाह पहले महिम के साथ होने वाला था। यहाँ आकर उपन्यास के सभी पात्रों पर संशय एवं शंका की एक ऐसी छाया पड़ती है, जिससे वे अन्त तक नहीं उबर पाते। अचला मृणाल के कारण महिम पर सन्देह करती है, और महिम सुरेश के कारण अचला पर सन्देह करता है। इस प्रकार पारस्परिक विश्वास के अभाव के कारण, पति तथा पत्नी दोनों में से कोई एक-दूसरे से सन्तुष्ट नहीं रह पाता। इसी बीच नव-विवाहित युग्म के यहाँ सुरेश जा पहुँचता है। उसके आगमन से कलह के वातावरण में और भी कटुता उत्पन्न हो जाती है। अन्ततः महिम से अप्रसन्न होकर अचला सुरेश के साथ वापस अपने पिता के यहाँ कलकत्ता चली आती है।

गाँव में अकेला महिम बीमार पड़ता है। सुरेश उसे अपने यहाँ लिवा लाता है। सबकी सम्मिलित परिचर्या के फलस्वरूप महिम स्वस्थ होता है, और जल-वायु परिवर्तन के लिए सुरेश और अचला के साथ जबलपुर के लिए प्रस्थान करता है। रास्ते में रात के समय सुरेश के मन के असुर जागृत होते हैं, और वह अचला को धोखा देकर उसे जनाने डिब्बे से इलाहाबाद के पहले ही मुगल सराय पर उतार लेता है। सोता हुआ बेचारा महिम ट्रेन में चला जाता है। इस प्रकार पति से अलग किये जाने पर पहले तो अचला सुरेश से बहुत अप्रसन्न होती है; पर अन्त में कलह के शान्त होने पर वह छद्म नाम धारण कर सुरेश के साथ बड़े राजसी ठाठ-बाट के साथ डेहरी में रहने लगती है।

तभी इधर-उधर घूमता हुआ महिम वहाँ पहुँचता है। उससे साक्षात्कार होने पर लज्जा और ग्लानि से सुरेश तथा अचला दोनों गड़ जाते हैं। पर कोई कुछ कहता नहीं। एक दिन पास के गाँव में प्लेग की परिचर्या के लिए गये हुए सुरेश की मृत्यु हो जाती है। उसकी बीमारी का समाचार जानकर महिम और अचला भी वहीं पहुँच गये थे। सुरेश की अन्त्येष्टि क्रिया समाप्त कर महिम और अचला वापस डेहरी आते हैं। बिना किसी विशेष वार्त्तालाप के निरुपाय अचला को छोड़कर महिम वहाँ से चला जाता है। और इस प्रकार 'गृहदाह' का कार्य पूर्ण होता है। इसके उपरान्त मृणाल के आग्रह के फलस्वरूप महिम ने अचला को फिर स्वीकार किया या नहीं, इस बात का कोई आभास लेखक हमें नहीं देता। शायद इससे आगे की कथा को वह स्वयं न जानता हो, शायद नियति-चक्र से घायल अचला के दुर्भाग्य पर वह और प्रकाश न डालना चाहता हो। जो भी हो, शंका और सन्देह, संशय और अविश्वास की चरम परिणति दारुण यन्त्रणा में हो जाती है, जिसकी कथा पढ़कर कठोर-से-कठोर हृदय वाला व्यक्ति भी एक

बार सिहर उठता है। यह है इन मानवीय मनोविकारों के रंगमंच 'गृहदाह' की मूल रूप-रेखा !

'गृहदाह' के विस्तृत कथा-भाग्य में केवल दो प्रमुख नारी पात्र हमारे सामने आते हैं—अचला और मृणाल। वीणापाणि का उपन्यास में स्थानीय महत्त्व है, तथा शेष बुआजी और हरिया की माँ पार्श्व-चरित्र हैं। शरत् के नारी-पात्रों में शायद अचला का चरित्र ही सबसे अधिक रहस्यमय एवं उलझा हुआ है। 'चरित्रहीन' की किरणमयी तथा 'शेष प्रश्न' की कमल के चरित्र भी जटिल हैं, परन्तु उनकी जटिलता केवल इस कारण है कि उनकी मान्यताएँ और धारणाएँ प्राचीन परम्परा के विरुद्ध हैं, उनके व्यक्तित्व में विद्रोह का भाव अधिक है। इसलिए जटिलता सापेक्षिक दृष्टिकोण से है। पर अचला का चरित्र तो अपने आप में ही बड़ी अँधेरी गहराइयों को लिये हुए है। उसका चंचल एवं अस्थिर मन मनोविज्ञान के बड़े-से-बड़े पण्डितों के निकट अध्ययन की वस्तु है। अचला के इस गहन चरित्र का विश्लेषण हम सर्वप्रथम करेंगे।

अचला के व्यक्तित्व का सबसे बड़ा विरोधाभास यह है कि व्यावहारिक संयम तथा मानसिक असंयम दोनों साथ-साथ ही उसके स्वभाव में स्थित हैं। उसके मानसिक असंयम की विवेचना हम आगे चलकर करेंगे, यहाँ उसके व्यावहारिक संयम की कुछ चर्चा आवश्यक है, परन्तु उसकी यह संयत प्रकृति जितनी उसके विवाह-पूर्व जीवन में द्रष्टव्य है, उतनी उसके विवाह के बाद के जीवन में नहीं। उपन्यास के प्रारम्भिक परिच्छेदों में इस 'संयतवादिनी तरुणी' के 'शान्त और दृढ़ प्रतिवाद' उसके 'शान्त मृदु कण्ठ' से सुनकर सहसा चकित रह जाना पड़ता है। महिम के सम्बन्ध में नवागत सुरेश के बड़े-से-बड़े आक्षेपों को चुपचाप सुन लेती है। तब सुरेश सोचता है, 'यह लड़की शिक्षा में, ज्ञान में, उमर में,—सम्भव है सभी विषयों में उसकी अपेक्षा छोटी है, फिर भी उसने इन कुछ ही क्षणों की बातचीत में उसे जो इस क़दर पराजित कर दिया, सो सिर्फ़ असाधारण संयम के बल पर ही। इसीलिए वह इतनी शान्त होकर भी इतनी दृढ़, इतना जानकर भी इतनी नीरव है······एक क्षण के लिए भी चंचल होकर, बहस करके, कलह करके, अपने को छोटा नहीं किया। बराबर अपने को दमन किया है।' स्वल्पभाषिणी होने से उसकी धीरता और भी बढ़ जाती है। क्रोध का उसकी प्रकृति में अधिक स्थान नहीं, वह प्रारम्भ से ही क्षमाशील दिखाई देती है। एक दिन उसको और उसके पिता को सुरेश ने जो बड़े तीव्र स्वर में कठोर बातें सुनायी थीं, उनके लिए वह उसे हृदय से क्षमा कर देती है। कलकत्ता में आये हुए महिम की बीमारी का समाचार सुनकर वह ज़रा भी चंचल नहीं होती। बड़े स्थिर चित्त से वह सुरेश के घर जाकर अपने पति की परिचर्या करती है, परन्तु जैसा, कहा जा चुका है, अचला की यह व्यावहारिक

स्थिरता उसके जीवन के पूर्वार्द्ध में ही है। विवाह के बाद के मानसिक संघर्ष के समय तो वह बहुत चिड़चिड़ी हो जाती है, बात-बात पर खीज उठती है। वैसे उसे अपने पिता पर विशेष श्रद्धा नहीं है, पर जब सुरेश उनके सम्बन्ध में वृद्ध रामचरण से कुछ चर्चा करता है तो वह अप्रत्याशित रूप से क्रुद्ध हो जाती है। इसी प्रकार सुरेश की बीमारी में परिचर्या के लिए कभी वह आती है, तथा कभी नहीं आती। वस्तुतः पति-परित्याग के बाद से उसके मन की वृत्तियाँ उसके वश में नहीं रह जातीं।

ब्राह्म होते हुए भी धर्म-सहिष्णुता का अचला परित्याग नहीं करती। यत्र-तत्र उसकी वाक्पटुता और व्यावहारिकता का भी हमें आभास मिलता है। उसके चरित्र के ये गुण उसे एक भद्र महिला ठहराते हैं। वृद्ध एवं अनुभवी रामबाबू भी सोचते हैं, 'वह वास्तव में भद्र महिला है। अपनी किसी भी सहूलियत की ख़ातिर वह हरगिज़ झूठ नहीं बोल सकती।' वैसे अचला की पितृभक्ति कम नहीं है, पर केदार बाबू की मानसिक दुर्बलताओं से परिचित होने पर, वह उन पर अश्रद्धा करने लगती है। इस प्रकार जीवन के बाह्य और ऊपरी उपकरणों को लेकर अचला की भद्रता के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। पर जब हम उसके मनस्तत्त्व की सूक्ष्म परीक्षा करते हैं तो वहाँ उसकी कमजोरियों का ही अधिकार दिखाई देता है। अचला के मन को यदि मानसिक दौर्बल्य के प्रतीक मनोविकारों का रंगस्थल कहा जाए तो कदाचित् अत्युक्ति न होगी। पर यह निर्विवाद है कि उसके मन की भद्रता ने, चाहे वह कितनी ही कम क्यों न हो, उसके जीवन को अधिकाधिक निर्बल एवं अशक्त बना दिया है। इस भद्रता के कारण, अथवा इस भद्रता के 'आचरण' के कारण ही, वह सुरेश और महिम दोनों में से किसी को भी सन्तुष्ट न कर सकी, ऐसा कहना आंशिक रूप से अवश्य ही सत्य है। उसकी मानसिक अस्थिरता के और भी कई कारण हैं, पर उनमें से एक यह भी है।

अचला के हृदय में परस्पर विरोधी भावों की स्थिति बड़े आश्चर्यजनक रूप से है। एक ओर मन की वह इतनी अस्थिर और चंचल है, पर दूसरी ओर उसके व्यक्तित्व की दृढ़ता भी दर्शनीय है। अपने पिता एवं सुरेश की इच्छा के विरुद्ध वह महिम को उसके प्लेग-ग्रस्त मित्र के घर जाने से आग्रहपूर्वक रोकती है। इस सम्बन्ध में सुरेश के यह पूछने पर, "इसमें अब किसी तरह का परिवर्तन सम्भव नहीं?" वह स्पष्ट एवं निर्भीक स्वर में सिर हिलाकर संक्षिप्त उत्तर देती है, "नहीं"। इस दृढ़ता की पृष्ठभूमि में कहीं-कहीं उसका हठ भी वर्त्तमान है। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि अचला के चरित्र की यह दृढ़ता उसके लिए स्वाभाविक नहीं है। जब किसी मानसिक संघर्ष से वह बहुत पीड़ित हो उठती है, तब भावावेग में शीघ्र ही वह अविचलित होकर किसी भी निष्कर्ष पर पहुँच जाती

है। इस प्रकार उसके मन की अस्थिरता ही उसके चरित्र में यत्र-तत्र मिलने वाली दृढ़ता का मूल-स्रोत है। महिम और सुरेश को लेकर जब उसका रागात्मक द्वन्द्व अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है तो वह महिम को बुलाकर उसके दाहिने हाथ में अपनी अँगूठी पहना देती है। वह कहती है, "शरमाने के लिए अब मेरे पास समय नहीं है···अब मुझसे सोचा नहीं जाता। अब तुम्हें जो कुछ करना हो, करना।" किन्तु पति-परित्याग के उपरान्त उसने जो लज्जा, ग्लानि एवं अपार मानसिक सन्ताप के भार को सिर पर उठाकर अपनी सहनशीलता दिखाई है, वह अनुपम है।

विषम परिस्थितियों में अपने को उनके अनुकूल बना लेने की क्षमता अचला में है। कथानक के प्रारम्भ में सुरेश से असन्तुष्ट होते हुए भी पिता की आवश्यकता को देखकर वह उसका ऋण स्वीकार कर लेती है। पितृ-गृह में नितान्त अभिजात वातावरण में पलने के उपरान्त जब वह महिम के साथ अपनी ससुराल के टूटे-फूटे मकान में पहुँचती है तो वह किसी-न-किसी प्रकार अपने को वहाँ की ग्रामीणता के अनुकूल बना लेती है। अचला के चरित्र में बुद्धि का पर्याप्त विकास हो चुका है। सुरेश और मृणाल का विवाह कर वह अपने को दोनों से सम्बन्धित ग़लतफ़हमियों से मुक्त करना चाहती है। सुरेश से वह कहती है, "आप के समक्ष मैं असंख्य ऋणों से ऋणी हूँ। इसके सिवा मैं आपकी हिताकांक्षिणी भी हूँ। आपको मैं स्वस्थ स्वाभाविक गृहस्थ के रूप में देखना चाहती हूँ। एक दिन आप ब्याह करने को तैयार थे; आज मेरा विशेष अनुरोध है कि आप इसे स्वीकार करें।" अचला के इस प्रस्ताव से स्पष्ट है कि वह किस प्रकार एक ही तीर में दो निशाने मारना चाहती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि सुरेश इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता तो कदाचित् 'गृहदाह' के कथानक की गतिविधि ही बदल जाती। उस दशा में न स्वयं अचला मृणाल के कारण महिम पर सन्देह कर सकती, और न महिम ही सुरेश के कारण अचला पर सन्देह कर पाता।

उपन्यास में अचला मुख्य रूप से महिम, सुरेश तथा मृणाल से सम्बन्धित है। उसके चरित्र का विकास इन्हीं तीनों व्यक्तियों के सम्पर्क के कारण होता है। महिम के लिए उसके हृदय में नैसर्गिक प्रेम है। सुरेश के विवाह सम्बन्धी प्रथम प्रस्ताव को वह स्पष्ट रूप से अस्वीकृत कर देती है, क्योंकि अनन्य भाव से वह केवल महिम को ही चाहती है तथा उसी के हाथ में विवाह के प्रस्ताव स्वरूप वह अपनी अँगूठी पहनाती है। ईर्ष्याग्रस्त सुरेश जब महिम को अपने साथ एक मित्र को देखने के लिए प्लेग के क्षेत्र में ले जाना चाहता है, तो वह दृढ़तापूर्वक इसका विरोध करती है। जबलपुर जाते समय ट्रेन में उसे महिम की ही चिन्ता रहती है, सुरेश की नहीं। और जब सुरेश उसे छलपूर्वक महिम से अलग कर देता है तो वह अत्यन्त विकल हो जाती है। यहाँ तक कि वह सुरेश के ऊपर उसे मारने

का आक्षेप लगा देती है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि महिम की उदासीनता ने उसे उसके प्रति विमुख कर दिया है। गांव से तो वह महिम से असन्तुष्ट हो कर चली आयी थी, फिर कभी न जाने के लिए! उसके मस्तिष्क में बार-बार यह विचार आता है कि वह महिम से प्रेम नहीं करती और एक बार महिम के सम्मुख ही इस तथ्य को वह प्रकट भी कर देती है। महिम और अचला वस्तुतः एक-दूसरे को प्यार करते हुए भी क्रमशः सुरेश और मृणाल के कारण एक-दूसरे के निकट नहीं आ पाते। महिम यदि अचला के प्रस्ताव को मानकर उसे किसी पश्चिम के शहर ले जाता, जहाँ सुरेश और मृणाल दोनों उससे दूर रहते, तो उनके प्रेम का ऐसा दुःखद अन्त न होता। वस्तुतः महिम और अचला के बीच सुरेश ही ऐसी ऊँची दीवार है, जिसके कारण वे एक-दूसरे से मिल नहीं पाते। सुरेश की मृत्यु के उपरान्त अचला महिम का हाथ पकड़कर कहती है, "अब मैं कमजोर नहीं हूँ, तुम्हारा हाथ पकड़कर जितनी दूर कहो, जा सकूँगी।" पर तब तक महिम और अचला एक-दूसरे से इतनी दूर हो गये हैं कि एकदम निकट रहते हुए भी वे परस्पर नहीं मिल सकते। यद्यपि यह सच है कि 'इस लड़की को केन्द्र करके उसके (महिम के) जीवन के ऊपर से जो तूफ़ान बह गया है, वह प्रलय की तरह असीम है, उसकी कोई उपमा नहीं।'

महिम के प्रति नैसर्गिक प्रेम रखती हुई भी, अचला सुरेश की ओर कम आकर्षित नहीं है। पिता की इच्छा होने पर भी यद्यपि वह पहले सुरेश द्वारा किये गये विवाह के प्रस्ताव को अस्वीकृत कर देती है, पर बाद में कुछ तो महिम की उदासीनता के कारण और कुछ सुरेश की प्रकृति के कारण, वह सुरेश से भी अपने को अलग नहीं कर पाती। एक बार वह जब सुरेश के साथ विवाह के लिए प्रस्तुत हो जाती है तो केवल विवश होकर ही। वस्तुतः अचला के प्रथम यौवन की प्रथम उमंगों का एक मात्र अधिकारी महिम ही है। प्रारम्भ में वह महिम से प्रेम करती है और सुरेश के प्रति श्रद्धालु है। सुरेश से बीच में असन्तुष्ट हो जाने पर भी वह उसकी दया एवं निर्भीकता पर गर्व करती है। महिम की पत्नी बन जाने पर भी अचला के अवचेतन में सुरेश के प्रति प्रेम बराबर छिपा रहता है। ज्यों-ज्यों वह उसे असत्य एवं मिथ्या समझने का प्रयत्न करती है त्यों-त्यों वह और भी प्रबल होता जाता है। सुरेश के बार-बार यह पूछने पर कि महिम के साथ वह दुःखी तो नहीं है, एक बार उसके मुँह से निकल ही पड़ता है—"मैं क्या पत्थर हूँ सुरेश बाबू?" इस प्रकार वह बता देती है कि इस सम्बन्ध में उसकी सहनशीलता असाधारण नहीं है। इसके उपरान्त जब छलपूर्वक सुरेश अचला को महिम से अलग कर देता है, तब वह निश्चित रूप से सुरेश पर अश्रद्धा करने लगती है। पर अब तक समय के झँकोरों में उसके प्रति प्रेम इतना पुष्ट हो चुका है कि वह उसे छोड़ नहीं पाती।

डहरी में रहते समय उसकी सेक्स सम्बन्धी शारीरिक एवं मानसिक अतृप्ति उसे उसकी इच्छा के विरुद्ध, सुरेश के प्रति अधिकाधिक निकट लाती है। कथानक के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते उसका सुरेश के लिए प्रेम दया में परिणत हो जाता है। सुरेश का परित्याग वह किसी भी समय नहीं कर पाती, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि अचला 'बड़ी---बहुत बड़ी' तभी तक है, जब तक वह महिम से सम्बन्धित है। महिम को छोड़ देने से कदाचित् उसकी सारी महिमा चली जाती है। सुरेश तो उसके हृदय की शायद सबसे बड़ी दुर्बलता है।

अचला का मृणाल से सम्बन्ध ईर्ष्यामूलक है। बार-बार मज़ाक़ में कहने पर अचला मृणाल को सचमुच ही सौत समझ लेती है पहली बार भेंट होने पर वह मृणाल पर सपत्नी भाव से सन्देह करती है। यद्यपि वह मन को समझाती है, "इसमें वास्तव में मज़ाक़ के सिवा और कुछ भी नहीं, जी खराब करने की कोई ऐसी बात नहीं,···मेरा मन ही अपवित्र है" पर इससे उसका संशय दूर नहीं होता। अन्ततः वह इसी निर्णय पर पहुँचती है, 'इतने दिनों तक एक गृहस्थी में रहकर कोई पुरुष इस स्त्री को बग़ैर प्रेम किये कैसे छोड़ सकता है?' किन्तु इतना होने पर भी मृणाल का सरल स्वभाव उसे मुग्ध किये बिना नहीं रहता।

ऊपर हमने अचला के मन को विभिन्न मनोविकारों का शाश्वत रंगस्थल कहा है। उसके चरित्र के बाह्य उपकरणों की परीक्षा करने के उपरान्त अब हम बहुत संक्षेप में उसके मनस्तत्त्व का सूक्ष्म अन्वीक्षण करेंगे। कुछ तो अपने अस्थिर हृदय और कुछ परिस्थितियों के प्रभाव से अचला का प्रेम सुरेश और महिम दोनों की ओर ही खिंचता हुआ दिखाई देता है। इस सम्बन्ध में एक मत यह भी हो सकता है कि अचला कदाचित् इतनी सीधी, इतनी भली है कि अपने दो प्रेमियों में से वह किसी को असन्तुष्ट नहीं करना चाहती। इस नीति के फलस्वरूप ग़लतफ़हमी का जन्म होता है, और यह ग़लतफ़हमी, यह पारस्परिक विश्वास का अभाव ही मानव-जीवन की भयानकतम ट्रैजडी का मूलस्रोत है। अस्तु, अचला के मन में आदि से लेकर अन्त तक एक रागात्मक संघर्ष विद्यमान रहता है। इस सम्बन्ध में वह महिम को अपनी सफ़ाई भी देना चाहती है, पर अपनी हठवादिता के कारण वह उसे सुनना नहीं चाहता। इससे अचला का अन्तःकरण और भी शुद्ध नहीं हो पाता। अपने जलते हुए घर में जाने से वह सुरेश को भी रोकती है और महिम को भी। महिम नहीं मानता पर सुरेश रह जाता है। और यह घटना ही मानो प्रतीक रूप से 'गृहदाह' की मूल संवेदना हो जाती है।

अचला के मन का प्रेममूलक संघर्ष उसके व्यक्तित्व में घोर अशान्ति को जन्म देता है। सुरेश के घर में महिम की परिचर्या करते समय उसे स्पष्ट दिखाई देता है कि 'कोई कहीं उसे उठते-बैठते में काँटा-सा चुभा रहा है।' जबलपुर जाते समय उसकी चित्त-वृत्तियाँ और भी अस्थिर हो जाती हैं। ट्रेन में अपने कटु

व्यवहार के लिए क्षमा माँगती हुई वह वीणापाणि से कहती है, 'मेरा मन खराब रहता है।' अचला के मुख से निकला हुआ यह छोटा-सा वाक्य उसकी मानसिक यन्त्रणा का यथार्थ परिचायक है। वह अनुभव करती है 'मानो गाढ़ अन्धकार ने उसके आदि-अन्त को पूर्ण-रूप से निगल लिया है। प्रकाश का चेहरा,—आनन्द का मुँह अब वह कभी देखेगी ही नहीं, इससे इस जीवन में अब उसे मुक्ति मिलेगी ही नहीं।' गहरी पीड़ा से दुखी होने पर उसकी भगवान में आस्था भी कुछ डिगने लगती है, जिसने उसके यौवन के प्रथम आनन्द को असत्य मे इस प्रकार विकृत कर दिया है। वृद्ध रामबाबू को स्पष्ट दिखाई देता है कि 'इसके मन में कोई एक भयानक वेदना भट्ठी की आग की तरह दिन-रात जल रही है।'

अचला के मन में ईर्ष्या, क्रोध और गर्व की भावना भी यथास्थान उपस्थित है। इन सबका मिला-जुला स्वरूप हमें उस समय दिखाई देता है जब वह सुरेश के मुख से मृणाल के सतीत्व की प्रशंसा सुनकर कहती है, "संसार में सिर्फ़ मृणाल ही एक मात्र सती नहीं, सुरेश बाबू, ऐसी भी सती मौजूद हैं, जो मन-ही-मन एक बार किसी को पति-रूप में वर लेती हैं तो फिर हज़ारों-लाखों प्रलोभन दिखाने पर भी उन्हें डिगाया नहीं जा सकता।" किन्तु अपने सम्बन्ध में अचला की यह गर्वोक्ति सच नहीं उतरती और उसे अपने यौवन का सबसे मादक समय डेहरी में रहकर असत्य एवं लज्जा की छाया में बिताना पड़ता है। यह सच है कि अचला को अपनी भूलों का पश्चात्ताप है, उसे आत्मग्लानि भी है, किन्तु उसका चरित्र इतना सशक्त नहीं कि वह असत् को छोड़कर सत् की ओर बढ़ सके। अपने रुग्ण पति की परिचर्या करके एक बार उसका अन्तःकरण नितान्त शुद्ध और 'गंगाजल की भाँति निर्मल और पवित्र' हो जाता है, किन्तु इतने पर भी उसके मन की विकृति उसे पतन की ओर ही ले जाती है। जब महिम उसे डेहरी में सुरेश के साथ देखता है, उस समय तो वह अपनी मृत्यु की कामना करती है, पर इसके बाद भी वह सही रास्ते पर नहीं आ पाती। वस्तुतः अचला के प्रेम में त्याग से अधिक भोग है। मरणासन्न सुरेश महिम से ठीक ही कहता है, "उसका प्रेम तुम्हारी ग़रीबी के साथ ऐसी उलझन में पड़ गया कि,···ख़ैर जाने दो। ऐसी सुन्दर चीज़ को मैंने मिट्टी में मिला दिया,—न तो ख़ुद पा सका न दूसरे को पाने दिया।"

अचला के वैवाहिक जीवन को लेकर काफ़ी विचार-विमर्श किया जा सकता है। अपनी पति-भक्ति पर उसे झूठा विश्वास है और यही उसके पतन का मूल कारण है। एक-आध बार वह परिस्थितियों के चक्र से निकलने का यत्न भी करती है, परन्तु तब सुरेश उसका पीछा नहीं छोड़ता। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसका पति-प्रेम इतना सबल नहीं है कि वह उसे सुरेश के आकर्षण से मुक्त कर सके। वह स्वयं सोचती है कि 'उसका विवाहित जीवन पति के साथ एक तरह से विरोध में से ही गुज़रा है।' पहले केवल उसका मन

व्यभिचारी था, बाद में उसका शरीर भी वैसा ही हो गया। इसीलिए वृद्ध रामचरण तथा वीणापाणि के सरल तथा निष्कपट व्यवहार की तुलना में असत्य एवं लज्जा की छाया में पलने वाली अचला की जीवनचर्या और भी भयानक, अशान्त दिखाई देने लगती है।

सुरेश अचला को एक स्थान पर 'गणिका' कहता है। क्या सचमुच ही वह मानसिक रूप से गणिका नहीं है? उसकी व्यभिचार-बुद्धि ने ही उसे इतना दुर्बल, इतना दयनीय बना दिया है। वस्तुतः मनोविज्ञान की दुहाई देकर साहित्य एवं समाज के आदर्शों को खण्डित नहीं किया जा सकता क्योंकि मनुष्य मूलतः पशु है और इसीलिए उसकी सहज वृत्तियाँ (instincts) पाशविक अधिक हैं। प्रेम की अस्थिरता सम्भवतः इसी प्रकार की सहज वृत्ति है जो मनुष्य को अपनी आदिम प्रकृति में मिली है। मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के अनुसार जब व्यक्ति किसी एक पदार्थ पर 8-10 सेकेण्ड से अधिक अपना ध्यान एक बार में नहीं जमा सकता तो ऐसी परिस्थितियों में एकनिष्ठ प्रेम की सत्ता पर अविश्वास करना स्वाभाविक ही है। पर यहाँ हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इस प्रकार की मनोवृत्ति मानव-समाज के लिए कोई बहुत स्पृहणीय एवं गर्व करने की वस्तु नहीं है। अपनी आदिम प्रकृति में मनुष्य बड़ा कठोर और बर्बर है; वह मूलतः पशु ही है। किन्तु परिष्कार के द्वारा हम हैवान से इंसान बनते हैं। इस परिष्कार के अभाव में 'आहार, निद्रा, भय' आदि से संयुक्त मनुष्य और पशु में अन्तर ही क्या है? पशु किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के साथ अपना अपेक्षाकृत स्थायी रागात्मक सम्बन्ध नहीं जोड़ सकता। पर इस सहज-वृत्ति से ऊपर उठकर मनुष्य में भावना का भी समावेश है। अतः मनोविज्ञान के आधार पर प्रेम की अस्थिरता को मानव-जीवन का सत्य नहीं माना जा सकता। ऐसा जान पड़ता है कि मनोविज्ञान का सत्य एक है, और समाज का सत्य दूसरा।

अचला के व्यक्तित्व में एकनिष्ठ प्रेम का अभाव है। मन की अस्थिरता उसके चरित्र की प्रमुख समस्या है। इस समस्या के मूल में कई कारण हैं, जिनमें से दो प्रमुख हैं। एक तो उसकी प्रकृति, उसका मनोविज्ञान असाधारण रूप से अस्थिर प्रकृति का है। दूसरे वह अपनी इस दुर्बलता को सामाजिक नैतिकता के नियन्त्रण में भी नहीं रखना चाहती। जीवन-मरण में सिर्फ़ एक ही को अनन्य गति समझकर चिन्ता करने लायक उसका सीमाबद्ध मन नहीं है। वह मन एक पति के जीवन काल में ही दूसरे को पति कहने में अपराध के भार से चाहे कितना पीड़ित क्यों न हो, लज्जा और अपमान की ज्वाला से चाहे कितना ही क्यों न जल रहा हो; परन्तु धर्म और परलोक की गदा उसे धराशायी करने का भय नहीं दिखा सकी। ब्राह्म-समाज की स्वच्छन्द प्रवृत्तियाँ उसकी रागात्मक

अस्थिरता को और भी प्रश्रय देती हैं। इस सामाजिक नियन्त्रण के अभाव में तो शायद संसार के सारे स्त्री-पुरुषों का मनोविज्ञान व्यभिचारी हो जाता, और इसी के कारण अचला के व्यक्तित्व में अन्नदा जीजी का वह सतीत्व, वह एकनिष्ठ प्रेम नहीं है, जिसके कारण शरत् कभी नारी के कलंक पर विश्वास नहीं कर सके तथा नारी जाति को कभी छोटा करके नहीं देख सके। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रेम की इस अस्थिरता में व्यक्ति के मानसिक संस्थान का बहुत बड़ा हाथ है, और यह निश्चित है कि अचला का मानसिक संस्थान दृढ़ एवं सबल न होकर अपेक्षाकृत अस्थिर एवं निर्बल है। इसीलिए आदि से अन्त तक वह स्वयं अपनी भावनाओं को नहीं पहचान पाती। मानसिक विकारों का कोलाहल उसके व्यक्तित्व में इतना अधिक है कि वह अपनी आत्मा की आवाज़ नहीं सुन सकती। तभी उसका हर क़दम ग़लत रास्ते पर पड़ता हुआ दिखाई देता है। अचला के चरित्र का अध्ययन हमें आशुबाबू के प्रसिद्ध वाक्य का स्मरण दिला देता है, 'स्रोत के खिंचाव से कौन कब पास आ जाता है और कौन कब दूर चला जाता है, इसका कुछ भी हिसाब कोई नहीं जानता।' इस दिशा में 'शेष प्रश्न' की कमल और 'गृहदाह' की अचला काफ़ी मिलती-जुलती हैं। पर उनमें एक सुस्पष्ट अन्तर है। अपनी बौद्धिकता के कारण जहाँ कमल को इतना ध्यान रहता है कि किस समय वह किसे प्यार कर रही है, वहाँ अपनी भावात्मकता में अचला शायद अन्त तक स्वयं ही यह नहीं समझ पाती कि वह महिम को अधिक प्यार करती है या सुरेश को।

अचला की व्यभिचार-बुद्धि का एक कारण उसकी अत्यधिक भद्रता भी हो सकती है। वह एकाएक यह नहीं जान पाती कि किस प्रकार सुरेश को निराश कर वह महिम के पास चली जाय। वह सुरेश से कहती है, "तुमने मेरा कुछ भी क्यों न किया हो, पर मैं अपने लिए तुम्हें मरने नहीं दे सकती।" यहाँ तक कि बीमार सुरेश को घर तक लाने के लिए एक डोली मिलने पर वह अपना सर्वस्व तक देने को तैयार है। वस्तुतः अचला की आत्मा एकदम मर ही नहीं गयी है; पतनोन्मुख होते हुए भी वह ऊपर उठने की कोशिश करती है। और भलाई-बुराई के बीच यह कश-म-कश ही 'गृहदाह' की ट्रैजडी का मूल कारण है।

अचला की उक्त भद्रता सुरेश को किसी हद तक उस ग़लतफ़हमी में डालती है, उसे अपनी ओर आकर्षित करती है। इसीलिए सुरेश उसका पीछा नहीं छोड़ता। अचला को पाने के लिए सुरेश के मन का यह धैर्य भी अचला के चारित्रिक पतन का एक कारण माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त अपने पति को लेकर मृणाल के प्रति अचला की ईर्ष्या का उल्लेख भी इस प्रसंग में आवश्यक है।

अचला की मानसिक दुर्बलता का विश्लेषण करते समय हमें इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि उसके चरित्र की अस्थिरता को बढ़ाने में महिम की उदासीनता का भी हाथ है। उपन्यासकार के शब्दों में, 'महिम के प्रति अचला की सबसे बढ़कर खीज यह थी कि स्त्री होकर भी वह एक दिन के लिए भी पति की दुःख-दुश्चिन्ता में हिस्सा नहीं बँटा सकी थी ।' वस्तुतः अचला के चरित्र का पूर्वार्द्ध अर्थात् विवाह होने तक का समय तो महिम को ही अर्पित है। इसके बाद अपनी ससुराल पहुँचने से लेकर कथानक के अन्त तक उसके मन में निरन्तर संघर्ष व्याप्त रहता है। इस उत्तरार्द्ध में महिम की अपेक्षा उसका हृदय सुरेश की ओर ही अधिक झुका दिखाई देता है।

अचला के चरित्र के इतने विश्लेषण से स्पष्ट है कि उसकी चारित्रिक गहनता किसी भी व्याख्या से कुछ कम नहीं की जा सकती। सुरेश के अनुसार वह 'एक आश्चर्यजनक चीज़' है। उसकी 'बात और चितवन का व्यवधान' उसे सदैव 'दुर्बोध्य' बनाये रखता है। उसकी दुर्बोध्यता इतनी अधिक है कि अपने प्यार को वह शायद स्वयं भी नहीं समझ पाती। उसका मन इतना जटिल है कि उसके अनुसार, स्वयं अन्तर्यामी भी उसे नहीं समझ पाये। वह कहती है, "हे अन्तर्यामी, मेरे दुर्भाग्य से तुम भी समझने में ग़लती कर गये। इस हृदय के अन्दर हमेशा से क्या हो रहा है, सो क्या तुम्हारी दृष्टि में भी नहीं पड़ा ?" उक्त उद्धरण के पश्चात् इस विषय में कुछ भी कहना अब अनावश्यक ही है।

'गृहदाह' में अचला के उपरान्त दूसरा प्रमुख चरित्र मृणाल का है। जैसा हम अभी देखेंगे, उसके व्यक्तित्व की गति-विधि ठीक अचला की विपरीत दिशा में है। अचला के चरित्र के प्रमुख गुण हैं---व्यावहारिक संयम एवं मानसिक असंयम। मृणाल के स्वभाव की विशेषता है व्यावहारिक असंयम एवं मानसिक संयम। इसके अतिरिक्त अचला जहाँ ब्राह्मसमाजी है, वहाँ मृणाल कट्टर हिन्दू है। एक पति-सेवा को विशेष महत्त्व नहीं देती, उसे धार्मिक दृष्टि-कोण से नहीं देखती, तो दूसरी पति-सेवा को ही अपना जीवन-सर्वस्व मानती है। एक प्रकार से अचला और मृणाल के चरित्रों में प्राकृतिक विरोध है। जिस क्षण अचला को यह ज्ञात होता है कि मृणाल महिम को बहुत प्यार करती थी और अब भी करती है, उसी क्षण उसका मन महिम की ओर से फिर जाता है। इस तरह से उनका प्रेम भी एक स्थान पर केन्द्रित नहीं हो पाता। अचला और मृणाल की प्रकृति में इस विरोध के कारण ही उन दोनों की चारित्रिक संवेदनाएँ और भी तीव्र हो उठी हैं।

मृणाल के चरित्र की मूल संवेदना है उसकी अटल पति-भक्ति। यह पति-भक्ति किन परिस्थितियों से घिरी हुई है, यह जान लेना भी आवश्यक है। जहाँ मृणाल विवाह करना चाहती थी वहाँ तो उसका विवाह हुआ नहीं, और

इसके साथ-साथ अपने प्रथम यौवन में उसे मिला साठ साल का वृद्ध पति। इन विषमताओं के बीच भी मृणाल की पति-भक्ति अविचलित रही, यह देखकर सहृदय पाठक का मस्तक श्रद्धा से नत हो जाता है। अपने स्वामी का मज़ाक़ बनाती हुई भी वह उनका पूरा-पूरा ध्यान रखती है। नियति से उसे जो कुछ मिला है वह उसी में सन्तुष्ट है। अचला से वह कहती है, "यह सिर्फ़ इसी जन्म का नहीं, भाभी, जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध है। मैं जिनकी चिरकाल की दासी हूँ, उन्हीं के हाथ भगवान् ने मुझे सौंप दिया है। आदमी के चाहने न चाहने से क्या आता-जाता है?" इस विश्वास के कारण ही वह अपने पति पर किसी प्रकार का सन्देह नहीं करती, और अचला को भी इसी बात का उपदेश देती है। पति की मृत्यु के उपरान्त भी उसकी उनके प्रति श्रद्धा में कमी नहीं आती। बड़े शान्त भाव से वह बताती है, "वे बूढ़े आदमी थे, दुनिया में वे ग़रीब थे, रूप और गुण भी उनमें साधारण पाँच जनों से ज़्यादा नहीं था; पर वे ही मेरे लिए इहलोक थे और वे ही परलोक।"

मृणाल के व्यक्तित्व में विनोदप्रियता असाधारण रूप से है। महिम को पाने में असफलता की भावना वह इसी विनोद में व्यक्त करती है। इसके अतिरिक्त उसकी गार्हस्थिक जीवन की बेबसी भी इसी मार्ग से बाहर निकलती है। नवविवाहित अचला का मुँह देखकर वह महिम से कहती है, "ना, तुम्हीं जीत में रहे दादा! मुझसे ब्याह करके ठगा जाते।" वह किसी समय महिम की पत्नी होना चाहती थी, इस बात को वह बड़ी सरलता से व्यक्त कर देती है। उसकी हँसी की छटा से घर-भर में उजाला हो जाता है। यहाँ तक कि वह पति के सम्मुख भी हँसी-मज़ाक़ करने से नहीं चूकती। उनके सामने ही वह अचला से कहती है, "ये ही मेरे मालिक हैं, दीदी। अच्छा, तुम्हीं बताओ न बहन, इन बहत्तर-साली बूढ़े के साथ मैं अच्छी लगती हूँ? इस जनम का रूप-जोबन सब मिट्टी नहीं हो गया बहन?" इस प्रकार वह व्यंगविनोद के सहारे ही अपने विवश जीवन में सन्तोष और सुख का संचार किया करती है, परन्तु उसकी इस विनोदप्रियता में उसके प्रथम यौवन की निराशा छिपी हुई है।

मृणाल की प्रकृति एकदम गार्हस्थिक है। 'प्रतिकूलता मानो दुःख देकर इस मूर्ख स्त्री को जीवन-यात्रा के मार्ग में थकाकर बैठा नहीं सकती। गँवई-गाँव की इस मूर्ख स्त्री का ऐसा भाव है कि हृदय के आनन्द के सिवा बाहर की परिस्थितियों का मानो उसके लिए कोई अस्तित्व ही नहीं···यह बग़ैर पढ़ी-लिखी ग़रीब ग्राम्य लक्ष्मी भी सब तरह के सांसारिक दुःख-दारिद्र्य की गोद में दिन-रात रहते हुए भी सारी वेदना-यन्त्रणा के ऊपर आराम से उतरा रही है। न तो इसके शारीरिक थकान है और न मानसिक मलिनता।' रसोई के भण्डार को वह गृहिणी के राज्य की राजधानी मानती है। प्रारम्भ से अन्त तक हम उसे

'कर्म-रत मौन' महिला के रूप में देखते हैं।

मृणाल अपने आचार-विचार में बड़ी पक्की है। अपनी वृद्धा सास की भावनाओं का ध्यान रखते हुए वह अचला के हाथ का बनाया हुआ भोजन नहीं करती। पर उसमें धार्मिक कट्टरता नहीं है, इसीलिए अचला के ब्रह्मसमाजी पिता की सेवा करने में वह कुछ भी संकोच नहीं करती। विवाह को वह एक पवित्र धार्मिक संस्था मानती है, और उसका यह धर्म और यह आचार-विचार वितर्क से परे की चीज़ है।

व्यवहार-पटु होते हुए भी मृणाल अत्यन्त सरल है। अचला का 'एकान्त अमूलक द्वेष उसे काँटे की तरह चुभा करता था।' वस्तुतः मृणाल का हृदय बहुत उदार है। उसमें सब के लिए स्थान है। उसका स्नेह सार्वजनीन है। नितान्त अपरिचित व्यक्तियों से वह बहुत शीघ्र घनिष्ठ हो जाती हैं। सुरेश को भैया बनाते उसे देर नहीं लगती। जीवन-संग्राम में हारे हुए वृद्ध केदार बाबू को वह महीनों अपने यहाँ रखती है और उन्हें 'बापू' कह कर सम्बोधन करती है। उसे अपनी बुढ़िया सास का सदैव ध्यान रहता है। सबकी सेवा करना ही उसके जीवन का चरम ध्येय जान पड़ता है। अचला के मन में अपने प्रति ईर्ष्या का कुछ भी ख़याल न करके वह सदा उसकी शुभाकांक्षिणी रहती है। वह हृदय से चाहती है कि अचला और महिम का पारस्परिक मन-मुटाव मिट जाए। इसके लिए वह पत्र लिखकर उसे बार-बार समझाती है, और सही रास्ता दिखाने की कोशिश करती है।

मृणाल ने किसी समय महिम को पति रूप में चाहा था, किन्तु उसमें असफल होने पर उसके मन में किसी कुण्ठा अथवा विकृति को जन्म नहीं मिला। वह सदैव की भाँति सरल और विनोदप्रिय रहती है। महिम ने उसके जीवन को बहुत प्रभावित किया है। उसकी दी हुई शिक्षा का सादर उल्लेख करती हुई वह केदारबाबू से कहती है, "क्षमा का फल क्या सिर्फ़ अपराधी को ही मिलता है? जो क्षमा करता है उसे क्या कुछ भी नहीं मिलता, बाबूजी?" इस ईर्ष्या-द्वेषहीन जीवन का स्मरण कर कोई भी व्यक्ति अपने मन को पवित्र कर सकता है।

अपने उक्त सारे गुणों के फलस्वरूप, शरत् के प्रतिनिधि नारी पात्रों की प्रभविष्णुता मृणाल को भी उत्तराधिकार में मिली है। प्रथम भेंट के समय अचला तो इसे किसी प्रकार छोड़ना ही नहीं चाहती। उसके अनुसार, 'मृणाल जीजी' दूसरों को वश में करने वाला कुछ जादू जानती हैं।' वृद्ध केदारबाबू दक्ष एवं निपुण मृणाल को 'अद्‌भुत और अपूर्व' कहकर सम्बोधित करते हैं। उसकी जीवन-चर्या से वे इतने प्रभावित होते हैं कि स्वयं ब्रह्मसमाजी होने पर भी वे सन्ध्या-पूजा करने की सोचते हैं। उसी के व्यक्तित्व के प्रभाव से वे अचला, सुरेश, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, जो कोई जहाँ भी हो, सबको क्षमा कर देते हैं। पर इतना सब होते

हुए भी मृणाल कभी प्रशंसा नहीं सुनना चाहती।

'गृहदाह' के कथानक में राक्षसी अथवा वीणापाणि का स्थानीय महत्त्व है। वह आचार-शील एवं पति-गर्विता रमणी है। अचला से वह कहती है, "हम सब सेवा के काम में दासी हैं तो क्या सभी काम में दासी हैं? हुक्म देने के समय तो हम ही लोग मालकिन हैं।" अपने गुरु-जनों की सेवा और मर्यादा का उसे पूरा ध्यान रहता है। वह बड़ी चतुरता से अचला के मनोभावों को समझ लेती है। इस पथ-भ्रष्ट रमणी की वह हृदय से हिताकांक्षिणी है।

उपन्यास के अन्य नारी-पात्र पार्श्व-चरित्र मात्र हैं। स्नेहमय सुरेश की बुआ जी और हरिया की माँ का यत्र-तत्र उल्लेख भर है। वस्तुतः इतने बड़े कथानक में भी अकेले अचला की चारित्रिक संवेदना अंकित करने में उपन्यास-कार को कठिनाई का अनुभव हुआ होगा। इस रहस्यमयी रमणी के गहन व्यक्तित्व के कारण ही, मृणाल को छोड़कर, 'गृहदाह' में किसी अन्य नारी पात्र का चरित्र अधिक न उभर सका, और ऐसा होना नितान्त स्वाभाविक ही नहीं वरन् आवश्यक भी है, अन्यथा कई चरित्रों में उलझकर उपन्यास के मूल चरित्र की संवेदना कुछ फ़ीकी पड़ जाती।

ब्राह्मण की बेटी

(वामुनेर मेये]

'वामुनेर मेये' शरत् के रचना-काल के उत्तरार्द्ध में प्रणीत एक लघु उपन्यास है। अपने संक्षिप्त कलेवर में इसका कथानक अत्यन्त शक्तिशाली है। यह लेखक की उन रचनाओं के अन्तर्गत आता है, जिसमें उसने व्यक्तिगत जीवन के घात-प्रतिघातों, मानसिक संघर्षों तथा रागात्मक गहराइयों को कुछ दूर रखकर समाज के जघन्य कुत्सित और बीभत्स अंगों की अत्यन्त यथार्थवादी परीक्षा की है। समाज के सड़े-गले ढाँचे को लेखक ने इस प्रकार के कथानकों में बड़ी ईमानदारी के साथ उभारा है। 'पल्ली समाज' में शरत् बाबू ने गाँवों की कलह तथा ईर्ष्या-द्वेष का अंकन किया था; पर 'वामुनेर मेये' को हम समाज के व्यभिचारों का चित्रपट कह सकते हैं।

नारी-चरित्र के अध्ययन की दृष्टि से भी 'वामुनेर मेये' का कुछ कम महत्त्व नहीं है। स्त्री का जीवन एक क्षण की असावधानी से, किंचित् दुर्बलता से कितनी आसानी के साथ सदैव के लिए कलंकित हो जाता है, यही कदाचित् इस उपन्यास की मुख्य संवेदना है। कालीतारा और ज्ञानदा अपनी कमज़ोरी के कारण ही समाज की दृष्टि में तिरस्कृत और पतित हो जाती हैं। उन्हें सहानुभूति, दया अथवा करुणा नहीं मिलती, वरन् मिलता है कोप और निष्कासन। 'वामुनेर मेये' के एक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि नारी के चारित्रिक पतन में उसकी व्यभिचार-वृद्धि की अपेक्षा उस समाज के फ़ौलादी पंजे का अधिक हाथ है, जिसने उसे उसकी प्रकृति के विरुद्ध जकड़ रखा है।

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर से प्रकाशित 'ब्राह्मण की बेटी' के प्राक्कथन में श्री नाथूराम प्रेमी लिखते हैं, "युग-प्रवर्त्तक महात्मा गाँधी ने गुजराती-साहित्य सम्मेलन के गत अधिवेशन में सभापति की हैसियत से कहा था—'साहित्य के लिए जब आप क़लम उठाइए तो यही सोचकर उठाइए कि स्त्रियाँ माताएँ हैं। इस विचार से जब आप लिखेंगे तो आपकी क़लम से स्त्री के बारे में जो कुछ निकलेगा, वह उतना ही सुन्दर और फलप्रद होगा, जितने कि सुहावने आकाश से बरसने वाले बादल, जो पृथ्वीरूपी स्त्री को उपजाऊ बनाते हैं।'

"मालूम होता है कि स्वनामधन्य शरत् बाबू ने महात्मा जी के इस अनुरोध को अक्षरशः माना है और उन्होंने अपनी रचनाओं में स्त्री-पात्रों को इसी प्रकार की भावनाओं से चित्रित किया है। उनके हृदय में स्त्रियों के प्रति बहुत ही अधिक आदर-भाव है। उनकी लिखी हुई सारी रचनाओं को आप पढ़ जाइए, उनमें न तो कहीं आपको स्त्रियों के शरीर-सौन्दर्य का वर्णन मिलेगा और न अन्य किसी तरह की अश्लीलता। एक बार उन्होंने स्वयं 'बंगवाणी' में लिखा था, 'आलिंगन तो दूर की बात है, चुम्बन भी मैं अपनी रचनाओं में कहीं न लिख सका।' वास्तव में शरच्चन्द्र कुछ उस ढंग के साहित्यकारों में हैं, जिन्हें अंग्रेज़ी में 'प्यूरिटन' कहते हैं। उनके अधिकांश नायक-नायिका सर्वदा ही यौन-मिलन से दूर रहे हैं, उनका प्रेम बहुत ही संयत और बहुत ही त्यागमय चित्रित हुआ है। वे सचमुच ही स्त्रियों में मातृभाव का ही विशेष रूप से दर्शन करते हैं, और बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा उनके भीतरी सौन्दर्य को ही महत्त्व देते हैं। इसीलिए शरत् बाबू की क़लम से जो कुछ निकला है, वह बहुत ही सुन्दर और फलप्रद है।

"शरत् बाबू मातृ-जाति के प्रति समाज के अत्याचारों को सहन नहीं कर सकते; परन्तु, फिर भी, वे सुधारक नहीं हैं; वे सुधारक से बहुत ऊँचे हैं। वे कलाकार हैं। सुधारक केवल मनुष्य की बुद्धि को अपील करता है; परन्तु कलाकार उसके अन्तस् के निगूढ़ प्रदेशों तक को हिला देता है। सुधारक का लक्ष्य मस्तक है, जब कि कलाकार का हृदय।"

ऊपर के लम्बे उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि बहुत कुछ 'प्यूरिटन' होने पर भी शरत् में रोमांस की कमी नहीं है, और एक सुधारक के कर्त्तव्य का निर्वाह करते हुए भी वे अपनी प्रकृत कला से कहीं दूर नहीं हटे हैं। 'बामुनेर मेये' उनकी इस कला की सामाजिकता का अच्छा उदाहरण है।

'बामुनेर मेये' की कथा अत्यन्त संक्षिप्त और सुझली हुई है। निरीह और भोले-भाले डॉ० प्रियनाथ की पुत्री सन्ध्या अपने बाल्य-सहचर अरुण के स्नेह-पाश में बँधी है। पर उसे अपने वंश की मर्यादा का बहुत अधिक ध्यान है। इसीलिए चाहते हुए भी वह नीची जाति के ब्राह्मण अरुण के साथ विवाह नहीं कर सकती। पुत्री की वय में वृद्धि के साथ प्रियनाथ की पत्नी जगद्धात्री की चिन्ता बढ़ती जाती है। गाँव के जमींदार गोलोक चटर्जी सन्ध्या के नाना की उम्र के होते हुए भी उसके साथ विवाह का प्रस्ताव रखते हैं, जिसे वह अस्वीकृत कर देती है। अन्ततः ब्राह्मण की बेटी सन्ध्या कुलीनता की वेदी पर बलि देने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। उसका विवाह एक पैंतालीस वर्ष के वर के साथ होना निश्चित होता है। पर यहाँ भी उसका दुर्भाग्य (अथवा सौभाग्य?) उसका पीछा नहीं छोड़ता। विवाह-मण्डप में उपस्थित होकर गोलोक चटर्जी एकाएक यह सिद्ध कर देते हैं कि सन्ध्या के पिता डॉक्टर प्रियनाथ ब्राह्मण-पुत्र न होकर एक नाई

की सन्तान हैं। इस आकस्मिक दुर्घटना से बचने के लिए सन्ध्या अरुण के घर जाकर प्रार्थना करती है कि वह वर के सूने आसन को ग्रहण करे। अरुण सहसा कुछ निश्चित नहीं कर पाता, और वह निराश घर लौट आती है। बाद में जब अरुण स्वयं सन्ध्या से विवाह प्रस्ताव करता है तो वह अपने सरल-हृदय पिता के साथ वृन्दावन जाने के लिए प्रस्तुत है। बड़े संयम और शान्ति के साथ वह कहती है, "उस दिन, मैं बड़ी उतावली हो गयी थी अरुण भइया, पर आज मेरा भी मन स्थिर हो गया है। स्त्रियों के लिए ब्याह करने के सिवा दुनिया में और कोई काम है या नहीं, यही जानने के लिए मैं बाबूजी के साथ जा रही हूँ।" ब्राह्मण की बेटी के व्यक्तित्व में इस निष्काम वृत्ति के आविर्भाव के साथ-साथ उपन्यास का कथानक समाप्त हो जाता है।

'वामुनेर मेये' में कथा का प्रवाह और चरित्र-चित्रण एक-दूसरे के साथ संगुम्फित होकर बड़ी कुशलता के साथ आगे बढ़ते हैं। दोनों में से कोई भी प्रधान अथवा गौण नहीं है। उपन्यास यदि एक ओर समाज के व्यभिचारों का लेखा-जोखा है तो दूसरी ओर उसमें गोलोक चटर्जी, डॉक्टर प्रियनाथ, मृत्युंजय घटक, रासी ब्राह्मनी, सन्ध्या और कालीतारा के चरित्र भी बड़ी सजीवता के साथ अंकित किये गये हैं।

उपन्यास के नारी पात्रों में सन्ध्या, रासमणि, जगद्धात्री, कालीतारा और ज्ञानदा प्रमुख हैं। इनके चित्रों का निर्माण बहुत ही सूक्ष्म रेखाओं में बहुत ही सावधानी से हुआ है। उनकी व्यंजनात्मकता पाठक के निकट अविस्मरणीय है। सन्ध्या उपन्यास की नायिका है। उसके व्यक्तित्व की विशिष्टता इस बात में है कि वह एक साधारण युवती के समान वासना के आवेग से प्रशासित नहीं होती, वरन् उसमें स्थिरता और संयम का ही आधिक्य है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि वह वंश के मिथ्या गौरव में जकड़ी हुई है। प्रेम के सामान्य मानवीय धरातल पर वह नहीं आ पाती। इसके अतिरिक्त वह अपनी माँ की इतनी आज्ञाकारिणी है कि उनकी इच्छा के विरुद्ध वह अपने हृदय के रागात्मक आन्दोलन को सशक्त होकर उभरने नहीं देती। फिर पिता के प्रति भी उसका कुछ उत्तरदायित्व है। वह भली-भाँति जानती है कि उसके निरीह बाबूजी की देखभाल उसके बिना कोई नहीं कर सकता। इसलिए भी वह अरुण के प्रति अपने प्रणय को परिणय में परिवर्तित नहीं कर पाती। पर इन सबके ऊपर, उसके हृदय में कुछ ऐसी निष्कामता, ऐसी शान्ति है, जिसके व्यक्तित्व में मांस का विद्रोह प्रबल नहीं हो सका है।

सन्ध्या की पितृभक्ति सचमुच ही असाधारण है। यौवन के आवेगमय क्षणों में भी वह अपने संन्यासी-सदृश पिता का ध्यान निरन्तर रखती है। 'सन्ध्या का पिता प्रियनाथ डॉक्टर एक अद्भुत पात्र है—बहुत ही सरल, भोला-भाला और

स्वप्न-संचालित।' जगद्धात्री अपने पति से इसी कारण बहुत रुष्ट रहती है कि वह कभी घर में नहीं बैठते और घर का धन परोपकार में व्यय किये डालते हैं। ऐसी अवस्था में सन्ध्या का अपने पिता के प्रति सशक्त प्रेम इस निरीह प्राणी के लिए रक्षा के कवच का काम करता है। अपने बाबूजी के विषय में कोई अपमानजनक बात वह किसी के मुँह से नहीं सुन सकती। इसके लिए वह रासी ब्राह्मनी और गोलोक चटर्जी को भी तीखी बात कहने में नहीं डरती। उपन्यासकार के शब्दों में, "अपने इस निरीह पिता को दुनिया के सब तरह के आघातों, उपद्रवों और उपहास-परिहासों से बचाने के लिए मानो वह अपने दस हाथों को बढ़ाकर ओट में कर लेना चाहती है।" पिता के सुख सन्तोष के लिए वह झूठ बोलने में भी नहीं हिचकिचाती। जगद्धात्री के अनुसार, "पर उनके लिए तो तू अपने प्राण दिये देती है···तू अच्छी तरह जानती है कि उनकी दवा से कुछ भी नहीं होता; फिर भी, तू जान देने बैठी है; और किसी की दवा न खायेगी—कहीं उन्हें शर्मिन्दा न होना पड़े।" इस प्रकार सन्ध्या वस्तुतः 'बाप सुहागिन' है। वृन्दावन जाते समय वह उनसे कहती है, "पर मैं तो तुम्हें अकेला नहीं रहने दूँगी बाबूजी, मैं तुम्हारे साथ चलूँगी।" और अन्त में वह सब कुछ छोड़-छाड़ कर, प्रेम की सहज भावना से भी ऊपर उठकर, निरीह पिता के साथ वृन्दावन की यात्रा के लिए चल देती है। उसका सारा माया-मोह उन्हीं पर केन्द्रित हो जाता है।

सन्ध्या का व्यक्तित्व अत्यन्त निर्मल होने के कारण उसमें आत्माभिमान और स्पष्टवादिता जैसे गुणों का बड़ा स्वाभाविक मिश्रण हुआ है। रासमणि जैसी कलह-पटु स्त्री को वह अपनी माँ की 'मानी हुई मौसी' कहकर, उसका तिरस्कार करती है। यहाँ तक कि गाँव के जमींदार गोलोक चटर्जी को भी मुँहतोड़ उत्तर देने में वह नहीं डरती। कठोर शब्दों में उनसे वह कहती है, "पसन्द क्यों न आओगे बाबा? बाँस और रस्सी के रथ पर सवार होकर इधर ही से तो निकलोगे, मैं माला गूँथ के तैयार खड़ी रहूँगी तब!" (इस एक वाक्य के तीखेपन का बदला लेने के लिए ही तो गोलोक चटर्जी ने बाद में विवाह-मण्डप से सन्ध्या के पति को बिना ब्याह किये ही उठवा लिया था।) और अपने आत्माभिमान के कारण ही वह अपने मुँह-माँगे वर अरुण द्वारा रखा हुआ विवाह प्रस्ताव अस्वीकृत कर देती है।

सन्ध्या के चरित्र का विश्लेषण करते समय एक बात का ध्यान हमें विशेष रूप से रखना पड़ेगा, और वह यह कि अपने व्यक्तित्व में तीव्र होते हुए भी यह नवयुवती किरणमयी, अभया अथवा कमल के समान प्राचीन परम्पराओं का तिरस्कार नहीं करती। माँ-द्वारा बताई हुई धार्मिक रूढ़ियों का वह चुपचाप पालन करती है। इस सम्बन्ध में वह उनकी पूर्णरूप से आज्ञाकारिणी

है । समाज में प्रचलित मान्यताओं के अनुरूप ही उसके मन में मिथ्या वंश-गौरव बसा हुआ है। अपने प्रणय-पात्र अरुण को प्राप्त करने के लिए भी वह इन प्राचीन परिपाटियों के बन्धन से मुक्त नहीं होना चाहती। प्रथम प्रेम की निराशा उसे स्वीकार है, पर वंश-मर्यादा का वह उल्लंघन नहीं कर सकती। वह अरुण से कहती है, "आभास से, इशारे से, तुम्हें कितनी बार जताया कि ऐसा हरगिज़ नहीं हो सकता। फिर भी, तुम्हारी भिक्षा की जबर्दस्ती किसी भी तरह ख़तम नहीं होना चाहती थी। बाबूजी राज़ी हो सकते हैं, माँ भी भूल सकती हैं पर मैं तो नहीं भूल सकती कि मैं कितने बड़े ब्राह्मण की लड़की हूँ।" वंश के झूठे गौरव की रक्षा के लिए अपने प्रेम का उत्सर्ग करने वाली शरत् की यह नायिका अपने वर्ग में कदाचित् अकेली है।

व्यक्तित्व की दृढ़ता में सन्ध्या किरणमयी अथवा अभया के समान ही है। परदेश जाने के लिए उद्यत अरुण को जब जगद्धात्री अपने पास बुलाकर समझाना-बुझाना चाहती है तो बड़े कठोर शब्दों में सन्ध्या कहती है, "नहीं, तुम इस मकान में उन्हें हरगिज़ नहीं बुला सकतीं······हमारे साथ उनका क्या सम्बन्ध है जो तुम कहने जाओगी ? इस मकान में अगर तुमने उन्हें बुलाया माँ, तो मैं तुम्हारी ही क़सम खाकर कहती हूँ, उस तालाब में जाकर डूब मरूँगी।" यह उसके भीतरी प्रणय का अभिमान के रूप में प्रकट हुआ विस्फोट है। इसका प्रमुख कारण है उसकी स्थिर बुद्धि और आत्मसंयम। इसके अतिरिक्त इन पंक्तियों से यह भी स्पष्ट है कि कुल-मर्यादा की वेदी पर अपने आपको उत्सर्ग करके भी वह अपने प्रेमी की सम्मान-रक्षा के लिए कितनी व्यग्र है। उसे उसकी मर्यादा-रक्षा की इतनी अधिक चिन्ता हुई कि उसने स्वयं अरुण के पास जाकर कह दिया, 'अब तुम मेरे घर न आना'। इन सबके साथ-साथ अपने माता-पिता की हित-चिन्ता भी सन्ध्या के उक्त वाक्य से भली-भाँति प्रकट होती है। अस्तु अनेक दुर्बलताओं के बावजूद सन्ध्या के व्यक्तित्व को दृढ़ और अटल कहकर अभिहित किया जा सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। पर इस दृढ़ता और अटलता के क्षेत्र में दया का भी पूर-पूरा साम्राज्य है। दूले की विधवा स्त्री और लड़की को पहले वह अपने घर में शरण देती है। पर बाद में लोगों के आपत्ति करने पर वह उन्हें अरुण के यहाँ रख देती है। वैसे भी वह निर्धन व्यक्तियों को अपने पिता की भाँति ही दवा बाँटती है और उनकी आर्थिक सहायता भी करती है। पर जैसा कहा जा चुका है, समाज के विधि-विधानों के सम्मुख उसकी दया को भी झुकना पड़ता है। किसी को असन्तुष्ट करके किसी से लड़-झगड़ के वह अपनी दया को कार्य रूप में नहीं परिणत करना चाहती।

'उपन्यास में सन्ध्या और अरुण का प्रेम बहुत ही सूक्ष्म रेखाओं के सहारे बहुत ही कुशलता के साथ चित्रित हुआ है।" वह बहुत ही गूढ़ और मर्मस्पर्शी

है। सन्ध्या के मुँह से वह उसी समय प्रकट होता है, जब उसकी माता अरुण को बुला देने के लिए अपने पति से आग्रह करती है। इस स्थल पर उसके प्रेम में आत्म-नियन्त्रण दर्शनीय है। आगे भी जब अरुण स्नेह-विकल होकर पूछता है, "प्रायश्चित्त करने से क्या इसका कोई उपाय हो सकता है?" तब वह कहती है, "एक दिन जिस आत्माभिमान के कारण तुम स्वयं प्रायश्चित्त करने के लिए राज़ी नहीं हुए थे, आज उसे ही विसर्जन कर दो, यह मैं कभी न कहूँगी। तुम कुछ भी करो, पर अब यहाँ मत रहो।" इस प्रेम में कितना संयम है, कितना आत्मोत्सर्ग है! और अन्त में तो उसका यह संयम और आत्म-दमन पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, जब अरुण बहुत कुछ सोच-विचार के साथ उसके साथ विवाह कर लेने के प्रस्ताव पर राज़ी हो जाता है। कुछ समय पहले यद्यपि सन्ध्या ने स्वयं ही यह प्रस्ताव किया था, फिर भी वह इस मुँह-माँगी मुराद से मुँह फेरकर अपने पिता के साथ वृन्दावन चली जाती है।

सन्ध्या के हृदय में आरम्भ से ही रागात्मक संघर्ष दिखाई देता है। एक ओर है जाति, धर्म और वंश-मर्यादा का भय, तथा दूसरी ओर है उसका अरुण के प्रति नैसर्गिक प्रेम! लड़ने-झगड़ने की प्रवृत्ति न होने के कारण प्रारम्भ में सन्ध्या के प्रेम के ऊपर उसकी सामाजिक आस्थाओं की विजय होती दिखाई देती है। अरुण से बात करने के लिए माँ के क्रुद्ध होने पर वह अरुण से कहती है, "अब तुम क्यों इस घर में आते हो अरुण भइया? क्या तुम हम लोगों का सर्वनाश किये बिना न छोड़ोगे"? यहाँ उसका प्रेम जाति और धर्म की मर्यादा के सम्मुख दब जाता है; उसकी प्रवृत्तियाँ स्वतः ही इनके विरुद्ध नहीं उठतीं। पर बाद में जब उसे ज्ञात होता है कि वह ब्राह्मण की बेटी नहीं है तो उसका दमित प्रेम पूरे वेग के साथ उभर उठता है। अरुण के पास जाकर वह कहती है, "अरुण भइया, मैं ब्याह के पाटे पर से भाग आयी हूँ, तुम्हें ले चलने के लिए। आज मुझे न लज्जा रही है, न भय—मान-अपमान का भी ध्यान नहीं रहा; तुम्हारे सिवा आज दुनिया में मेरा कोई नहीं है, तुम चलो······सिर्फ़ तुम मुझे प्यार करते हो—सिर्फ़ तुम्हीं मेरी हमेशा की इज़्ज़त बचा सकते हो; बचाओ!" यहाँ वंश-जाति की मर्यादा के विरुद्ध सन्ध्या का प्रेम विजित होता दिखाई देता है। किन्तु यह नियति का व्यंग्य है कि प्रेम की इस प्रबल धार को उचित समय पर प्रश्रय न मिल सका। अरुण एकाएक सन्ध्या के उक्त प्रस्ताव को स्वीकृत नहीं कर पाता और इस प्रकार उसका प्रथम यौवन का प्रेम बिना पूर्णरूप से विकसित हुए ही समाप्त हो जाता है। अब उसके मन में रागात्मक संघर्ष शेष नहीं रहता, वरन् उसके स्थान पर एक अपूर्व शान्तिमय निष्काम वृत्ति का उदय होता है। उसका वृन्दावन जाना मानो प्रतीक रूप से विभिन्न कोलाहलों से हटकर चिर शान्ति की खोज में जाना सूचित करता है। वासनाओं के उन्नयन के

साथ ही साथ उसका मन भी निर्मल हो गया है। मान्यता देने पर भी समाज के जिन विधि-विधानों ने उसे नीचे दिखाया, वह उनसे एकदम ऊपर उठ जाती है। प्रियनाथ से वह कहती है, "चलो बाबूजी, हम लोग यहाँ से ज़रा जल्दी निकल चलें।"

गठन-कौशल की दृष्टि से 'बामुनेर मेये' में बुढ़िया रासमणि का चरित्र सबसे अधिक सफल कहा जा सकता है। उसका व्यक्तित्व जितना सजीव होकर उभरा है, उतना किसी और का नहीं। इस कलहप्रिय वृद्धा का चरित्र नारी-समाज के उस वर्ग के अन्तर्गत आता है, जिस वर्ग की स्त्रियों के वचन और कर्म में अन्तर है, जो बाह्य आडम्बरों और थोथे विधि-विधानों का पालन ही धर्माचरण समझती हैं तथा जिनका मस्तिष्क विकृतियों से शासित होने पर भी दूसरों की बुराई देखने में कभी नहीं चूकता। इस 'रासी ब्राह्मनी' का मन स्वार्थपरता, षड्यन्त्रपरायणता और प्रीतिहीन तथा अनुभूतिहीन धर्मनिष्ठा का स्थायी घर है। कहाँ तो वह झूठमूठ ही एक अछूत लड़की से छू जाने पर नातिनी को नहलाती है और 'धर्म धर्म' की पुकार मचा देती है और कहाँ ज्ञानदा को गर्भपात करने की प्रेरणा देने में और गोलोक जैसे दुष्ट व्यक्ति को बदनामी से बचाने के लिए निरीह प्रियनाथ को भी ज्ञानदा के साथ अनुचित सम्बन्ध रखने वाला कहने में नहीं हिचकिचाती। इस तरह जो धर्म केवल बाहरी आचार-विचार को ही सब कुछ समझना सिखाता है वही उसके चरित्र का प्रमुख अंग है।

अपने व्यक्तित्व के अनुकूल ही रासमणि की वाणी अत्यन्त कटु है। 'हरामज़ादी' जैसी गाली तो उसके नित्य सम्भाषण का अंग है। कटु-वाणी के साथ-साथ कलह-कौशल में भी वह अत्यन्त निपुण है। अपने स्वर को अवसरानुकूल अनिर्वचनीय कौशल्य के साथ ऊँचे सप्तक से एकदम खाद के निखाद पर उतार लेने में वह अपनी सानी नहीं रखती। प्रकृति की वह इतनी क्रोधी है—तामसी है कि जगद्धात्री द्वारा अरुण के लिए यह कहे जाने पर, "बेचारे के माँ-बाप कोई नहीं हैं, देखने से दया आ जाती है", वह उच्च स्वर में कहती है, "ऐसी दया के मुँह पर तू आग न लगा दे!" अरुण से तो वह इतनी अधिक क्रुद्ध है कि झाड़ू मारकर उस छोकरे का मुँह सीधा करने के लिए वह सदैव प्रस्तुत है।

किसी की भी हो और किसी भी कारण से हो, दूसरे की दुर्गति के इतिहास से रासमणि का क्रुद्ध हृदय भी प्रफुल्लित हो जाता है। परछिद्रान्वेषी होना उसके चरित्र का प्रमुख गुण है। गाँव-भर के सारे कुल-कलंकों का लेखा-जोखा सदैव उसकी जिह्वा पर रहता है, जिन्हें उद्धृत करने में वह कभी पीछे नहीं हटती। पर इतना होने पर भी स्वयं पाप को प्रश्रय देने में वह कुछ भी संकोच का अनुभव नहीं करती। ज्ञानदा को ग़लत रास्ते पर चलाने में वह जी भर के प्रयत्न करती है;

प्रियनाथ के चरित्र पर मिथ्या आरोप लगाती है, और यह सब वह करती है केवल गोलोक ऐसे नारकीय व्यक्ति के प्रति सहानुभूति रखने के कारण।

रासी ब्राह्मनी की स्वार्थपरता का उल्लेख होना भी यहाँ आवश्यक है। एक लौकी मिलने की बात सुनकर वह सड़क पर घण्टों खड़ी रह सकती है। गोलोक-द्वारा सन्ध्या से विवाह किये जाने के प्रस्ताव को जगद्धात्री को सुनाकर वह एक सोने की गोट बनवाना चाहती है। इस विवाह की बात चलाने में भी उसका बड़ा हाथ है। सच तो यह है कि अपनी या अपने किसी गोलोक ऐसे हितैषी की स्वार्थसिद्धि के लिए वह कैसे ही गर्हित कार्य करने में नहीं हिचकिचा सकती।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वाणी की कटु, बाहरी छूत-छात में विश्वास रखने वाली पर मन की अत्यन्त मलिन, स्त्री-शिक्षा की विरोधी, सदैव असत् को प्रश्रय देने वाली रासी ब्राह्मनी उन कर्कश व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करती है, जो समाज में सदैव प्रगति और प्रकाश का विरोध करके उसे पतन क गड्ढे में ही रखना चाहते हैं जहाँ सामाजिक बुराइयों के अनेक कीटाणु पलते हैं और प्रश्रय पाते हैं। रासमणि का चरित्र सहसा ही हमें 'रामेर सुमति' की बुढ़िया दिगम्बरी का स्मरण दिला देता है; पर यह निश्चित है कि एक स्वस्थ समाज के निर्माण में रासमणि जितना घातक हो सकती है, उतना दिगम्बरी नहीं। दिगम्बरी का प्रभाव क्षेत्र बहुत सीमित है, पर रासमणि के कार्य-कलाप पूरे समाज के वातावरण को विषाक्त कर सकते हैं।

सन्ध्या की माँ जगद्धात्री का चरित्र बहुत साधारण-सा है। पति की अत्यधिक परोपकार-वृत्ति से परेशान यह गृहिणी जाति-मर्यादा तथा कुल के बन्धनों में बुरी तरह जकड़ी हुई है। एक ओर तो वह इतनी गिरी हुई भी नहीं कि अपनी युवती कन्या का विवाह वृद्ध गोलोक से कर दे, दूसरी ओर उसमें इतना साहस भी नहीं कि यह रासी ब्राह्मनी जैसे अवांछनीय व्यक्तियों का तिरस्कार कर सके। उसमें दया है, मोह-माया भी है, पर समाज के भय से वह उसे व्यक्त नहीं कर पाती। उसके मन में छल-कपट नहीं है। अपनी सारी बातें वह दूसरों को बता सकती है। परन्तु कहीं-कहीं किसी अप्रिय विषय को दबाकर वह एक साधारण कुशल गृहस्थिन होने का भी परिचय देती है।

अपने पति प्रियनाथ के अत्यधिक सरल व्यवहार के कारण वह उनसे बहुत असन्तुष्ट है। अपनी अवशता के लिए वह बार-बार खीज उठती है। एक बार नहीं, अनेक बार यह अपने पति के लिए इस प्रकार कहती है, "सन्ध्या, या तो वे कहीं चलें जाएँ, या फिर मैं ही कहीं चली जाऊँ।" वस्तुतः उसकी यह असहिष्णुता स्वभावज न होकर सकारण है। वैसे वह सन्ध्या के प्रति बहुत स्नेहशील है, पर अपने पिता का पक्ष लेते देखकर वह उससे भी क्रुद्ध हो जाती है।

जगद्धात्री के मन की निर्मलता समाज के अनेक बन्धनों और दबावों के

कारण उसके व्यक्तित्व में उभर नहीं पाती। वह अरुण के प्रति मन में बहुत ममता रखती है, पर छूतछात में विश्वास रखने के फलस्वरूप वह उसे अपने घर में अधिक नहीं आने देती। उसके गाँव छोड़कर जाने के समाचार को सुनकर वह विकल हो जाती है। अपने पति से वह कहती है, "तुम एक बार उसे यहाँ बुला ला सकते हो ?" कहना, तुम्हारी चाची ने अभी तुरत बुलाया है, बहुत ज़रूरी काम है।" ऐसे स्थलों पर हमें उसका सामान्य मानवीय हृदय अपने निर्मल रूप में दिखाई देता है।

वंश-मर्यादा का जगद्धात्री को बहुत अधिक ध्यान है। अपनी सास द्वारा समाज की विरुद्ध आलोचना सुनकर वह कहती है, "तब की बात तो मैं जानती नहीं माँ, पर अब न कोई इतने ब्याह ही करता है और न वैसे अत्याचार ही होते हैं। और, अगर मान भी लिया जाय कि कुछ लोग उस समय अन्याय करते थे, तो इससे क्या कोई वंश की इज्ज़त छोड़ देगा माँ ? मेरे जीते जी तो ऐसा नहीं होने का।" इस 'वंश की इज्ज़त' के पीछे ही, घर छोड़कर वृन्दावन जाते हुए अपने पति और पुत्री को वह नहीं रोक सकी। वस्तुतः बाह्य आचार-विचार में आस्था रखने वाली एक स्त्री के लिए यह जानना वज्रपात के ही सदृश है कि उसका ब्राह्मण समझा जाने वाला पति एक नाई की सन्तान है। ऐसे अवसर पर जगद्धात्री का नितान्त मूक हो जाना कुछ अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

सन्ध्या की दादी कालीतारा हमारे समक्ष प्राचीन प्रथाओं से पीड़ित, समाज की अँधेरी परम्पराओं और रूढ़ियों के एक शिकार के रूप में आती है। इस अवस्था में उसे एक संन्यासिनी के रूप में चित्रित करके उपन्यासकार ने मानव-मनोविज्ञान का बड़ा सफल निर्वाह किया है। समाज के मिथ्याचारों के विरुद्ध कालीताराका जो शान्त-विद्रोह है, वह एकदम स्वाभाविक है। किसी नारी को यदि जीवन भर अपने पति के दर्शन न हों, और कोई एक अपरिचित नीच जाति का व्यक्ति उसे अपनी स्त्री बताकर धोखे से उसका सर्वस्व नष्ट कर दे तो इससे अधिक उसके लिए भाग्य की विडम्बना और क्या हो सकती है। निर्दोष होकर कालीतारा को जो मन-ही-मन घुट कर वेदना सहनी पड़ी है, वह अपरिसीम है। इसी के फलस्वरूप उसका दृष्टिकोण अत्यन्त सहानुभूतिमय है। वह सन्ध्या और अरुण के विवाह के पक्ष में है, क्योंकि उसके अनुसार अरुण की जाति भगवान् के वर से अमर हो चुकी है। वह मिथ्या वंशाभिमान की समर्थक नहीं है। जगद्धात्री से वह कहती है, "यह जो कुल की इज्ज़त है, यह कितना बड़ा पाप है, कितनी बड़ी धोखे की टट्टी है, यह अगर तुम्हें मालूम हो जाता तो अपनी लड़की को तुम इस तरह बलि न चढ़ा सकतीं। जाति और कुल यदि सत्य है, तो क्या दो आदमियों के सारे जीवन का सुख-दुःख ही झूठ है बेटी ?" उक्त उद्धरण

से कालीतारा के जीवन की सारी अनुभूति और विचार-प्रियता पर प्रकाश पड़ता है। उसका प्रत्येक कथन युक्ति-युक्त तथा मननपूर्ण है। सन्ध्या की माँ को समझाती हुई वह आगे कहती है, "झूठ को इज्ज़त देकर जितना ऊँचा बनाये रखोगी, उतनी ही ग्लानि, उतना ही कीचड़, उतना ही अनाचार इकट्ठा होता रहेगा। और हो भी यही रहा है।" उसका यह निष्कर्ष जितना ही युक्ति-संगत है उतना ही मानवीय (humane) भी ! कालीतारा को ही कदाचित् अपना वक्ता बनाते हुए उपन्यासकार अन्ततः कहता है, "मनुष्य-मनुष्य में यह जो भेद-भाव की चहार-दीवारी है, यह मनुष्य ने ही अपने हाथ से बनायी है, यह भगवान् का नियम हरगिज़ नहीं है। उनके प्रकट मिलन के सिंहद्वार पर मनुष्य जितने ही काँटों पर काँटे इकट्ठा करता जाता है, गुप्त गह्वर में उसके अत्याचारों के घेरे में उतने ही अधिक छिद्र होते रहते हैं। तब उनमें से होकर समाज में पाप और गन्दगी ही छिपे-छिपे घुसती रहती है।"

इस प्रकार कालीतारा की विचार-शैली बहुत ही सुझली हुई और संवेदनशील है। उसका स्पष्ट मत है, "कोई बात बहुत दिनों से चली आ रही है, सिर्फ़ इसी से वह अच्छी नहीं हो जाती।" कालीतारा का यह कथन अनायास ही 'शेष प्रश्न' की कमला का स्मरण दिला देता है, जो कहती है, "वस्तु अतीत होती है काल के धर्म से, पर उसे अच्छा होना पड़ता है अपने गुणों के धर्म से।" यहाँ समाज की प्रचलित एवं प्रतिष्ठित मान्यताओं के विरुद्ध कलाकार का विद्रोह अत्यन्त सुदृढ़ होते हुए भी उचित रूप से संयमित है। वस्तुतः कालीतारा प्राचीना होने पर भी प्रगतिशील है, और इसीलिए उसका चरित्र 'वामुनेर मेये' के घोर अन्धकारमय वातावरण में निर्मल दीप-ज्योति के समान है, जो हमें दृष्टि-दान करती है।

उपन्यास में ज्ञानदा का चरित्र एकदम औसत दर्जे का है। वह एक साधारण भारतीय महिला के समान सरल, लज्जाशील एवं स्नेहमयी है। पर चारित्रिक दृढ़ता का अभाव उसके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी कमी है। वह धर्मभीरु है, पाप से डरती है, किन्तु दृढ़ता के साथ उनका सामना नहीं कर पाती। गोलोक की वासना का शिकार वह बड़ी आसानी से बन जाती है। यह ठीक है कि उसके एक ओर प्राकृतिक कमज़ोरियाँ हैं और दूसरी ओर वैधव्य की प्रभावशालिनी परिस्थितियाँ, पर इनसे ऊपर उठने पर ही उसका चरित्र निखर सकता था। और फिर गोलोक ऐसे दुष्टात्मा व्यक्ति के सम्मुख बिक जाने के कारण उसका कलंक और भी गहरा हो जाता है। पर इतने पर भी, वह पाठक की सहानुभूति की पात्री रहती है, घृणा की नहीं !

श्री नाथूराम प्रेमी के अनुसार, "इस उपन्यास में जाति और कुल के अभिमान का खोखलापन ऐसी खूबी से प्रकट हुआ है कि देखते ही बनता है और तब

हर्षचरित-टीका का यह श्लोक बरबस याद आ जाता है—

'अनादाविह संसारे दुर्वारे मकरध्वजे।
कुले च कामिनीमूले का जाति परिकल्पना ॥'

अर्थात् संसार अनादि है—अगणित पीढ़ियों से चला आ रहा है, काम-वासना दुर्निवार है—रोकी नहीं जा सकती, और फिर कुल स्त्रीमूलक हैं—वासना-दुर्बल स्त्रियाँ ही कुलीनता-अकुलीनता की जड़ हैं; ऐसी दशा में जाति कुल की कल्पना ही क्या हो सकती है? कौन कह सकता है कि, "हमारे कुल में अनादि काल से किसी स्त्री ने व्यभिचार नहीं किया—हमारा कुल वैसा ही पवित्र बना हुआ है तथा हमारा कुल और जाति का अभिमान मिथ्या नहीं है?" 'वामुनेर मेये' का मूल सन्देश कदाचित् यही है।

लेन-देन

(देना-पाउना)

'लेन-देन' शरत् बाबू के रचनाकाल के उतरार्द्ध में रचित एक अपेक्षाकृत बड़ा उपन्यास है, परन्तु यह निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि आकार के अनुरूप इस उपन्यास में रस सृष्टि सम्भव नहीं हो सकी। लेखक बंगाल के 'पल्ली-समाज' के चित्रण में इतना व्यस्त रहा है कि उसे सहज मानवीय भावनाओं को स्पर्श करने का बहुत कम अवकाश मिल सका। विभिन्न पात्र-पात्रियों के मन में एक-दूसरे के प्रति क्या प्रतिक्रिया होती है, इसका मनोवैज्ञानिक अंकन 'लेन-देन' में बहुत कम हुआ है। 'पल्ली समाज' के समान ही 'देना-पाउना' का वातावरण ग्रामीण कलह, ईर्ष्या व पारस्परिक षड्यन्त्र और स्वार्थपरता से बोझिल हो उठा है। मन की निर्मल और निर्विकार वृत्तियों का उसमें कोई स्थान नहीं। पर जिस प्रकार 'पल्ली समाज' की तामसिक एवं अन्धकारमय कथा-भूमि पर रमा और रमेश का तरल रागात्मक सम्बन्ध कुछ क्षणों के लिए हमारे मन को मोहाच्छादित कर लेता है, उस प्रकार से 'देना-पाउना' के जीवानन्द और षोडशी हमारे हृदय में कोमल भावनाओं का संचार नहीं करते। मोटे तौर पर उक्त दोनों उपन्यासों के कथा-विधान में यही प्रमुख अन्तर है। एक और भी प्रकार का अन्तर इन दोनों कथाओं में है और वह यह कि 'पल्ली समाज' में रमेश का पुरुष रमा की नारी की अपेक्षा अधिक सशक्त है। परन्तु 'देना-पाउना' में षोडशी की नारी जीवानन्द के पुरुष की अपेक्षा अधिक शक्तिमान् है।

'देना-पाउना' की मूल कथा संक्षेप में इस प्रकार कही जा सकती है। षोडशी —जिसका पूर्व नाम अलका है—चण्डीगढ़ की चण्डी माता की भैरवी है। गाँव के अत्याचार-ग्रस्त व्यक्तियों को सहायता देती हुई वह अत्यन्त पवित्रता के साथ अपना जीवन-यापन करती है। एक दिन अचानक ही गाँव का व्यभिचारी, कामुक और अत्याचारी जमींदार जीवानन्द चण्डीगढ़ आता है। ऋण के रुपयों के बहाने वह षोडशी को अपने निर्जन निवास-स्थान में बुलवा लेता है। क्रोध के आवेग में भैरवी उसके पास जाती है और किसी प्रकार अपने नम्र व्यवहार से सतीत्व की रक्षा करती है। जीवानन्द को देखते ही वह पहचान लेती है कि इसी व्यक्ति ने

कुछ रुपयों के लोभ में उसकी माँ को सन्तुष्ट करके उससे विवाह किया था, परन्तु उसके बाद उसे आज ही अपने इस प्रथम पति के दर्शन हुए। षोडशी ने यह भेद गुप्त रखा, यहाँ तक कि जीवानन्द को भी नहीं बताया।

इसके उपरान्त उपन्यास में ग्रामीण कलह और ईर्ष्या-द्वेष के चित्र हैं। गाँव वालों की षड्यन्त्रपरायणता से ऊबकर जीवानन्द के सन्तोष के लिए षोडशी चण्डीगढ़ छोड़कर चल देती है। इसी बीच वह जीवानन्द पर यह भी प्रकट कर देती है कि वस्तुतः वही उसका पति है। इस भेद के ज्ञात होने पर जीवानन्द उसे प्राप्त करना चाहता है। पर जितना ही वह उसके निकट आना चाहता है उतना ही वह उससे दूर भागती है। अन्ततः जब पीड़ा-द्वारा जीवानन्द का हृदय पूर्णतः परिशुद्ध हो जाता है तो षोडशी उसे अपने साथ ले जाने के लिए आती है। और इस प्रकार निष्काम भावनाओं की छायाओं में दो हृदयों का सम्मिलन होता है। जीवानन्द और षोडशी चण्डीगढ़ छोड़ कर चल देते हैं।

इस लम्बे उपन्यास के कथानक में तीन प्रमुख नारी पात्रों का अवतरण हुआ है—षोडशी, हेम तथा हेम की माँ। उपन्यास की नायिका एवं प्रधान पात्री होने के कारण षोडशी के चरित्र का ही विश्लेषण हम सर्वप्रथम करेंगे। एक कौड़ी के शब्दों में "न तो औरत की-सी शक्ल है और न वैसा बर्ताव है। मानो हथियार बाँधे लड़ाई करने को तैयार है। इसी से तो लोग समझते हैं कि यही साक्षात् गढ़ की चण्डी है।" बहुत कुछ अतिशयोक्ति-पूर्ण होते हुए भी यह वर्णन षोडशी के चरित्र की मूल संवेदना प्रकट कर देता है। शरत् के अन्य नारी-पात्रों के समान वह अधिक भावुक नहीं है; उसमें पुरुषोचित् दृढ़ता एवं कठोरता है। इसीलिए सब प्रकार के अन्यायों का सामना वह स्थिरतापूर्वक करती है। आकस्मिक आपदाओं में यह साहसपूर्ण रमणी 'परिणाम भयहीन पगली' की भाँति पहुँच जाती है।

षोडशी के तपःपूत व्यक्तित्व का वर्णन करते हुए उपन्यास के प्रारम्भ में ही शरत् बाबू लिखते हैं, "स्त्री का एक प्रकार का रूप है जिसे पुरुष, यौवन के उस पार पहुँचे बिना, कभी देख नहीं सकता। वही अपूर्व नारी-रूप आज षोडशी की तैलहीन उलझी हुई लटों में, उपवास से सूखी हुई उसकी कठोर देह में, प्रकृति को रोकने के उसके रूखेपन में—उसके अंग-अंग में स्थित है।" यह इसी रूप का प्रभाव था कि नितान्त अवश अवस्था में पाकर भी जीवानन्द सदृश अत्याचारी एवं दुश्शील व्यक्ति षोडशी के तन का स्पर्श न कर सका; बाद में बिना जाने ही उसने उसके मन का स्पर्श कर लिया, यह दूसरी बात है। उसकी चारित्रिक दृढ़ता के मूल में उसकी पति-भक्ति अवस्थित है। जब तक वह जीवानन्द को पहचानती नहीं, वह अपने द्वितीय पति की क्षीण स्मृति के ही सहारे अपने सतीत्व की रक्षा करती है। उस समय वह जीवानन्द के वश में होती हुई भी उससे स्पष्ट शब्दों में

कहती है, "आपका रुपया, आप का सुभीता, आपके ही पास रहे, मुझे जाने दीजिए···पति की मुझे याद नहीं है सही, परन्तु वे हैं तो! मैं आपसे सच कहती हूँ, आज तक मैंने कोई भी बुरा काम नहीं किया है। कृपया मुझे छोड़ दीजिए।" सचमुच उसके कठोर मन के भीतर प्रवेश कर पाना बहुत दुरूह है, क्योंकि अटल पति-भक्ति का कवच उसकी बाह्य आक्रमणों से सदैव रक्षा करता रहता है।

षोडशी का मन यदि कठोर है, तो स्फटिक-सदृश निर्मल भी है, भले ही वह सबके लिए पारदर्शक न हो। जीवानन्द के प्राणों को अपने हाथ में पाकर भी वह उनका अन्त नहीं कर देती। विश्वास का हनन करना उसकी प्रवृत्ति नहीं है। जीवानन्द को, जब वह उसे पति-रूप में पहचान भी न पायी थी, मर्फिया की थोड़ी-सी ही मात्रा अधिक देने में वह उस अत्याचारी से अपना प्रतिशोध ले सकती थी। परन्तु उसने ऐसा नहीं किया। फिर जीवानन्द को पहचान लेने पर उसने उन्हें मैजिस्ट्रेट के हाथों से बचाया—अपने पिता के विरुद्ध यह बयान देकर कि "मैं अपनी इच्छा से आयी हूँ। किसी ने मेरे शरीर को हाथ से छुआ तक नहीं।" यहाँ भी वह अपने पति जीवानन्द से, पूर्वकाल में उसके द्वारा तिरस्कृत होने का बदला नहीं लेती। प्रथम यौवन की भेंट को अस्वीकार करने वाले व्यक्ति की भलाई के लिए उसकी तपस्विनी स्त्री-द्वारा सामाजिक मान-मर्यादा का उल्लंघन करना, इस बात का स्पष्ट परिचायक है कि शरत् की नायिकाएँ प्रायः अप्रत्याशित कार्य करके मानव-मनोविज्ञान की जटिलता का परिचय देती हैं। निर्दोष होने पर भी पति-द्वारा त्याग दिया जाना नारी के लिए सब से महान् दुःख की बात है। पर ऐसे भी पति की परिचर्या के लिए षोडशी सारे सामाजिक मानों से ऊपर उठकर अनायास कटिबद्ध हो जाती है। षोडशी का विवाह जीवानन्द के उपरान्त एक दूसरे व्यक्ति से हो चुका है, और फिर वह चण्डी की भैरवी भी है। ये दोनों बातें ऐसी हैं जो उसे जीवानन्द का स्पर्श तक करने को वर्जित करती हैं। पर इतने पर भी षोडशी इन दोनों विधानों का निषेध करके अपने दुःशील पति की परिचर्या नितान्त निष्काम भाव से करती है।

जैसा हमने पहले कहा है, षोडशी किसी भी प्रकार के अन्याय का तीखा प्रतिवाद करती है। जनार्दनराय से, जो जैसे धनी हैं, वैसे ही भयंकर हैं, एक किसान से बेगार लेने के मामले में षोडशी का झगड़ा हो गया था। यह बात राय महाशय को कभी नहीं भूलती और षोडशी भी उनसे कुछ डरते हुए भी उनका स्पष्ट तिरस्कार करती है। उनके बुला भेजने पर वह गाँव के मुखियों की पंचायत में नहीं जाती। यहाँ तक कि वह अत्याचारी जीवानन्द को भी उसके बीमार होने के कारण, जेल भिजवाना नहीं चाहती। इसके लिए वह फ़कीर साहब जैसे श्रद्धेय व्यक्ति का भी प्रस्ताव अस्वीकृत कर देती है। षोडशी के बारे में निर्मल का यह मत काफ़ी सच है कि 'यह जैसी गम्भीर है वैसी ही शिक्षिता है और वैसी ही

निडर है।' परन्तु जहाँ षोडशी अपने ग्रामवासियों के ऊपर होने वाले विभिन्न अत्याचारों का घोर विरोध करती है, वहीं वह अपने ऊपर होने वाले अत्याचार को मौन होकर सहती है। इस सम्बन्ध में उसका मत है, "बदनामी अगर झूठी ही हो तो सहूँगी क्यों नहीं? हेम, संसार में झूठी बातों की कमी नहीं है, परन्तु उसका प्रतिवाद करने में जो झूठे कार्य किये जाते हैं, उन्हीं का बोझ सहना कठिन है।" दूसरों को दुखित देखकर उसके मन का क्रोध उभर उठता है, पर अपने लिए नहीं। हेम षोडशी की तुलना उस तलवार से करती है, जिसकी मियान धूल चढ़ जाने से मलिन हो गयी है, परन्तु असली चीज़ में ज़रा भी मैल नहीं बैठा है। 'वह जैसी सीधी है, वैसी ही कठिन है और वैसी ही असली भी है।'

यहाँ एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है। यद्यपि षोडशी अपने ऊपर किये जाने वाले अत्याचारों का प्रतिवाद नहीं करती, पर वह उन अत्याचारियों के सम्मुख झुकती भी नहीं, जिससे कि वह इन दुष्कर्मों के लिए और प्रोत्साहित न हो उठें। नारी होकर वह यह दिखा देना चाहती है कि वह किसी भी प्रकार पुरुष से दुर्बल नहीं है। यहाँ उसका चरित्र शरत् की परम्परागत नायिकाओं से भिन्न हो जाता है। वस्तुतः षोडशी का व्यक्तित्व किरण और कमल के वर्ग के अन्तर्गत आता है, जो कोरी गलदश्रु भावुकता का तिरस्कार करती हैं। उनके चारों ओर एक कठोरता का कवच है जिसमें प्रवेश पा सकना किसी उपेन्द्र, अजित अथवा जीवानन्द के लिए ही सम्भव है। किरण, अभया, षोडशी और कमल नारी के सशक्त वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इनमें से पहली तीन नायिकाओं के व्यक्तित्व से श्रेष्ठतम परमाणुओं को लेकर लेखक ने अन्तिम नायिका का सृजन किया है। अपने अदम्य साहस का परिचय देती हुई षोडशी निर्मल से कहती है, "मैं अबला स्त्री, निरुपाय हूँ सही, परन्तु मेरा भैरवी का अधिकार तनिक भी शिथिल नहीं हुआ है। वे मर्द हैं, उनमें बल है, परन्तु उस बल को जब तक वे सोलहों आने प्रमाणित न कर लेंगे, तब तक मेरे हाथ से कुछ भी पाने का उन्हें अधिकार नहीं है—मिट्टी का एक ढेला तक नहीं। निर्मल बाबू, मैं स्त्री हूँ, परन्तु उसी को जिन लोगों ने संसार में सबसे बड़ा अपराध मान रखा है उन्होंने भूल की है। इस भूल का उन्हें संशोधन करना पड़ेगा।" यहाँ षोडशी का व्यक्तित्व पुरुष से दबा नहीं, वरन् वह उसे एक चुनौती देता जान पड़ता है। इसीलिए वह माँ अधिक है, प्रिया कम! उसके गाँव के सारे व्यक्ति उसे दयामयी माँ ही कहते हैं। और वह भी सदैव उनकी दुःख-गाथाओं को सुनने के लिए प्रस्तुत रहती है। उपन्यासकार के शब्दों में, 'षोडशी के सम्बन्ध में मुखियों का मनोभाव कुछ भी क्यों न हो, ये दीन दरिद्र लोग जैसे उसकी भक्ति करते हैं वैसे ही उसको चाहते भी हैं।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि षोडशी के चरित्र का विशिष्ट तत्त्व उसके मन

की असाधारण दृढ़ता है। जीवानन्द से वह कठोर शब्दों में कहती है, "झगड़ा करने में मुझे घृणा मालूम होती है। उसके लिए अभी मौक़ा भी नहीं है—यह बात अपने अनुचरों को समझा दीजिएगा।" और इधर सागर को वह सबके सामने ही आदेश देती है, "ज़मींदार के लोग कल यहाँ बलवा करना चाहते हैं, परन्तु मैं यह नहीं चाहती। मेरी इच्छा नहीं है कि इस उत्सव के समय यहाँ किसी तरह का खून-खराबा हो; परन्तु ज़रूरत पड़ी तो सब कुछ करना होगा। तुम लोग इन आदमियों को पहचान लो, इनमें से कोई भी कल मन्दिर के आस-पास न आने पाये ! एकाएक मारपीट नहीं करना, सिर्फ़ गरदनियाँ देकर निकाल देना।" सर्वसाधारण के बीच गाँव के मुखियों के विरुद्ध इन शब्दों को बोलने वाली नारी कितनी सशक्त है, इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं। वस्तुत: षोडशी यदि गुलाब की तरह कोमल है तो चट्टान की तरह दृढ़ भी है। देवी की भक्ति में समय व्यतीत करने वाली यह नारी प्राण लेने की भी बात कर सकती है। पर "इस कठिन आवरण के नीचे रहस्यमयी कौतुकप्रिय नारी-प्रकृति दबी पड़ी है," इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उसके व्रत और उपवास की हज़ारों तरह की कठोर साधना से भी उसकी हँसी का झरना अभी नहीं सूखा है, मानो राख के भीतर भी आग की तरह वह जीवित है। उसकी दृढ़ता एवं शान्त तथा संयमित कठोरता को व्यक्त करने के लिए केवल प्रफुल्लता का एक वाक्य ही पर्याप्त है—"बापरे ! औरत तो है ही नहीं, मर्द का दादा है।" इसके आगे इस सम्बन्ध में कुछ और कहना अनावश्यक ही है।

षोडशी चण्डी माता की भैरवी है, और अपने इस कार्य को वह अत्यन्त मनोयोगपूर्वक करती है। अनेक प्रकार की कठिनाइयों में भी देवी-पूजन को वह नहीं भूलती। जीवानन्द के यहाँ बन्दिनी रहने पर 'सारी दुश्चिन्ताओं के भीतर और एक प्रकार की चिन्ता की धारा षोडशी के अन्त:करण में लगातार बह रही थी, वह है उसकी चण्डी माता, जिनकी पूजा वह बचपन से करती आयी है।' उसकी गेरुआ रंग की धोती, उसके सुन्दर सुगठित खुले सिर के रूखे केश, उसकी उपवास-कठिन यौवन-सन्नद्ध देह की सब प्रकार के बाहुल्य से वर्जित विचित्र सुषमा, सबके ऊपर उसके नत-नेत्रों की अपरिदृष्ट वेदना का अनुरक्त इतिहास—उसके कठोर सौन्दर्य के ये सारे उपकरण मानो उसे चण्डी पूजन से ही प्राप्त हुए हैं। देवी की पूजा के लिए सारे आवश्यकीय संयम का वह निर्वाह करती है। षोडशी के रूप में वह अपने को एक साधारण नारी मात्र समझती है, पर चण्डीगढ़ की भैरवी के रूप में वह जानती है, 'कि इतनी बड़ी सम्मानित और गरीयसी नारी इस प्रदेश में और कोई नहीं है।' 'इसीलिए अपना सम्मान नष्ट करने पर भी वह भैरवी का सम्मान यथाशक्य नष्ट नहीं होने देती। यहाँ तक कि देवी के पूजन के समय वह अपने प्रति कही हुई कठोर से कठोर बातों को नहीं सुनती।

चण्डी की भैरवी जैसे सम्मानित पद पर प्रतिष्ठित होने पर भी षोडशी को पदलोलुपता छू तक नहीं गयी है। जैसा कहा जा चुका है, भैरवी वह इसलिए है क्योंकि उसके हृदय में देवी के प्रति नैसर्गिक भक्ति है, इसलिए नहीं कि उसे उस उच्च पद की लालसा है। जिवानन्द से स्पष्ट एवं स्वाभाविक स्वर में वह कहती है, ' मैं इस निर्णय के लिए झगड़ा नहीं करना चाहती कि वास्तव में अभिभावक कौन है; आप लोग अगर ऐसा समझें कि मेरे चले जाने से मन्दिर की भलाई होगी, तो मैं चली जाऊँगी ......एक दिन बिना कुछ समझे-बूझ ही मैं भैरवी हुई थी और आज विदा लेते समय भी मैं इससे अधिक कुछ न सोचूँगी ।" और अन्ततः वह भैरवी के सारे उत्तरदायित्व एवं कर्त्तव्य से मुक्त होकर अत्यन्त शान्तिपूर्वक गाँव छोड़कर चल देती है।

यह एक विलक्षण तथ्य है कि षोडशी का चरित्र जितना ही कठोर है, उतना ही उसमें परोपकार बुद्धि का बहुल्य है। विरोधी दल के सदस्य होने पर भी भटके हुए निर्मल को अँधेरी रात में वह हाथ पकड़कर घर तक पहुँचा आती है। हेम के प्रार्थना करने पर भी वह ऐसा कोई काम करने को तैयार नहीं जिसके कारण उसके और उसके पिता में मनोमालिन्य हो। उसे अपनी ग़रीब प्रजा का इतना अधिक ध्यान रहता है कि गाँव छोड़कर जाते समय वह जीवानन्द से यह प्रार्थना करती है कि वे इन दीन दुःखियों का पूरा ध्यान रखें। अपने भैरवी के कार्य-काल में वह मन्दिर में आये हुए रोगग्रस्त या किसी भी अन्य अभाव से पीड़ित व्यक्तियों की पूरी सहायता करती है। जब वे एकदम स्वस्थ हो जाते हैं तभी वह उन्हें वहाँ से जाने की आज्ञा देती है। और जब उसे चण्डीगढ़ की ग़रीब प्रजा की सेवा से विरत होना पड़ता है तो वह कुष्ठाश्रम की दासी बनकर जाती है। इसके उपरान्त जब उसे एक बार फिर गाँव आना पड़ता है तो वह भी हेम के पिता जनार्दनराय के उपकार के लिए ही, जिन्होंने सदैव उसे अपमानित करने की चेष्टा की थी।

षोडशी के मन में अपनी मृत माँ के लिए तो श्रद्धा है ही, अपने कुटिल पिता के लिए भी कम ममत्व नहीं है। उसके पिता तारादास जब उससे रुष्ट होकर सारे घर पर अधिकार कर लेते हैं, तो वह प्रत्युत्तर में कुछ भी नहीं कहती, चुपचाप अपना सामान लेकर चली जाती है। और इसके बाद-भी उसे यह पश्चात्ताप रहता है कि उसके कारण उसके पिता को व्यर्थ कष्ट उठाना पड़ा। आगे भी पिता के सुख की चिन्ता उसे सदैव रहती है, यद्यपि तारादास अपनी पुत्री को नीचा दिखाने में कुछ भी कमी नहीं रखते ।

षोडशी के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसके पास व्यावहारिक बुद्धि का अभाव नहीं है, जो शरत् की अधिकांश भावुक नारियों के पास प्रायः नहीं होती। अपढ़ ग्रामीण व्यक्तियों को किसी कार्य-विशेष के लिए कैसे संगठित किया जाय, यह वह भलीभाँति जानती है। इसीलिए उसके एक इशारे पर चण्डीगढ़

की सारी प्रजा चलती है । जमींदार द्वारा गाँव की जमीन पर अनुचित रूप से अधिकार किये जाने पर वह एक सभा का आयोजन करती है, और उन निरुपाय एवं निरीह व्यक्तियों में साहस का संचार करती हुई कहती है, "अगर यह बात सत्य है विपिन, तो अपने उन पाँच-पाँच जवान बेटों से कहना कि यह पुश्तैनी जायदाद उनकी बूढ़ी माँ से तिलभर भी कम नहीं है। ये दोनों ही समान रूप से उसका पालन करती आयी हैं ।" षोडशी के इन शब्दों में जो सभा-चातुर्य एवं वाक्पटुता झलकती है, वह सहसा अतुलनीय है।

षोडशी और जीवानन्द का पारस्परिक सम्बन्ध एक विचित्र प्रकार का है। षोडशी जीवानन्द की स्त्री है, परन्तु त्यागी हुई। बाद में मिलने पर जब वे एक-दूसरे को पहचानते हैं तो उनकी रागात्मिका वृत्तियाँ परस्पर सम्मिलन के लिए छटपटाती हैं। पर चाहते हुए भी वे एक-दूसरे के निकट नहीं आ पाते क्योंकि उनकी विचारधाराएँ एवं मान्यताएँ नितान्त भिन्न हैं। उपन्यास के अन्त तक यह संघर्ष चलता रहता है, पर अन्ततोगत्वा सारे सशक्त मनो-विकारों के ऊपर प्रेम की विजय होती है, और षोडशी जीवानन्द को अपने साथ लिवा ले जाती है। षोडशी को देखकर जीवानन्द की रूखी आँखें सजल हो उठती हैं। 'इस प्रकार आत्मसमर्पण करके जिसने उसका सारा हृदय जीत लिया है, उसकी ओर देखते ही अकस्मात् उसके पैरों के नीचे की धरती तक काँप उठती है।'

षोडशी ने जब से जीवानन्द को पहचाना है, तब से वह उसका विरोध करती हुई भी उसके हित-अहित का सदैव ध्यान रखती है। प्रारम्भ में वह उसे जेल जाने से रोकती है। फिर जब सागर उसे जीवानन्द के प्राणान्त करने का प्रस्ताव बताकर चला जाता है तो उसके क्लेश का पार नहीं रहता। उसके अन्य 'सब क्लेश गोष्पद के तुल्य हैं और जहाँ आज सागर उसे डालकर अदृश्य हो गया है वह दशा समुद्र के समान है।' गाँव के सारे षड्यन्त्रों के बीच भी षोडशी जीवानन्द की सुविधा का ध्यान रखती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। वैयक्तिक बातों के लिए वह जीवानन्द से झगड़ा नहीं करती। यहाँ तक कि उसके सम्मुख वह अपने असतीत्व का कलंक भी ओढ़ लेती है।

जीवानन्द के सम्मुख षोडशी के दुर्बल पड़ने का मुख्य कारण उसका पूर्व-सम्बन्ध ही है। उपन्यासकार के शब्दों में 'जीवानन्द के मुँह से यही 'अलका' नाम षोडशी के लिए सबसे बड़ी दुर्बलता है। उसे मालूम न होता था कि तीन अक्षरों का यह छोटा-सा नाम उसको कहाँ जाकर चोट पहुँचाता है।' परन्तु अपने पारस्परिक सम्बन्धों में षोडशी जीवानन्द के सम्मुख भले ही झुक जाय, गाँव के झगड़ों को लेकर वह अपने मत पर सदैव अटल रहती है। ऐसे समय जीवानन्द को अप्रसन्न होकर कहना ही पड़ता है, "तुम कुछ नहीं कर सकतीं, तुम पत्थर हो।" इन गाँव की समस्याओं को लेकर ही जीवानन्द षोडशी को अपना

सबसे बड़ा दुश्मन मानता है। वस्तुतः पति-पत्नी के बीच की यह दूरी, जो हमें शरत् के उपन्यास 'पण्डित जी' में भी मिलती है—अवश्य ही दूसरे कारणों से, आज हमारे लिए आश्चर्यजनक है; पर तत्कालीन बंगाल में यह साधारण बात थी।

षोडशी के चरित्र में शरत् की परम्परागत नायिकाओं की विशेषता प्रमुख-रूप से मिलती है, और वह है प्रभविष्णुता। पर यह सच है कि इतने गुणों का समाहार होने के कारण ही उपन्यासकार ने षोडशी का व्यक्तित्व हमारे सम्मुख इस रूप में रक्खा है। उसकी प्रभविष्णुता अस्वाभाविक नहीं है। निर्मल के शब्दों में, "आप साधारण स्त्री हैं भी तो नहीं! इसके सिवा सब बातों में चुप रहने की आपकी जिद भी अपूर्व ही है। वास्तव में आपकी सभी बातें अनोखी हैं···आपकी भक्ति किये बिना रहा नहीं जाता।" एकदम ऐसी ही भावना षोडशी की विरोधिनी राय-गृहिणी भी व्यक्त करती हैं। उनके अनुसार वह 'पढ़ने-लिखने में सरस्वती है। ऐसा शास्त्र नहीं जिसे न जानती हो' 'अथवा' आपत्ति-विपत्ति में गरीबों के लिए ऐसा माँ-बाप गाँव भर में दूसरा नहीं है। जब जिस काम के लिए बुलाओ, हँसती हुई हाजिर है; नाहीं करना तो जानती ही नहीं।' इसके अतिरिक्त उनका स्पष्ट मत है कि 'षोडशी कभी किसी को धोखा नहीं देती और न झूठ ही बोलती है।' वस्तुतः राय-गृहिणी के हृदय में षोडशी के लिए अत्यन्त कोमल कोना सुरक्षित है। वह उनकी श्रद्धा की पात्री है। जीवानन्द ऐसा व्यक्ति उसके चरित्र की दृढ़ता से प्रभावित होकर कहता है, "तुम तो असती नहीं हो।" और तो और उसके कट्टर विरोधी जनार्दनराय को भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि 'षोडशी और कुछ भी करे, देवी की सम्पत्ति वह नहीं चुरायेगी—एक पैसा भी न लेगी।' षोडशी के लिए कहे गये उक्त सारे वाक्य उसके व्यक्तित्व की प्रभविष्णुता एवं अजेय निष्ठा पर भलीभाँति प्रकाश डालते हैं।

षोडशी—तरह-तरह के कृच्छ्र तप करने से जिसका शरीर सूख गया है, जिसका रूप और यौवन कठिन तथा कान्तिहीन हो गया है—ऐसी विदुषी संन्यासिनी षोडशी अपनी दृढ़ता, पुरुषोचित आत्मनिर्भरता एवं वाक्पटुता में कदाचित् 'शेष प्रश्न' की कमल का पूर्व रूप है। उसकी सरल विनोदप्रियता को देखकर 'गृहदाह' की मृणाल का स्मरण हो आता है। निर्मलबाबू से वह अनायास ही कहती है, "मैं इतनी भोली नहीं हूँ—मेरे सामने धोखा नहीं चलता।" षोडशी की यही उक्ति मानो उसके चरित्र का मूल सूत्र है। शरत् के नारी पात्रों के अध्येताओं के लिए यह उसकी तरफ़ से चेतावनी है।

'देना-पाउना' की दूसरी प्रमुख पात्री हेम है। एक धनिक की पुत्री एवं बैरिस्टर की पत्नी होने पर भी उसके व्यक्तित्व में बनाव-श्रृंगार का विशेष आग्रह नहीं है। ठीक इसी के अनुरूप उसका मन भी है—अत्यन्त निर्मल एवं शान्त। किसी भी प्रकार के उत्तेजनापूर्ण वातावरण में वह संयत रह सकती है।

षोडशी के अपराधों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत होने पर भी वह उन्हें अपरीक्षित होने के कारण अप्रामाणिक मानती है। सत्य के लिए उसके मन में इतना आग्रह है कि जनार्दन राय को वह उनके सम्मुख ही मिथ्या भाषण के लिए तिरस्कृत करती है, और अन्ततः वह सब स्वजनों के विरुद्ध होकर उनकी अनिच्छा एवं क्रोध का ध्यान न करके अपने पुत्र की मंगल-कामना के लिए देवी का पूजन षोडशी से ही करवाती है, क्योंकि वह जानती है कि भैरवी निर्दोष है।

हेम का चरित्र एक साधारण भारतीय नारी की भाँति अंकित किया गया है। जिस प्रकार वह ग़लतफ़हमियों का शिकार होती है उसी प्रकार उसके मन में पश्चात्ताप की भावना भी जगती है। अपनी भूलों को स्वीकार करने में उसे कोई लज्जा नहीं। इसके साथ-ही-साथ उसकी बुद्धि भी पर्याप्त रूप से विकसित है। अँधेरी रात में उसके पति का हाथ पकड़कर उन्हें घर तक कौन पहुँचा गया है, यह समझने में उसे देर नहीं लगती।

षोडषी के लिए हेम के मन में विशेष रूप से ममता है। चण्डीगढ़ में वह जब तक रहती है, तब तक उसे अपनी इस सखी की रक्षा का ध्यान रहता है। गाँव के बाहर जाने पर भी वह उसकी चिन्ता रखती है। षोडशी को विपत्ति में छोड़ कर वह नहीं जाना चाहती, और जब वह जाती भी है तो यह आग्रह करके— "इतनी बात आज कह दो बहिन कि अगर कभी अपने आदमी की ज़रूरत पड़े तो इस प्रवासी छोटी बहिन को याद करोगी।"

हेम की माँ पूरे कथानक में पार्श्व-चरित्र मात्र हैं। उनका व्यक्तित्व औसत दर्जे का होते हुए भी कोमल है। अपनी लड़की-दामाद के लिए वह प्राण तक देने के लिए तैयार है। घर की शान्ति-सुरक्षा के लिए भी वह सदैव व्याकुल रहती है। अकारण किसी की निन्दा करना उन्हें अच्छा नहीं लगता। षोडशी की भलाई न चाहने पर भी वे इसकी बुराई नहीं सुन सकतीं। षोडशी के लिए वह निर्मल से कहती हैं, "नहीं बेटा, झूठ क्यों कहूँ, उसके चेहरे की याद आते ही मुझे न मालूम क्यों रुलाई आती है। न मालूम ये लोग मिलकर क्यों उसके पीछे पड़े हैं।"

'देना-पाउना' के नारी-समाज की उक्त व्याख्या करने के उपरान्त हम संक्षेप में कह सकते हैं कि शरत् बाबू अपने इस उपन्यास में चरित्रांकन का वह मर्मस्पर्शी विधान नहीं दिखा सके जो उनकी अन्य कृतियों में द्रष्टव्य है। षोडशी का चरित्र, अवश्य ही, मर्मस्पर्शी न होते हुए भी स्मरणीय है। अन्य परम्परागत नायिकाओं से भिन्न, उसका व्यक्तित्व सम्भवतः शरत् के नारी चरित्रों में सबसे सशक्त और कठोर है। अपनी इस भिन्नता के कारण ही उपन्यासकार के विस्तृत नारी-समाज में उसका स्थान सुनिर्दिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण है।

●

पथ के दावेदार

[पथेर दावी]

सम्पूर्ण शरत्-साहित्य में 'पथेर दावी' (पथ के दावेदार) का अपना विशिष्ट स्थान है। इसके महत्त्व का प्रमुख कारण है कि प्रायः यही एक शरत् बाबू का ऐसा उपन्यास है, जिसमें उन्होंने मानव-जीवन के रसमय भावावेगों के साथ राजनीतिक क्रान्ति का बड़ी कुशलता से संगुम्फन किया है। कथा की पृष्ठभूमि निश्चित रूप से राजनीतिक है। प्रत्येक स्थल पर कुछ-न-कुछ राजनीतिक चर्चा पाठक को इसमें मिलेगी। पर इस पृष्ठभूमि पर उपन्यासकार ने जो विभिन्न पात्र-पात्रियों के रागात्मक मनोभावों का अंकन किया है, वह एक साथ ही हमारे मन की उदात्त वृत्तियों को आकृष्ट कर लेता है। क्रान्ति—राजनीतिक सत्ता को आमूल परिवर्तित करने के दृढ़ निश्चय—का एक बोझिल वातावरण लिये हुए भी उपन्यास स्नेह और प्रेम के पराग से सुगन्धित है। 'पथ के दावेदार' के लगभग सभी पात्र-पात्री—यहाँ तक कि वज्र सदृश कठोर सव्यसाची भी—एक ओर भारतवर्ष को स्वाधीन कराने की प्रतिज्ञा का आचरण करते हैं, और दूसरी ओर अपनी सहज मानव-सुलभ रागात्मिका वृत्तियों को अभिव्यक्ति देते हैं। क्रान्ति और शान्ति की इस अभिसन्धि में कथा की रसमयता अतुलनीय है। अपने राज-नीतिक विचारों के कारण यह पुस्तक एक बार जब्त कर ली गयी थी, परन्तु अपनी मर्मस्पर्शी शक्ति के कारण इस उपन्यास ने भारतवर्ष के प्रायः सभी शिक्षित सहृदयों के मन में घर कर लिया है।

'पथेर दावी' की कथा बहुत संक्षेप में इस प्रकार है—एम. एस-सी. में उत्तीर्ण होने के पश्चात् अपनी वृद्ध और अत्यन्त निष्ठावान माँ से किसी प्रकार आज्ञा लेकर जीविकोपार्जन के लिए अपूर्व रंगून पहुँचता है। माँ के समान ही अपूर्व भी परम धार्मिक एवं आचरणशील है। बर्मा पहुँचकर सारे आचरणों का पालन करते हुए वह किसी प्रकार अपना जीवन-निर्वाह प्रारम्भ करता है, परन्तु उसका नौकर तिवारी ऊपर के कमरे में रहने वाली क्रिश्चियन लड़की भारती जोसेफ से झगड़ा कर बैठता है। अपूर्व को भी इस झगड़े में साझीदार होना पड़ता है। पर यह नियति का व्यंग्य है कि अपूर्व और भारती का सम्बन्ध,

जो आपस में झगड़े से प्रारम्भ होता है, धीरे-धीरे समय व्यतीत होने पर दृढ़ मैत्री का रूप धारण कर लेता है।

भारती एक ऐसी गुप्त समिति की मन्त्री बन जाती है, जिसकी स्थापना प्रसिद्ध क्रान्तिकारी सव्यसाची ने की है, और जिसकी सभानेत्री उसकी प्रेयसी सुमित्रा है। इस समिति का उद्देश्य है भारत वर्ष में स्वाधीनता लाना। भारती अपूर्व को भी इस समिति का सदस्य बना लेती है। पर अपूर्व बहुत डरपोक है और अपनी नौकरी को बचाने के लिए इस गुप्त समिति का सारा भेद खोल देता है। इस अपराध का दण्ड देने के लिए अधिकार समिति की बैठक होती है, जिसमें सर्वसम्मति से अपूर्व को मृत्युदण्ड दिया जाता है। पर सव्यसाची, यह सोचकर कि अपूर्व की सारी कमज़ोरियों के बावजूद भारती उससे प्यार करती है, समिति के अन्य सदस्यों के रुष्ट हो जाने पर भी अपूर्व को बचा लेते हैं। बर्मा की ज़िन्दगी से ऊबकर अपूर्व घर वापस चला जाता है।

इधर 'अधिकार-समिति' का संगठन शिथिल होने लगता है। सुमित्रा भारती और सव्यसाची के स्नेह-सम्बन्ध को ग़लत समझकर जावा जाने के लिए प्रस्तुत होती है। भारती समिति की कार्य प्रणाली से मतभेद प्रकट करती है। नवतारा पहले ही अपनी गृहस्थी बसाकर चल चुकी है। इसके अतिरिक्त समिति की अन्य पूर्वी शाखाओं में उपद्रव प्रारम्भ हो जाते हैं। सव्यसाची इन सबको दबाने के लिए सिंगापुर जाने को तैयार होते हैं। इसी बीच अपूर्व भी रंगून आ जाता है। बेहाला-उस्ताद शशि, अपूर्व, भारती और सुमित्रा से घोर तूफ़ानी रात में ही बिदा लेकर सव्यसाची चल देते हैं। सहसा एक गहरी साँस लेकर शशि बोल उठा—'बुरे दिनों के साथी हे मित्र, तुम्हें नमस्कार!'

भारती उसी तरह पाषाण-प्रतिमा की तरह अँधेरे में खड़ी रही। शशि की बात न तो उसे सुनाई ही दी और न वह यही जान सकी कि ठीक उसी की तरह एक दूसरी नारी की भी आँखों में आँसू की धार बह रही है।

'पथेर दावी' के इस बड़े सजल कथानक में पाँच नारी पात्रों का चरित्रांकन हुआ है—भारती, सुमित्रा, नवतारा, अपूर्व की माँ और भारती की महरी। इन पाँच नारी-पात्रों में से भारती और सुमित्रा के चरित्र प्रमुख हैं। नवतारा और अपूर्व की माँ पार्श्व-चरित्र-मात्र हैं। भारती की महरी का यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है। उपन्यास की प्रमुख संवेदना है भारती का व्यक्तित्व, और उसी को अंकित करने में शरत् बाबू ने सर्वाधिक कुशलता दिखाई है। 'पथेर दावी' जैसे भारती की ही कथा है—उसके विभिन्न रूपों में—अपूर्व की प्रेयसी, सव्यसाची की बहिन, सुमित्रा की सहायिका और अन्ततः 'अधिकार-समिति' की संयोजिका के रूप में भारती ही सदैव हमारी आँखों के सम्मुख रहती है।

भारती सबसे पहले हमें एक नम्र, लज्जाशील और सुशील युवती के रूप में

अपने पिता के दुर्व्यवहार के लिए अपूर्व से क्षमा माँगती हुई दिखाई देती है। उसकी यही मूर्ति पाठक के हृदय में जैसे बस जाती है, और वह भी विभिन्न एवं बदलती हुई परिस्थितियों में अपने इन चारित्रिक गुणों को सदैव सुरक्षित रखती है। उपन्यास का प्रारम्भिक अंश भारती और अपूर्व के विभिन्न पारस्परिक सम्बन्धों को ही चित्रित करता है। वस्तुतः इन दोनों प्रेमियों के बीच संक्रान्ति काल दो अवसरों पर उपस्थित होता है। पहली बार भारती के हृदय में अपूर्व और अपने पिता को लेकर द्वन्द्व खड़ा होता है. और दूसरी बार अपूर्व तथा 'अधिकार-समिति' एवं सव्यसाची के प्रति अपने उत्तरदायित्व को लेकर। दोनों बार अन्ततः उसकी अन्तश्चेतना में अवस्थित उसका अपूर्व के प्रति प्रेम ही विजयी होता है, परन्तु इन संघर्षमयी परिस्थितियों में भी भारती अपना कर्त्तव्य बड़ी कुशलतापूर्वक निभाती है। वह पिता का साथ देते हुए भी अपूर्व को कष्ट नहीं देना चाहती। उसके विरुद्ध झूठी गवाही देने के कारण उसे जो रुपया दण्ड-स्वरूप देना पड़ा था, उसे वह गुप्त रूप से उसके कमरे में डाल देती है। इस प्रकार उसे दोनों ही ओर से कष्ट उठाना पड़ता है—पिता का साथ देने के लिए मिथ्या भाषण के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ मानसिक कष्ट, और अपूर्व को गुप्त रूप से रुपये देने का आर्थिक कष्ट ! यहाँ स्मरणीय है कि भारती की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं है।

अपूर्व के लिए भारती की आत्मीयता एक स्थायी निधि है। अपने आपको पुलिस के खतरे में डालकर भी वह अपूर्व के सूने कमरे की रक्षा करती है। उस समय उसके मन में भय की स्थिति नहीं रहती। इसके बाद तो अपूर्व का सामान जिस ढंग से भारती सजाती है, वह एक स्वजन-द्वारा ही सम्भव है। यहाँ शरत् जन्म-जन्मान्तर के प्रेम को अत्यन्त दृढ़तापूर्वक मान्यता देते दिखाई देते हैं। अपूर्व की प्रत्येक कठिनाई को भारती सुलझाती हुई चलती है—एक स्थिरबुद्धि गृहिणी की भाँति। 'इस लड़की की प्रखर बुद्धि और सब तरफ़ अद्भुत तीक्ष्ण दृष्टि रखने की शक्ति' वस्तुतः इतनी सहज, सरल और आकर्षक है कि उपन्यास के इस स्थल पर आकर बहुत से सहृदय नवयुवक पाठक यदि अपूर्व की इस स्थिति से ईर्ष्या करने लगें तो आश्चर्य की बात नहीं।

भारती के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी अहेतुक दया। मोह-ममता अपने अत्यधिक निखरे हुए स्वरूप में उसके मन में उसी प्रकार सहज और स्वाभाविक हैं, जिस प्रकार रक्त और मांस उसके शरीर में सहज हैं। चेचक निकलने पर तिवारी की परिचर्या भारती जिस तरह करती है, उस तरह केवल एक आत्मीय ही कर सकता है। फिर तिवारी से उसका कोई विशेष सम्बन्ध भी नहीं। एक निकट अनजान पड़ोसी के नौकर की भयंकर और संक्रामक रोग में इस प्रकार सेवा-शुश्रूषा केवल वही कर सकते हैं, जिनके मन में सभी भूतप्राणियों

के लिए दया का भाव वर्तमान हो। भारती के व्यक्तित्व का यह पहलू हमें अनायास ही तथागत की अहिंसा, जीवमैत्री और करुणा की महिमा का स्मरण दिला देता है। अपूर्व के लिए उसने जो कुछ किया, उसके सम्बन्ध में तो यह भी कहा जा सकता है कि जिस पुरुष ने उसके प्रथम यौवन की मादकता में हिस्सा बँटाया, उसके लिए वह जो कुछ भी करे, थोड़ा है। परन्तु भीषण रोगग्रस्त तिवारी और रंगून के तमाम निम्न जातीय कुली-मज़दूरों की उसने जो सहायता की, वह निष्काम भाव से प्रेरित होकर ही। फिर सबसे बड़ी बात यह है कि अपने इन पुण्य-कृत्यों को भी वह निज स्वार्थ-प्रेरित ही मानती है। यहाँ हमें उसके चरित्र की उच्चाशयता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। अपूर्व से वह कहती है, (इस गन्दी बस्ती में) 'हम सब अपनी ही गरज से आते हैं अपूर्व बाबू, इस बात का अनुभव करना ही हमारी अधिकार-समिति की सबसे बड़ी साधना है।'

वस्तुतः भारती उन सब चीज़ों से घृणा करती है, जिन्हें हम जीवन की कुरूपताएँ कहते हैं। किसी भी प्रकार की नृशंसता, निर्दयता उसे सह्य नहीं। जीवन में जो कुछ भी अश्लील है, असत् है, उसे वह अपने निकट नहीं आने देना चाहती ! उसके इस चारित्रिक गुण का मूल्य तब और बढ़ जाता है, जब हम देखते हैं कि वह गलदश्रु भावुकता से दूर हटकर व्यावहारिक दृष्टिकोण भी अपनाती है। एक ओर वह पतित और शराबी कुल-मज़दूरों को यह कहकर संगठित करती है—'यह सब तुम लोग क्यों बर्दाश्त करते हो ? एक बार साथ खड़े होकर कहो, यह अत्याचार अब नहीं सहेंगे। फिर देखें, कैसे तुम्हारे बदन पर हाथ उठाते हैं। सिर्फ़ एक बार—एक बार अपनी सच्ची ताक़त को देखना सीख जाओ, और तुम लोगों से हमें कुछ नहीं चाहिए।' परन्तु दूसरी ओर वह इस बात का भी ध्यान रखती है कि कहीं प्रतिशोध के आवेश में ये नीच जाति के अशिक्षित लोग कोई सामूहिक हानि न कर बैठें। एक मिस्त्री के मुँह से यह सुनकर कि वह एक मात्र पुरज़ा ढीला करके सारा कारखाना तहस-नहस कर सकता है, भारती डरकर कहती है—'नहीं-नहीं, दुलाल, ऐसा करने की जरूरत नहीं। ऐसा मत करना। इससे तुम्हीं लोगों का नुकसान है ! शायद बहुत-से आदमी मारे जायँ—शायद —नहीं नहीं, ऐसी बात सपने में भी न सोचना। इससे बढ़कर और पाप नहीं।' इन शब्दों के पीछे भारती के हृदय के जो संस्कार हैं, वे नितान्त स्पष्ट हैं। वह स्वयं सदैव सत्य के मार्ग पर चलती है और सबको उसी मार्ग पर चलने की सलाह देती है। भारती की जिस परोपकार बुद्धि की ओर हमने अभी संकेत किया, उसका व्यावहारिक रूप हमें तब दिखाई देता है, जब हम रंगून की उक्त निम्न श्रेणी के व्यक्तियों की दुर्दशा का अनुमान लगा लेते हैं। जिन व्यक्तियों को भलाई की सबसे अधिक आवश्यकता है, वे कृतघ्न होते हुए भी, भारती से भलाई की आशा रख सकते हैं, इस बात को जान कर अपूर्व को भले ही कुछ

विस्मय हुआ हो, परन्तु भारती के मानसिक संस्थान को समझने वाले पाठक के लिए यह कुछ भी विस्मय की वस्तु नहीं।

जैसा हम पहले कह चुके हैं, निर्दयता या नृशंसता के किसी भी कार्यक्रम से भारती सहमत नहीं। यहाँ उसके हृदय पर परम वैष्णव शरत् की मान्यताओं का कितना गहरा प्रभाव है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। यह कोमल मन उसे उपन्यासकार की परम्परागत नायिकाओं से विरासत के रूप में मिला है। अपनी इस कोमलता की रक्षा के लिए, वह 'अधिकार समिति' छोड़ने तक को प्रस्तुत हो जाती है; क्योंकि उसके सदस्य 'बड़े भयंकर और निर्दयी हैं।' यहाँ तक कि अपने सबसे अधिक श्रद्धेय—सव्यसाची से भी वह निर्शंकितापूर्वक मतभेद प्रकट करती है। डॉक्टर कहते हैं—'तुम्हारी तरफ़ देखने से ही मालूम होता है कि इन सब कामों के लिए तुम नहीं हो ,तुम्हें इस काम में खींच लाना अच्छा नहीं हुआ।' इसके उत्तर में भारती का सजल और स्निग्ध आग्रह है—'इसमें तुम भी मत रहो भैया।' आगे चलकर एक लम्बे कथोपकथन में वह सव्यसाची से आग्रह करती है—'भगवान् के इतने बड़े सत्य पर पहुँचने के लिए इस निष्ठुर मार्ग के सिवा और कोई मार्ग खुला ही नहीं है, यह मैं किसी तरह भी नहीं सोच सकती··· निष्ठुरता के इस बार-बार चले हुए मार्ग से तुम अब मत चलो। वह द्वार शायद आज भी बन्द होगा, लोगों के लिए उसे तुम खोल दो, जिससे हम लोग इस संसार में सभी से प्रेम करते हुए उस मार्ग का अनुसरण करके चलते रहें।' इन सबल शब्दों के पीछे भारती के मन की अहिंसा-वृत्ति स्पष्ट बोल रही है। जिन्दगी में जो कुछ भी हत्या के रक्त से सना हुआ है, वह सब उसके लिए त्याज्य है, घृण्य है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि भारती भीरु है अथवा अपने आपको खतरे में नहीं डालना चाहती। वस्तुतः उसका मानसिक संस्थान ही ऐसा है, जिसमें असत् के लिए कोई स्थान नहीं। उसका यह दृढ़ विश्वास है कि अन्ततोगत्वा हिंसा की कभी विजय नहीं होती। अपनी इस आस्था को बड़ी शक्ति के साथ वह इस प्रकार व्यक्त करती है—'भैया, तुम्हारा चुना हुआ यह खून-खराबी का रास्ता किसी भी तरह ठीक नहीं। अतीत की चाहे जितनी नजीरें तुम दिखाओ, मानस-जीवन में यह विधान हरगिज सत्य नहीं हो सकता कि जो अतीत है, जो बीत चुका है, हमेशा सिर्फ़ वही छाती ठोककर अनागत को नियन्त्रित करेगा। तुम्हारा मार्ग ठीक नहीं है यह, फिर भी तुम्हारी सब विसर्जन कर देने वाली इस देश की सेवा को ही मैं सिर-माथे लेती हूँ।' यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि ऐसे स्थलों पर, भारती के सम्मुख डॉक्टर जैसे शक्तिशाली व्यक्तित्व को भी दबना पड़ता है, और वह केवल उसकी दृढ़ निष्ठा एवं निष्काम स्नेह के कारण।

भारतीय सुमित्रा के लिए मन में असीम श्रद्धा रखती है। मगर जिस दिन से उसने सुमित्रा को विकराल रूप में देखा, उसी दिन से उसकी भक्ति भय में

परिणत हो गयी है। अन्ततोगत्वा अधिकार समिति की संहारक प्रवृत्ति देखकर वह उससे भी अपना सम्बन्ध तोड़ लेती है। अत्यन्त व्यग्र होकर वह डॉक्टर से कहती है—'माफ़ करो भैया, तुम्हारे इस खून-खराबी के काम में मैं अब नहीं रहने की। तुम्हारी गुप्त समिति का काम अब मुझसे नहीं हो सकता।' भारती की इस कोमल चित्तवृत्ति के साथ-साथ मानवता के प्रति उसकी असीम श्रद्धा घनिष्ठ भाव से निबद्ध है। वह मनुष्य को सबसे महान् मानती है; उससे ऊपर कुछ भी नहीं। इसीलिए डॉक्टर आदमी को जब जानवर कहकर सम्बोधित करते हैं, तो वह इसका तीव्र विरोध करती है। उसका कहना है—'कारखानों के मजदूर-मिस्त्रियों की हालत तो मैं अपनी आँखों से देख आयी हूँ। उनका पाप, उनकी कुशिक्षा, उनकी पशु-जैसी अवस्था—इनमें से किसी का भी रंच-मात्र प्रतिकार अगर जिन्दगी भर में कर सकी, तो उससे बढ़कर सार्थकता और क्या हो सकती है!' मानवता के भविष्य में अत्यधिक आशावादी होते हुए वह आगे कहती है—'आदमी की सारी की सारी खोज अभी खत्म नहीं हो गयी है। एक के मंगल के लिए दूसरे का अमंगल करना ही होगा, इसे मैं किसी भी तरह चरम सत्य नहीं मान सकती—तुम्हारे कहने पर भी नहीं।'

भारती का हृदय अत्यन्त कोमल, उदार एवं मानवता का प्रेमी है। उसके हृदय में राष्ट्रीयता घर कर गयी है, परन्तु उसकी इस राष्ट्रीयता के बावजूद उसके मन में किसी जाति या मत के प्रति विद्वेष की भावना नहीं है। राष्ट्रीयता के ऊपर भी मानवता का आदर्श उसके लिए अधिक ग्राह्य है। इसीलिए सारी जाति के विरुद्ध किसी का भी विद्वेष उसे अत्यन्त व्यथित कर देता है। जब सव्यसाची सारी अँगरेज़ जाति की अत्यन्त कटु शब्दों में निन्दा करने लगते हैं, तो भारती के लिए यह असह्य हो उठता है। उसके विशाल हृदय में इस प्रकार की संकीर्णताओं और संकुचित वृत्तियों के लिए कोई स्थान नहीं। उसके निकट 'देश' से भी बढ़कर 'मनुष्य' है, और उसी के शब्दों में 'मनुष्य के साथ मनुष्य क्या किसी भी तरह मित्रता नहीं कर सकता?' एक ओर वह अँगरेज शोषकों को भारत से निकालना चाहती है, पर दूसरी ओर वह इस विदेशी जाति द्वारा किये गये उपकारों को भुला भी नहीं देती। इस प्रकार भारती का निरपेक्ष एवं निष्पक्ष विचारक रूप सचमुच ही महिमामय हो उठता है। सव्यसाची के सम्मुख उसे चेतावनी-सी देती हुई वह कहती है—'हृदय में इतना विद्वेष भरकर तुम अँगरेजों का नुकसान शायद कर भी सको, पर उससे भारतवासियों का कल्याण नहीं होगा, यह निश्चय समझ लेना।' भारती के इस प्रकार के मानसिक संस्थान में किसी भी असत् प्रवृत्ति का एकाएक प्रवेश नहीं हो सकता, यह हमें स्पष्ट दिखाई देता है। 'अधिकार समिति' के षड्यन्त्र की भाप में उसका दम घुटने लगता है, यह वह स्वयं बताती है। सेक्रेटरी होते हुए भी उसकी कार्य-पद्धति पर उसे ज़रा भी श्रद्धा

नहीं। वह स्पष्ट कहती है—'यह एक दिन के लिए भी मैंने कभी नहीं सोचा था कि तुम्हारी अधिकार-समिति का मार्ग इतना बड़ा पाप का मार्ग है···। मैं निश्चय जानती हूँ, तुम्हारे इस दयाहीन, निष्ठुर, ध्वंस के मार्ग से कल्याण हरगिज़ नहीं हो सकता। मेरा जो स्नेह का मार्ग है, मेरा जो करुणा का मार्ग है, मेरा जो धर्म-विश्वास का मार्ग है—वही मार्ग मेरे लिए श्रेय है, वही मार्ग मेरे लिए सत्य है।' इन शब्दों में, ऐसा जान पड़ता है, मानो भारती का सारा व्यक्तित्व उतर आया हो। प्रतिहिंसा में उसका विश्वास नहीं, हिंसा में उसकी आस्था नहीं! 'धर्म और शान्ति का मन्त्र' ही उसके निकट ग्राह्य है और उसकी प्रतिष्ठा की उसे आशा भी है।

उक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि भारती का निष्कलुष व्यक्तित्व जीवन के महान् आदर्शों से प्रेरित है। वह उन सभी वस्तुओं को चाहती है, जो अपनी प्रकृति में शुभ हैं। नैतिकता की दृष्टि से, क्रिश्चियन होते हुए भी वह परम वैष्णव है। यहाँ तक कि वह अपने अग्रज-सदृश सव्यसाची के साथ रात में अकेले रहते हुए संकोच का अनुभव करती है। शशि और नवतारा के विवाह का वह विरोध करती है, क्योंकि वह उसके संस्कारों के विपरीत है। इस प्रकार वह नर-नारी के पारस्परिक सम्बन्ध को एक पवित्रता देना चाहती है, मुक्त भोग का रूप नहीं। भारतीय संस्कारों और संस्कृति की वह हामी है। उसका नैतिक धरातल बहुत ऊँचा है। सव्यसाची से वह कहती है—'नर-नारी का प्रेम क्या तुम्हारे समान सभी के लिए मज़ाक़ का विषय है भैया, जो ताश की हार-जीत के समान इसकी हार-जीत में भी अट्टहास करने के सिवा तुम्हें और कुछ नहीं सूझता?' वस्तुतः वह ऐसे सभी स्थलों पर सव्यसाची का विरोध करती है, जहाँ उसके मानव-जीवन के महान् आदर्शों के विरुद्ध कोई बात कही जाती है। डॉक्टर द्वारा सत्यासत्य की दी गयी परिभाषा उसके निकट ग्राह्य नहीं। समस्त अँगरेज़ जाति के प्रति विद्वेष, सारी प्राचीन संस्कृति का विरोध—ये कुछ ऐसी बातें हैं, जहाँ वह अपने श्रद्धेय 'भैया' से अलग अपना स्वतन्त्र मत रखती है। प्राचीनता के पक्ष में वह कहती है—'कोई एक संस्कार या रीति-नीति सिर्फ़ प्राचीन होने के कारण ही क्या निष्फल, वृथा और त्याज्य हो जाती है? तो मनुष्य बिना किसी संशय के दृढ़ता के साथ खड़ा काहे पर रहेगा, भैया?'

भारती का व्यक्तित्व अपने-आप में अत्यन्त कोमल-सजल होते हुए भी पर्याप्त रूप से बुद्धिवादी है। उसकी तर्कशैली अत्यन्त प्रखर एवं सुलझी हुई है। अपने विचारों को वह एक निखरे हुए रूप में श्रोता के सम्मुख रखती है और उसकी अभिव्यक्ति-प्रणाली इतनी मार्मिक है कि विरोधी पक्ष को उसकी बातें बहुत ध्यान से सुननी पड़ती हैं। तर्कों में वह हठधर्मी कहीं नहीं होती; उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति उसके गहन चिन्तन की सूचक है। उसके इन्हीं गुणों के कारण

पारस्परिक विवाद में सव्यसाची को भारती से स्थान-स्थान पर दबना पड़ता है। अपूर्व को अधिकार-समिति का उद्देश्य समझाते हुए वह कहती है—'हम सभी राहगीर हैं, पथिक हैं। मनुष्य को मनुष्यता की राह पर चलने के सब तरह के दावे या अधिकार मानते हुए हम समस्त बाधा-विघ्नों को रौंदते हुए चलेंगे। हमारे बाद जो लोग आएँगे; वे बिना किसी उपद्रव के चल सकें, उनकी अबाध गति को कोई रोक न सके, यही हम लोगों का प्रण है। आएँगे आप हमारे दल में?' भारती के इन वाक्यों में वह शक्ति है, जो बड़े-बड़े नेताओं के लम्बे और ऊबाने वाले भाषणों में नहीं होती। यही नहीं, उसके सारे कथोपकथनों के पीछे कोई एक ऐसी आस्था बोलती है, जिसके कारण उसके श्रोताओं को उसके सम्मुख झुकना पड़ता है। पति के कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में वह अपूर्व से कहती है—'आपकी निष्ठुरता के बदले जितना ही वह अपना कर्त्तव्य-पालन करेगी; उतने ही आप उसकी दृष्टि में छोटे होते जाएँगे। और, स्त्री की दृष्टि में अश्रद्धेय और हीन होने से बढ़कर दुर्भाग्य संसार में और है ही नहीं, अपूर्व बाबू।' भारती की विश्लेषण-प्रियता और बौद्धिकता के और भी बहुत से उदाहरण उपन्यास में स्थान-स्थान पर मिल सकते हैं। वस्तुतः उसका प्रत्येक कथन उसकी मानसिक प्रौढ़ता का परिचायक है।

भारती के व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषता है, उसकी सर्वतोमुखी सहिष्णुता। वह इस बात का निरन्तर ध्यान रखती है कि कहीं उसके किसी कार्य से कोई रुष्ट या असन्तुष्ट न हो जाय। तिवारी की अत्यन्त स्नेह-भाजन होने पर भी 'वह न तो उसके रसोईघर में जाती थी और न कोई चीज ही छूती थी।' सब को प्रसन्न देखना ही उसका जीवन में एकमात्र उद्देश्य जान पड़ता है। इसीलिए दूसरों की सुविधा के लिए वह सदैव चिन्तित रहती है। अपूर्व की तो छोटी-से-छोटी बात का उसे ध्यान है। जीवन के अनेक छोटे-बड़े कष्टों के प्रति सहिष्णु होकर भारती ने आदर्श गृहिणीत्व प्राप्त किया है; उसका अन्दाज हमें तभी लग सकता है, जब हम उसकी माता-पिता की मृत्यु के उपरान्त असहाय अवस्था की मनोयोगपूर्वक कल्पना करें। उपन्यासकार ने उसके इस जीवन पर विशेष प्रकाश नहीं डाला है, पाठकों की बोधगम्यता पर छोड़ दिया है। परन्तु उसकी सहनशीलता का आभास हमें उसके व्यक्तित्व के प्रायः सभी रूपों में मिलता है।

अधिकतर लोग दूसरों की विचारधारा के प्रति अनुदार होते हैं; किन्तु भारती इस क्षेत्र में भी उदार एवं सहिष्णु है। वह सबके मतों का आदर करती है, भले ही वह उनका विरोध करती हो। प्राचीनतम परम्पराओं से लेकर नवीनतम आचारों का वह अध्ययन करती है। और बड़ी ही सहृदयतापूर्वक वह उन पर अपना मत देती है। सव्यसाची द्वारा देश के राजनीतिज्ञों पर लगाये गये आक्षेपों का वह दृढ़तापूर्वक उत्तर देती है। यही नहीं, वह बड़े स्पष्ट शब्दों में यह भी कह देती है—'मत और मार्ग अलग होने से किसी पर व्यंग्य कसना शोभा

नहीं देता।'

भारती के चरित्र के उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि नारी-जीवन की अत्यन्त उदात्त भावनाओं का समाहार उसके व्यक्तित्व में हुआ है। तीखी-से-तीखी बौद्धिकता एवं सरल-से-सरल मनोवेग दोनों ही उसके जीवन में समान रूप से सहज हैं। पर इसे चाहे नियति का व्यंग्य कहिए या प्रणय की अद्भुत शक्ति कि इतने महिमामय व्यक्तित्व का स्नेह अपूर्व जैसे सरल एवं निरीह (या मुग्ध ?) प्राणी पर केन्द्रित हुआ, किन्तु इन दोनों हृदयों के मिलन का प्रमुख कारण सम्भवतः दोनों की निश्छलता है।

भारती अपूर्व को उसकी सारी अच्छाइयों तथा बुराइयों के साथ प्यार करती है। कथा के प्रारम्भ में शरत् बाबू ने भारती का अपूर्व के प्रति जो विचित्र एवं अस्थिर आचरण दिखाया है, वह मनोविज्ञान के गूढ़ तत्त्वों पर आधारित है। कहीं अपूर्व के सम्मुख भारती अपना आत्माभिमान प्रदर्शित करती है और कहीं आत्मसमर्पण, परन्तु उसके कहीं-कहीं विरोधी लगने वाले व्यवहारों में भी आत्मीयता सर्वत्र समान रूप से दिखाई देती है। अपूर्व के छोटे-से-छोटे कार्यों को वह स्वयं करती है या किसी से करवा देती है, और इसीलिए प्रारम्भ में ही वह अपूर्व के विश्वास को अपना लेती है। अपूर्व मानो उसके नियन्त्रण को चुपचाप स्वीकार कर लेता है, और भारती एक प्रकार से उसकी स्थानीय रक्षक बन जाती है। कहीं-कहीं तो अपूर्व को स्पष्ट रूप से भान होता है कि उसके लिए इतना सब कुछ माँ के सिवा और कोई नहीं करता। मगर जब कभी भारती खीझ उठती है तो अपूर्व को कहना पड़ता है कि उसको तो समझना ही मुश्किल है, परन्तु इन सब बातों के बावजूद यह 'कड़ी लड़की' भारती अपूर्व से प्रेम करने लगी है, इस तथ्य को वह स्वयं जानती है। इसीलिए वह अपूर्व के सम्मुख विशेष संकोच का आचरण नहीं करती, यद्यपि अग्रज-सदृश सव्यसाची के साथ अकेले रात्रि व्यतीत करने में उसे आपत्ति होती है।

धीरे-धीरे भारती अपूर्व की सारी जिम्मेदारी अपने सिर ले लेती है। और इसे चाहे पूर्व संस्कारों का स्नेह कहिए या साहचर्यजनित मोह, जिसके कारण 'आपद्-विपद् में उसके लिए इतनी बड़ी निःसंशय, निर्भर जगह इस प्रदेश में और कहीं नहीं है', इस सत्य को स्वतःसिद्ध की भाँति अपूर्व के हृदय ने हमेशा के लिए स्वीकार कर लिया है, यद्यपि भारती स्वयं इस स्नेह-सम्बन्ध को विधाता-द्वारा दिया हुआ मानती है। अपूर्व से वह कहती है—'भगवान् ही बोझ लाद दें, तो शिकायत किसके विरुद्ध की जाय, बताइए ?···बुला लाये डॉक्टर बाबू, और अब झंझट उठाना पड़ रहा है मुझे। मुझे तो डर है कि जिन्दगी भर मुझको ही आपका बोझा न ढोना पड़े ?' इनना ही नहीं भारती का दृढ़ विश्वास है कि ईसाई की लड़की होने पर भी अपूर्व को कभी-न-कभी उसके हाथ का बनाया हुआ

खाना खाना पड़ेगा । वह अपने अन्तरतम की इच्छा को व्यक्त करती है—"स्वभाव तो मेरा जाएगा नहीं अपूर्व बाबू, कोई काम तो चाहिए ही । लेकिन आप जैसे अनाड़ी के ऊपर अगर सरदारी पा जाऊँ, तो और सब काम छोड़-छाड़ दूँ ।"

केवल एक स्थान पर भारती और अपूर्व के प्रेम में व्याघात पड़ता है। वह तब जब अपूर्व सव्यसाची और अधिकार समिति की बुराई करता है और कुछ समय बाद अधिकार-समिति के गुप्त भेदों को उद्घाटित कर देता है । इस समय भारती के सम्मुख दो रास्ते हैं : या तो वह अपने प्रेम के सम्मुख देश-सेवा एवं कर्त्तव्य के सिद्धान्तों की बलि दे, या वह अपने इन उच्च आदर्शों के लिए अपने प्रथम यौवन के रागात्मक उभार को असमय ही नष्ट कर दे, परन्तु वह इन दोनों के बीच से एक ऐसा मध्यम मार्ग चुनती है, जो इन दोनों से अधिक कठिन एवं अधिक महान् है । वह अपने प्रेम की भी रक्षा करना चाहती है, एवं अपने सिद्धान्तों की भी । और इन दोनों के लिए वह अपने प्रियमिलन-जन्य सुख का त्याग करने को प्रस्तुत हो जाती है। अपूर्व से वह कहती है—'आपकी बात ही सच है, अधिकार-समिति में आपके लिए स्थान नहीं होगा । भविष्य में फिर कभी किसी भी बहाने मेरे पास आने की कोशिश न कीजिएगा ।' इस समय कितने बड़े आत्मोत्सर्ग का पर्व भारती के सम्मुख आ उपस्थित हुआ है, इसे सहृदय जन भलीभाँति जान सकते हैं ।

अधिकार-समिति के प्रति अपूर्व का द्रोह देखकर भारती का मन ग्लानि से भर उठता है । उसे इस बात का क्षोभ होता है कि क्यों वह एक ऐसे दुर्बल व्यक्ति को अपना हृदय दे बैठी । प्रेमी के सम्मुख मानसिक दौर्बल्य की यह कदाचित् तीव्रतम स्थिति होती है । पर भारती को हम इस स्थिति में भी अत्यन्त दृढ़ एवं स्थिर पाते हैं ।

सारी अच्छाइयों-बुराइयों के बावजूद भारती अपूर्व को प्यार करती है । नर-नारी के प्रेम की महत्ता को वह भलीभाँति जानती है । इसीलिए जहाँ वह एक ओर अपने अपरिहार्य, दुर्दमनीय प्रेम के लिए पश्चात्ताप करती है—यह कह कर कि "मैं किस अभागे के चरणों में अपना सर्वस्व विसर्जन किये बैठी हूँ", तथा अपूर्व को 'क्षुद्र, लोभी, संकीर्ण-हृदय तथा डरपोक' जैसे विशेषणों के साथ संयुक्त करती है, वहीं उसे अपने इस प्रणय-व्यवहार से सन्तोष भी है । सव्यसाची के सम्मुख प्रथम बार अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में इस प्रेम-सम्बन्ध का प्रकाशन करते हुए वह कहती है—'अपूर्व बाबू भी तो मुझसे प्रेम नहीं कर सके, मगर मैं तो कर सकती हूँ ··भैया, इस विश्वविधान के प्रभु अगर कोई हों, तो उन्हें नारी-हृदय के इतने बड़े प्रेम का ऋण चुकाने के लिए अपूर्व बाबू को उसके हाथ सौंपना ही पड़ेगा ।' पर यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि भारती के इस प्रेम की पृष्ठभूमि में ऐन्द्रिकता का

लेश भी नहीं है। वासना से यह प्रेम उत्पन्न नहीं हुआ है। यदि भारती अपूर्व को पा सकती, तो उसका जीवन धन्य हो जाता; किन्तु यदि उनकी स्त्री होकर वह घर-गृहस्थी नहीं कर पाती, तो इसका मतलब यह नहीं कि उसका जीवन व्यर्थ हो गया। इस प्रकार भारती का यह प्रणय मात्र परिणय का साधन नहीं है, वरन् वह स्वयं अपने-आपमें साध्य है। उसे किसी अन्य सार्थकता की अपेक्षा नहीं। जैसाकि भारती स्वयं एक स्थान पर कहती है, उसकी आन्तरिक इच्छा केवल अपूर्व को अपनी आँखों के सामने रखने की है। जहाँ उसकी इस व्यवस्था में अपूर्व कुछ व्याघात उत्पन्न करना चाहता है, वहीं वह उसे जहर खाने की धमकी देती है।

भारती के मन में सव्यसाची के प्रति अटूट श्रद्धा है। परिचय देकर वह उन्हें छोटा नहीं करना चाहती। वह सव्यसाची को अग्रज-सदृश सम्मान देती है, और सव्यसाची भी उसे 'वहना' जैसे दुलार से भरे हुए सम्बोधन का पात्र बनाते हैं। बहिन के समान ही वह सदैव उनकी रक्षा के लिए चिन्तित रहती है—प्राण देकर भी उन्हें बचा लेना चाहती है।

भारती और सव्यसाची की घनिष्ठता को देखकर सुमित्रा के मन में शंका उत्पन्न होती है, परन्तु जब वह इन दोनों के निर्मल स्नेह का स्वरूप देखती है, तो उसे अपने विचारों के लिए पश्चात्ताप होता है। जब सव्यसाची सिंगापुर जाने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं, तो भारती के मन में शोक का सागर उमड़ पड़ता है, वह सहसा रोने लगती है। भारती और सव्यसाची का यह स्नेह-सम्बन्ध सचमुच ही स्पृहणीय है। इन दोनों महिमामय व्यक्तित्वों के बीच भाई-बहिन का यह रिश्ता ज़िन्दगी की वीरानगी में सघन कुंज के समान है। व्यर्थ के ढोंगों के विरुद्ध परन्तु आचरणशील; चट्टान से भी अधिक दृढ़, किन्तु गुलाब से अधिक कोमल; राग के सागर में आकण्ठ डूबी हुई, किन्तु फिर भी निष्काम—ऐसी है 'पथेर दावी' की भारती, जिसका चरित्र बहुत ही उज्ज्वल है। कष्ट-सहिष्णुता एवं धैर्य-शालीनता एवं सरलता की प्रतिमूर्ति भारती शरत् के नारी-समाज में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

भारती के उपरान्त दूसरा प्रमुख नारी-चरित्र 'पथेर दावी' में सुमित्रा का है। इस विदुषी रमणी का चरित्र उपन्यास में अपेक्षाकृत कम अंकित हुआ है, पर है अत्यन्त प्रभावोत्पादक। उसका रूप आश्चर्यजनक है, कहीं भी कोई कमी नहीं। अपूर्व उसे देखते ही ताड़ जाता है कि नारी के द्वारा अगर किसी समिति का संचालन हो सकता है, तो वह यही होनी चाहिए। ऐसा जान पड़ता है, मानो शासन करने के लिए ही उसका जन्म हुआ हो। उसके मुख से निकला हुआ प्रथम वाक्य इस प्रकार है—'मनोहर बाबू, आप कोई कच्चे वकील नहीं हैं। आपका तर्क अगर असम्बद्ध हुआ, तो मैं मीमांसा नहीं कर सकूँगी।' अनुपम रूप-वर्णन की

पृष्ठभूमि में ये शब्द पाठक के मन पर गहराई के साथ चोट करते हैं। वह समझ जाता है कि इस बार नारी का जो रूप उसके सम्मुख आ रहा है, वह साधारण नहीं है। उपन्यासकार के शब्दों में—'उसके स्वल्प भाषण से, उसके प्रखर सौन्दर्य के प्रत्येक पदक्षेप से, उसके संयत गम्भीरवार्त्तालाप से, उसके अचंचल आचरण की गम्भीरता से, इस दल में रहते हुए भी उसके दूरत्व को सब भीतर-ही-भीतर अनुभव करते थे।'

सुमित्रा के व्यक्तित्व का एक पहलू उपन्यास में अपेक्षाकृत अधिक उभर कर आया है और वह है उसकी निष्ठुरता। उसका इतिहास भारती को बताते हुए डॉक्टरकहते हैं—'संसार में ऐसा कोई काम नहीं, जो वह न कर सकती हो। इक्कीस साल के तमाम संस्कारों को जो एक दिन में धो-पोंछकर साफ़ कर सकती है, उससे मैं डरता हूँ। लेकिन है बड़ी निष्ठुर।' जिस व्यक्ति को डॉक्टर 'निष्ठुर' कह सकते हैं, उसकी निष्ठुरता सिद्ध करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं। सचमुच सुमित्रा के अक्षत रूप ने उसे सबकी पहुँच से दूर—निष्ठुर और निर्मम बना रखा है। आगे चलकर सुमित्रा के व्यक्तित्व का वर्णन करते हुए उपन्यासकार कहता है—'सुमित्रा को मित्र के रूप में समझ लेने का दुःसाहस किसी भी स्त्री के लिए सहज नहीं—भारती भी उससे प्रेम नहीं कर सकी, परन्तु यह मानकर कि सब विषयों में वह असाधारण श्रेष्ठ है, उसने उसे अपने हृदय की भक्ति अर्पित की थी; मगर उस दिन अपूर्व का चाहे जितना बड़ा अपराध क्यों न हो, नारी होकर इतनी आसानी से उसकी हत्या करने का आदेश देने से उसकी भक्ति असीम भय में परिणत हो गयी थी—बलि का पशु जैसे खून-सने खड्ग के सामने डर जाता है, उसी तरह।' भारती के ही समान 'पथेर दावी' के अनेक पाठकों की प्रतिक्रिया सुमित्रा के सम्बन्ध में इसी प्रकार की हुई होगी, ऐसा सोचना नितान्त स्वाभाविक है।

सुमित्रा की कर्त्तव्यपरायणता एवं निर्ममता पर विचार करते हुए भारत सोचती है, 'जिनके लिए अपने जीवन का मूल्य नहीं, राजद्वार में कानूनन जिनके प्राण ज़ब्त हो चुके हैं, वे इस पर कैसे निर्भर करते?' उसके जन्म, उसकी शिक्षा, उसके कैशोर और यौवन का विचित्र इतिहास, उसकी अनासक्ति की अनतिवर्तनीय दृढ़ संसक्ति, उसका कर्त्तव्य-ज्ञान, उसका पाषाण हृदय—इन सबमें भारत को मानो एक तरह की संगति दिखाई देने लगती है। उसे मालूम होता है, स्नेह और करुणा के नाम सुमित्रा से कुछ चाहने और भीख माँगने के समान मज़ाक़ दुनिया में और कुछ नहीं।

निष्ठुरता के अतिरिक्त सुमित्रा के व्यक्तित्व में सर्वत्र एक गहरी रहस्यमयता की छाप है, जिसमें से कहीं-कहीं उसका डॉक्टर के प्रति मौन प्रणय अवश्य झलक जाता है। उपन्यासकार के शब्दों में—'ज्यादा बातचीत करने की उसकी

प्रकृति ही नहीं। एक स्वाभाविक और शान्त गाम्भीर्य के साथ वह हमेशा सबसे व्यवधान रखकर चलती है।' यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उसका यह व्यवधान रखकर चलना ही उसे इतना रहस्यमय बनाता है। किसी से अधिक आँख मिलाकर बात करना उसे पसन्द नहीं। वाद-विवादों के बीच वह प्रायः नीचे को निगाह किये मूर्त्ति की तरह स्थिर बैठी रहती है।

सुमित्रा की विचारधारा एकदम सुझली हुई एवं स्पष्ट है। वह जो कुछ कहती है, वह सब काफ़ी सोच-समझकर। देश-सेवा उसके निकट जीवन का सबसे बड़ा आदर्श है। अपनी मित्र की पत्नी नवतारा को 'अधिकार समिति' से वापस ले जाने के लिए आये हुए मनोहर बाबू से वह कहती है—'स्त्री पति के साथ नहीं रहना चाहती, देश की सेवा करना चाहती है: इसमें अन्याय की तो कोई बात नहीं दिखाई देती!' आगे चलकर वह अपूर्व से भी अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहती है—'देश से बढ़कर मेरे लिए और कुछ भी नहीं है।'

किरणमयी और अभया के समान सुमित्रा भी मूलतः विद्रोहिणी है। नारी के ऊपर पुरुष के एकछत्र अधिकार का वह तीव्र विरोध करती है। सुमित्रा प्रेम की स्वाभाविक गति को अधिक श्रेयस्कर मानती है। नर-नारी के मन का अनुराग अपने प्राकृतिक रूप में बहे, यही उसकी धारणा है। अपूर्व से वह कहती है—'समाज और वंश के नाम पर व्यक्तियों को अब तक बलि किया जा रहा है, पर फल उसका अच्छा नहीं हुआ। आज वह नहीं चल सकता। प्रेम की सबसे बड़ी आवश्यकता उत्तर-पुरुष के लिए न होती, तो ऐसे जबरदस्त स्नेह की व्यवस्था उसके अन्दर टिक ही नहीं सकती थी। विवाहित जीवन के इस व्यर्थ मोह की माया से नारी को अलग होना ही पड़ेगा। उसे समझना ही होगा कि इसमें उसके लिए लज्जा की बात है, गौरव की नहीं।'

स्पष्ट है कि सुमित्रा का चरित्र जहाँ एक ओर 'चरित्रहीन' की किरणमयी और 'श्रीकान्त' की अभया का अधिक व्यवस्थित, संयमित और विकसित तथा प्रौढ़ रूप है, वहीं वह आगे आने वाली 'शेष प्रश्न' की कमला का पूर्व रूप भी है। सुमित्रा के कई वाक्य तो प्रायः ज्यों-के-त्यों उठाकर लेखक ने कमल के मुख में रख दिये हैं। इस प्रकार के दो वाक्य यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—"किसी बात को बहुत दिनों से बहुत से आदमी कहते चले आये हों, तो इतने ही से वह सच्ची नहीं हो जाती" और "जिस समाज में केवल 'पुत्रार्थे' ही भार्या ग्रहण करने की विधि है, नारी होने के कारण उस विधि को तो मैं श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देख सकती।" ठीक यही भावनाएँ शब्दों के कुछ हेर-फेर के साथ 'शेष प्रश्न' की कमला ने भी व्यक्त की हैं।

यहाँ स्मरणीय है कि उच्चकोटि की विचारक एवं तार्किक होते हुए भी सुमित्रा वाद-विवाद के बीच कभी उत्तेजित नहीं होती। तीखी-से-तीखी बातों को

भी वह अत्यन्त शान्तिपूर्वक सुनती है। मनोहर के वीभत्स व्यंग्य से उसके चेहरे पर चांचल्य नहीं दिखाई देता। वह केवल इतना ही कहती है—'मनोहर बाबू, हमारी समिति में संयत भाव से बात करने का नियम है।' उसकी सतत वर्तमान रहने वाली शालीनता से स्पष्ट जान पड़ता है कि वह इन साधारण जनों से इतनी ऊँची है कि वहाँ तक उनकी अवमानना नहीं पहुँच सकती।

सुमित्रा के विद्रोह की पृष्ठभूमि में हमें दो बातें दिखाई देती हैं। एक तो उसका गत जीवन इतना अव्यवस्थित रहा है कि अब वह शान्ति के बारे में कदाचित् ठीक तरह से सोच ही नहीं सकती। उसका प्रथम यौवन जिस लज्जा और दुराचरण की छाया में बीता है, उसकी याद ने उसके मन में जैसे विद्रोह भर दिया हो। दूसरा कारण कदाचित् उसका असमर्पित यौवन है। सुमित्रा के शरीर से फूट-फूटकर निकलने वाला रूप अपने आप में सार्थक नहीं है। उसके यौवन की अंजलि अभी तक अस्वीकृत ही है। सव्यसाची ने उसके समर्पण को ग्रहण नहीं किया; प्रणय की इस निराशा ने भी उसके मन को विद्रोही बनाया है। अब तो वह समाज की व्यवस्था में आमूल परिवर्तन चाहती है। अपूर्व के आक्षेपों का उत्तर देते हुए वह कहती है—'अशान्ति और विद्रोह के मानी तो अकल्याण नहीं है, अपूर्व बाबू! जो रोगी है, कमज़ोर है, जिसके झुर्रियाँ पड़ रही हैं, वही तो अपने को उत्कण्ठित सावधानी के साथ बचाता रहता है कि किसी तरफ़ से उसे धक्का न लग जाय। रात-दिन क्षण-क्षण इसी डर से वह सूखकर काँटा होता जाता है, ज़रा से हिलने-डुलने में ही उसकी चुटकियों में जान आ जाती है। और अगर समाज की ऐसी ही हालत हो गयी हो, तो हो जाने दीजिए, इस पार कि उस पार।' इन पंक्तियों में वह अत्यन्त प्रबल, परन्तु संयमित ढंग से अपनी क्रान्तिप्रियता को व्यक्त कर देती है।

'अधिकार-समिति' के प्रति सुमित्रा अपने सारे कर्त्तव्यों को बड़े मनोयोग से पूरा करती है। अस्वस्थ होने पर भी वह समिति के तत्त्वावधान में होने वाली वृहत् सभा का संचालन करती है। वस्तुतः यह 'कर्त्तव्य कठोर अशेष-बुद्धिशालिनी अधिकार-समिति की भयशून्य तेजस्विनी सभानेत्री' अपनी रागात्मक वृत्तियों को दो स्थानों पर अभिव्यक्ति दे सकी है। इन दो साझीदारों में एक संस्था है—अधिकार-समिति, जो उसकी देशप्रियता से सम्बद्ध है, एवं दूसरा व्यक्ति है—सव्यसाची। इन दो के अतिरिक्त कदाचित् किसी भी तीसरी वस्तु को सुमित्रा अपना नहीं सकी। उसके अन्तर के कोमलतम भाग केवल इन्हीं दो के लिए सुरक्षित रह गये।

हाड़-मांस के बने व्यक्तियों में सुमित्रा केवल सव्यसाची से प्रेम कर सकी है। यह दूसरी बात है कि उसे अपने प्रेम का पूर्ण प्रतिदान न मिला हो। अपने मुक़दमे से छुटकारा पाकर भी सुमित्रा ने डॉक्टर को छुटकारा नहीं दिया था।

इसके बाद वह विभिन्न और बदलती हुई परिस्थितियों में भी डॉक्टर के प्रभाव से मुक्त न हो सकी। कई बार अधिकार समिति के नियमों को लेकर उसका सव्यसाची से मतभेद हुआ, पर इसके बावजूद उसके अन्तरतम का प्रणय पूर्ववत् रहा। भारती और सव्यसाची की घनिष्ठता ने भी उसके प्रेम में ईर्ष्या का भाव भरा था, परन्तु इससे उसकी मौलिक वृत्तियों में कोई अन्तर नहीं आया। सव्यसाची की हितचिन्ता उसके लिए सबसे ऊपर रही।

परन्तु इतने पर भी सुमित्रा की रागात्मिका वृत्ति अपूर्व रही है। डॉक्टर को देश-सेवा के कर्मठ जीवन से इतना अवकाश ही न मिला कि वे सुमित्रा से कभी प्रेम की दो बातें करके उसके मन को सान्त्वना दे सकें। फिर भी यह कठोर रमणी सव्यसाची से अपने बारे में कुछ सुनने के लिए सदैव उत्सुक रहती है। और, पूरे कथा-भाग में जहाँ कहीं सव्यसाची ने सुमित्रा के सम्बन्ध में कुछ भी अपनाव की ओर इंगित किया है, वहीं मानो उसका सारा नारी-जीवन धन्य हो उठा है, परन्तु ऐसे स्थल तो एक-आध ही हैं। भारती से सुमित्रा कहती है—'यही इनका यथार्थ स्वरूप है। दया नहीं, ममता नहीं, धर्म नहीं—इस पाषाण मूर्ति को मैं पहचानती हूँ भारती!' इन पंक्तियों में उस कठोर रमणी का उपेक्षित प्रेम बोल रहा है, जो जाने या अनजाने अपने से भी कठोर पुरुष को अपना हृदय दे चुकी है। अन्ततोगत्वा सव्यसाची विघ्न-बाधाओं से भरे सिंगापुर की ओर चल देते हैं, और सुमित्रा उपायहीन वेदना से भरा हुआ हृदय लेकर रह जाती है। वह डॉक्टर को जाने से रोकती है; पर उसके सारे प्रयत्न निष्फल जाते हैं। वह शोक के मारे पागल-सी हो जाती है और उस पानी तथा तूफ़ान के मौसम में उसकी वर्षों से संचित अश्रु-राशि झर-झर झरने लगती है। उस माया-ममताहीन हृदय से उसे अपने लिए कुछ भी नहीं मिला। डॉक्टर से वह श्रद्धा और प्रशंसा अवश्य पा सकी, परन्तु प्रेम की भूखी रमणी का इससे क्या सम्बन्ध! अपूर्व से कभी डॉक्टरने कहा था—'परन्तु सुमित्रा पर विश्वास कीजिएगा। विश्वास करने की इतनी बड़ी ऊँची जगह आपको और कहीं न मिलेगी अपूर्व बाबू!' काश इस तथ्य को जानने के साथ, स्वयं डॉक्टर ऐसा कर भी सकते!

सुमित्रा का चरित्र असाधारण है। सव्यसाची का कहना है—'ऐसी स्त्री आप संसार में घूम आने पर भी कहीं न पाएँगे।' इस कथन में अतिशयोक्ति का कुछ अंश होने पर भी बहुत बड़ा सत्य है। सुमित्रा का चरित्र एक ऐसी रमणी का है, जिसकी मानसिक ग्रन्थियाँ उसकी बिलकुल अपनी हैं।

सुमित्रा का व्यक्तित्व सामान्य मानवीय आदर्शों के आधार पर बहुत उज्ज्वल प्रतीत नहीं होता। भारती के चरित्र के विरोधी होने के कारण भी ऐसा सम्भव है। उसका चरित्र उपन्यास की कथावस्तु को प्रभावित करते हुए भी अधिक अंकित नहीं हुआ है। कदाचित् इसी कारण उसका व्यक्तित्व इतना

रहस्यमय तथा प्रभावोत्पादक हो गया है।

भारती और सुमित्रा के प्रधान चरित्रों के अतिरिक्त उपन्यास में दो पार्श्व-चरित्र हैं—नवतारा और अपूर्व की माँ। नवतारा का चरित्र बहुत ही अधूरा अंकित हुआ है। उपन्यास के प्रारम्भिक परिच्छेदों से हमें केवल इतना ही ज्ञात हो पाता है कि देश-सेवा की भावना से प्रेरित होकर, अपने दुरांचारी पति को छोड़कर नवतारा 'अधिकार-समिति' की सदस्या बन गयी है। उसकी प्रशंसा करते हुए सुमित्रा बताती है—'नवतारा के हृदय है, जीवन है, साहस है—और जो सबसे बढ़कर है, वह धर्मज्ञान भी है···जिसे आप सतीत्व कहते हैं, उसे क़ायम रखना उसके लिए सहज होगा या नहीं, सो वे ही जानें।' परन्तु अपने पैरों पर खड़ी होने वाली, अपना दायित्व स्वयं लेने वाली इस नारी के बारे में सुमित्रा के उपर्युक्त कथन का पूर्वार्द्ध तो आगे चलकर असत्य ठहरता है और उत्तरार्द्ध की शंका सच जान पड़ती है। इसके बाद बहुत दूर तक नवतारा के बारे में कुछ भी नहीं सुनाई पड़ता। फिर एकाएक ज्ञात होता है कि वह भोले-भाले कवि शशि को विवाह का झूठा आश्वासन देकर, उसकी बहुत-सी सम्पत्ति लेकर, किसी अन्य व्यक्ति के साथ भाग गयी है। वस्तुतः नवतारा के चरित्र पर उपन्यासकार ने शायद जान-बूझकर विशेष प्रकाश नहीं डाला है। वह पाठक के लिए एक पहेली-सी बन जाती है। जो भी हो, उसका चरित्र बहुत औसत दर्जे का—शायद उससे भी कुछ नीचा है।

अपूर्व की माँ प्राचीन परम्पराओं में आस्था रखने वाली एवं सभी रूढ़ियों का आचरण करने वाली वृद्धा हैं, परन्तु वे अपने कठोर आचरणों से दूसरों को कष्ट नहीं देना चाहतीं। वे सिर्फ़ अपने ही आचार-विचार का, बिना किसी आडम्बर के, चुपचाप पालन किया करती हैं।' जो उनके मार्ग पर नहीं चलता, उसकी वे बुराई भी नहीं करतीं। अधिकांश प्राचीनाओं के समान असहिष्णु एवं कलहप्रिय वे नहीं हैं। उनकी बात को मानने वाला केवल अपूर्व है। अपने इस पुत्र पर माँ को गर्व भी है। करुणामयी बाहरी दृष्टि से यद्यपि पुराने ज़माने की हैं, फिर भी वे अत्यन्त बुद्धिमती हैं। प्रत्येक परिस्थिति को भली प्रकार समझ कर ही वे कार्य करती हैं। इसीलिए अपने प्राणाधिक प्रिय पुत्र अपूर्व की, आवश्यकता समझ कर वे विदेश भी भेज देती हैं। उनके संस्मरण भारती को बताता हुआ अपूर्व कहता है—'घर में दो बहुएँ हैं, फिर भी माँ को अपने हाथ से बना कर खाना पड़ता है। पर ऐसी माँ हैं कि कभी किसी पर ज़ोर-जबरदस्ती नहीं करतीं, किसी से इसके लिए शिकायत भी नहीं करतीं। कहती हैं, मैं भी तो अपने आचार-विचार को छोड़कर अपने पति की राय में अपनी राय नहीं मिला सकी, अब ये लोग भी मेरी राय में राय नहीं मिलातीं, तो इसमें शिकायत करना क्या ठीक है? मेरी बुद्धि और मेरे संस्कारों को मानकर ही बहुओं को चलना होगा, इसके क्या मानी हैं?'

दो विभिन्न संस्कृतियों के सन्धि-स्थल में एक वृद्धा की इतनी शान्ति और सहिष्णुता सचमुच सराहनीय है। और, तभी भारती-जैसी विदुषी इस अनजानी महिला के प्रति स्वतः अपनी श्रद्धा अर्पित करती है।

अपूर्व को करुणामयी के स्नेह का अधिकांश प्राप्त है। बहुत दिनों तक उसका समाचार प्राप्त न होने पर वे अपने सारे आचार-विचारों को भुलाकर विदेश के लिए चल देती हैं। और अपने पुत्र की इस खोज में ही उनका शरीरान्त हो जाता है।

भारती की महरी का उपन्यास में यत्र-तत्र उल्लेख है। उसका जितना भी वर्णन हमें प्राप्त है, उसके अनुसार हम केवल यही कह सकते हैं कि वह पर्याप्त स्नेहशील है। दूसरे के दुख-दर्द में वह सहायक होती है। अपने समुदाय के स्वभावानुकूल ही वह बाचाल अधिक है। एक ही बात को विभिन्न प्रकार से धारावाहिक रूप में कहना उसका विशेष कौशल है।

नव-विधान

'नव-विधान' शरत् बाबू के रचना-काल के उत्तरार्द्ध में प्रणीत एक लघु उपन्यास है। कथा-गठन की दृष्टि से यह लघु उपन्यास लेखक की श्रेष्ठ कृतियों में गिना जा सकता है। यहाँ बहुत छोटे-से 'कैनवस' में शरत् बाबू ने आधुनिक सतही जीवन-चर्या का सूक्ष्म विश्लेषण किया है, और बड़ी कुशलता से तज्जन्य बुराइयों पर प्रकाश डाला है। यही नहीं, रचनात्मक दृष्टिकोण से इस प्रकार की बुराइयों को दूर करने के लिए एक समानान्तर, परन्तु श्रेष्ठतर व्यवस्था को भी लेखक ने हमारे सामने रखा है। आज के जटिल सामाजिक जीवन में इस 'नॉव-लेट' का सामयिक महत्त्व है। प्राचीन परिपाटी को यथा-सुविधा अपने अनुकूल बनाकर चलना अधिक अच्छा और व्यावहारिक है, अपेक्षाकृत उस परिपाटी का आमूल उच्छेदन कर विदेशी परम्पराओं का सहारा लेने के—यही कदाचित् 'नव-विधान' की कथावस्तु का मूल सूत्र है।

'नव-विधान' की मूल कथा संक्षेप में इस प्रकार कही जा सकती है—शैलेश्वर अपने मित्र दिग्गज पण्डित के कहने पर अपना तीसरा विवाह न करके अपनी प्रथम परित्यक्ता पत्नी उषा को अपने पास कलकत्ते बुला लेते हैं। उषा का त्याग शैलेश्वर के स्वर्गवासी पिता इसलिए कर चुके थे, क्योंकि वह ग्रामीणा थी, एवं आधुनिक रहन-सहन से अनभिज्ञ थी। इस बार उषा ने पतिगृह में आकर वहाँ की सारी उखड़ी व्यवस्था ठीक की, फिजूल खर्च को बन्द किया और शैलेश्वर को सुख देने का प्रत्येक यत्न किया, परन्तु ऐसा बहुत दिनों तक न चल सका, क्योंकि शैलेश्वर की बहिन विभा, जो एक बैरिस्टर की पत्नी और पाश्चात्य जीवन-चर्या की अनुगामिनी थी, अपने भाई के घर में भारतीय परम्पराओं का पुनःस्थापन न सह सकी। कुछ विभा की असहिष्णुता से और कुछ स्वामी की उदासीनता से, उषा वापस अपने भाई के घर चली गयी।

उषा के घर छोड़ने के बाद शैलेश का मन उखड़ा-उखड़ा रहने लगा, क्योंकि ऊपर से क्रोध करते हुए भी वे उषा को मन-ही-मन प्यार करने लगे थे। अन्ततः वे अपने एकमात्र पुत्र सोमेन को लेकर इलाहाबाद चले गये, और वहाँ धार्मिक

रूढ़ियों को अपनाकर जीवन व्यतीत करने लगे। वापस कलकत्ता आने पर वे अपने गुरु और गुरु भाइयों को भी साथ लेते आये। अब वे सारे कर्त्तव्यों से उदासीन रहकर कोरी पूजा में व्यस्त रहने लगे। विभा और उसके पति भी उन्हें वैसा करने से रोक न सके, परन्तु तब स्नेह की अदृश्य शक्ति ने अपना कार्य किया, और उषा ने वापस कलकत्ता आकर उखड़ी हुई गृहस्थी को एक बार फिर से व्यवस्था दी। इस प्रकार पारिवारिक सौहार्द के उद्‌भव के साथ-साथ उपन्यास का अन्त हो जाता है।

वस्तुतः 'नव-विधान' की कथा उषा के जीवन की संवेदना से ही अनुप्राणित है। प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से वह सदैव उपन्यास के घटना-क्रम को प्रभावित करती रहती है। वैसे उपन्यास में कुल तीन नारी पात्र हैं—उषा, विभा और उमा। इनमें से भी उषा और विभा तो प्रमुख पात्र हैं, एवं उमा पार्श्व-चरित्र है। सबसे पहले हम उषा के चरित्र का विश्लेषण करेंगे।

उषा जब तक सशरीर कथानक में आकर उपस्थित नहीं हो जाती, तब तक हमें उसके बारे में विचित्र बातें सुनाई पड़ती हैं। स्वयं शैलेश्वर उसे 'पगली' कहते हैं, और उसके हितचिन्तक दिग्गज पण्डित को डराते हैं कि 'अगर वह सचमुच ही आ गयी तो फिर चाय पीने की आशा न रखना। वह गंगाजल और गोबर डालकर लीपने के साथ ही तुम लोगों को भी झाडू की झड़प से साफ़ करके छोड़ेगी।' और बेचारा शैलेश्वर भी क्या करे? उसे भी सदैव इसी प्रकार के समाचार मिलते रहते थे कि उसकी धर्मपत्नी भाइयों के परिवार में जप-तप, पूजा-पाठ, गंगाजल और गोबर के फेर में रहकर जीवन बिता रही है; उसकी 'शुचिबाई के पागलपन की सीमा तक पहुँच जाने से भाइयों के नाक में दम है, इत्यादि। यहाँ तक कि शैलेश्वर का ममेरा भाई भूतनाथ उषा को कलकत्ता लिवा लाने के प्रस्ताव पर कहता है, "नहर काटकर घर में मगर तो नहीं ला रहे हो?" परन्तु जब उषा सचमुच हमारे सम्मुख आ जाती है तो हमें उसके प्रथम दर्शन में ही ज्ञात हो जाता है कि न तो वह पगली है, और न नदी के मगर के साथ ही उसका कुछ सादृश्य है। उसके बारे में सुनी-सुनाई सारी बातें निर्मूल और भ्रामक सिद्ध होती हैं।

वस्तुतः उषा अपनी प्रकृति में मूलतः गृहिणी है। आजकल की अधिकांश पत्नियों की भाँति वह घर में अकेली ही नहीं रहना चाहती है। सबके साथ मिल-जुलकर जीवन व्यतीत करने की वह अभ्यस्त है। रूखी प्रकृति की विभा से वह कहती है, "मायके में भावजों के लड़के-बाले मेरे ही हाथ के पाले-पोसे हैं। कोई एक आदमी पास न रहने से मेरी जिन्दगी भार हो जाती है ननद जी!" घर-गृहस्थी के सारे आय-व्यय को अपनी आवश्यकतानुकूल बना लेना वह अच्छी तरह जानती है। यही नहीं, नित्यप्रति के सारे खर्च का ब्यौरे-वार हिसाब भी वह रखती

है। अनावश्यक व्यय को रोकने में वह बहुत चतुर है। घर के ऋण का अधिकांश चुकाने पर भी वह पति के एक महीने के वेतन में पूरा काम चला लेती है, जब कि उसके आने के पहले एक महीने का वेतन केवल पन्द्रह दिन ही चल पाता था। घर का 'बजट' बनाने में उसकी बुद्धिमत्ता देखते ही बनती है। ऋण के भार से दबे एवं घबराये हुए शैलेश्वर को आश्वासन देती हुई वह कहती है, "गिरस्ती का खर्च चलाने के लिए क़र्जा हो गया तो क्या उसे अदा न करना होगा? मगर चिन्ता की बात क्या है? इतनी मामूली रक़म चुकाते मुझे कै दिन लगेंगे?" यहाँ हमें स्पष्ट दिखाई देता है कि उषा के चरित्र में बुद्धिमत्ता के साथ-साथ आत्म-विश्वास की भी कोई कमी नहीं। अपनी योजना पर उसे सदैव विश्वास रहता है, और इसीलिए किसी भी कार्य में असफलताजन्य निराशा उससे दूर रहती है।

उषा के मितव्ययी होने का सबसे बड़ा प्रमाण-पत्र स्वयं शैलेश्वर देते हैं। क्षेत्रमोहन को अपनी सारी आर्थिक समस्या बताते हुए वे कहते हैं, "मैं तो जी गया भाई साहब! किसी से रुपया उधार लेने न जाना पड़ेगा अब! जो तनख़्वाह पाता हूँ वही मेरे लिए काफ़ी है—यह गिरस्ती की अर्थ-समस्या सुलझाने का सहज 'गुर' तुम्हारी सलहज का जाना हुआ था। उसी ने अपव्यय की जड़ उखाड़ फेंकने और उसे उजाड़ डालने के लिए अपने समर्थ होने का समाचार मुझे सुनाया है।" दलदल और कीचड़ में से किसी की बाँह पकड़कर बाहर सूखी भूमि पर आ पहुँचने का जो आनन्द होता है, कुछ उसी प्रकार का आनन्द, कुछ उसी प्रकार की राहत का अनुभव शैलेश्वर को इन शब्दों के कहते समय हुआ होगा! उषा की इस गार्हस्थिक कुशलता से प्रभावित होकर क्षेत्रमोहन बाबू कहते हैं, "आपके समान गृहलक्ष्मी के हाथ का किया सुघर काम देखकर मैं भी घर-गिरस्ती का कुछ काम-काज सीख लेना चाहता हूँ—जी चाहता है कि अपनी छोटी बहन को आपके पास कुछ दिनों के लिए छोड़ जाऊँ, जिसमें आपकी मंगलमयी निपुणता थोड़ी-सी भी वह अपने साथ ससुराल में ले जा सके।" उषा का यह गृहलक्ष्मी रूप ही हमें सर्वत्र दिखाई देता है। पति के फटे मोज़े ठीक करती हुई, खाना बनाती हुई, पति को खाना खिलाती हुई, आगतों का सत्कार करती हुई—'सदैव वह भारतीय गृहिणी के आदर्श को हमारे सामने उपस्थित करती है। यहाँ तक कि शैलेश का घर छोड़कर वापस भाई के यहाँ जाने के समय तक उसका मोह इस घर के लिए पूर्ववत् बना रहता है।' 'आज सबेरे ही शैलेश्वर ने सुना कि दीवार में गन्दे हाथ पोंछ देने के लिए उषा अपने नये नौकर को फटकार रही है। मान लिया कि अभ्यास होने के कारण उषा से अपने किसी काम में ग़लती नहीं होने पाती; लेकिन सर्वत्र सभी बातों में उसकी चौकस दृष्टि ऐसी बनी रहती है कि उसमें भी तनिक-सी शिथिलता शैलेश नहीं देख पाता।' इस प्रकार हम देखते हैं कि उषा के चरित्र की मूल संवेदना उसकी गार्हस्थिकता है। सबसे पहले वह एक कुशल

गृहिणी है, बाद में और कुछ। पाकशाला से लेकर अतिथि-गृह तक के अपने सारे कर्त्तव्यों को वह अत्यन्त कुशलतापूर्वक निभाती है, त्रुटि के लिए कोई भी स्थान नहीं छोड़ती। घर में आये हुए क्षेत्रमोहन बाबू से वह बिना किसी लज्जा या झिझक के बात करती है, और इस प्रकार इस सन्देह के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ती कि वह दैनिक व्यवहार में अपटु केवल एक ग्रामीणा है। उसका प्रत्येक आचरण सभ्य नागरिक जीवन के अनुकूल है।

जहाँ तक उषा के धार्मिक जीवन एवं आचरणपरायणता का प्रश्न है, हम स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि उसकी मान्यताओं में साधारणतः प्रचलित अन्ध-विश्वासों और रूढ़ियों को बहुत कम स्थान मिला है। उसके आचार किसी दूसरे को कष्ट देने के लिए नहीं हैं, यह बात तो निर्विवाद रूप से सत्य है। जब अपने पतिगृह के लिए वह अपने आपको अनुपयुक्त पाती है, तो मात्र शैलेश्वर के सुख के लिए वह पूर्ववत् परित्यक्ता का जीवन व्यतीत करने के लिए अपने भाई के घर चली जाती है। उसकी आचरणप्रियता का ही यह परिणाम है कि पति से दूर रहने पर लोग उसे 'पगली' आदि कहते हुए भी उसके चरित्र पर कोई आक्षेप नहीं लगा सके। उसकी पवित्रता सर्वदा सर्वमान्य है, और जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि दूसरों को आश्चर्यान्वित करने वाला रूप जिसके पास हो, वह नारी कैशोर्य से लेकर अपने यौवन तक पति से वर्षों तक अलग रहने पर भी अपने चरित्र की सर्वथा रक्षा कर सकी, तो इसका बहुत कुछ श्रेय हमें उसकी धार्मिक साधना को ही देना पड़ता है, अवश्य ही उसके व्यक्तित्व की दृढ़ता भी उसके लिए इस क्षेत्र में सहायक रही है।

उषा की धार्मिक कट्टरता पर शैलेश्वर को इतना विश्वास है कि उसे गाँव से बुलाते समय वह अपने मन में यही सोचता है कि पहले तो वह यहाँ आने को तैयार न होगी, और यदि वह आयी भी तो 'मलेच्छी कारखाने' को देखकर दो ही दिन में भाग जाएगी। परन्तु जैसा हम देखते हैं, शैलेश्वर के यह दोनों ही अनुमान असत्य निकलते हैं। उषा बिना किसी हिचक के कलकत्ता चली आती है, और जब वापस जाती भी है तो 'मलेच्छी कारखाने' से घबरा कर नहीं, वरन् यह देखकर कि उसकी उपस्थिति से उसके स्वामी कष्ट में हैं। और इस बात का ध्यान ही उषा-जैसी पतिपरायणा स्त्री को स्वतः पति से दूर ले जाता है। वस्तुतः उषा किसी भी धार्मिक मर्यादा का आँख बन्द करके पालन नहीं करती। उसकी आस्थाओं का संयोग उसकी बौद्धिकता से बराबर रहा है। वैसे उसकी तेजस्विता के प्रभाव से स्वयं ही दूसरे लोग उसके कथनानुसार चलने लगते हैं। विदेशी परम्पराओं में पला हुआ सोमेन अपने स्वजनों को प्रणाम करना सीख जाता है। क्षेत्रमोहन यह समझ जाते हैं कि उसके कमरे में जूते पहन कर जाना ठीक नहीं। यहाँ तक कि शैलेश्वर भी उसके मतानुयायी होने लगते हैं। और जैसा हम देख चुके हैं, इसका

प्रमुख कारण यह है कि उसके आचारों में कठमुल्लापन नहीं है। स्वयं न खाते हुए भी शैलेश्वर के लिए वह गोश्त बना देती है। भक्ति-पूजन में पूरा विश्वास रखते हुए भी वह शैलेश्वर के गुरु-भाइयों को घर से भगा देती है, सोमेन के गले की तुलसी की माला अपने हाथ से तोड़ डालती है, और उसकी चोटी कटवा देती है। उसके इस व्यवहार से स्पष्ट जान पड़ता है कि जीवन में धर्म को अत्यन्त उच्च स्थान देती हुई भी वह मिथ्या धार्मिक ढोंगों के एकदम विरुद्ध है।

ज़िन्दगी के विभिन्न घात-प्रतिघातों को उषा ने बड़े संयम और धैर्य के साथ सहन करना सीखा है। शान्ति की एक निश्चित भावना उसके मुख-मण्डल पर सदैव रहती है। व्यर्थ ही रूठी हुई विभा को मनाने के लिए वह शैलेश्वर को जबरन उसके घर भेजती है। अपनी ओर से तो उसने कभी कोई ऐसी बात नहीं कही, जिससे कि लोग उससे असन्तुष्ट हो जायें। विभा जब कुछ कड़वी बातें उषा को सुनाकर कहती है तो अस्फुट स्वर में वह केवल इतना ही कह पाती है, "लेकिन ऐसा ख़्याल तो कभी मेरे मन में पैदा ही नहीं हुआ ननदजी।" यहाँ स्मरणीय है कि उषा के कलकत्ता आने के दिन से ही विभा अकारण उसके प्रति कटु है। और यह उषा की सहनशीलता है कि इन कलह-संग्रामों में उसके मुँह से एक भी कड़ी बात नहीं निकली। इसी प्रकार शैलेश्वर के आक्षेपों का भी वह कभी उत्तर नहीं देती, प्रतिवाद नहीं करती। उपन्यासकार के शब्दों में, 'उषा की आवाज़ में कभी किसी कारण उत्तेजना का भाव नहीं प्रकट हो पाता था। शान्त भाव से बात कहने का उसका स्वभाव है।' व्यावहारिक शान्ति के साथ-साथ एक विनय का भाव भी सर्वदा उसके वार्तालाप में व्यक्त होता रहता है। कलकत्ता छोड़कर जाने का निश्चय स्वामी के आगे रखने की भूमिका-स्वरूप वह कहती है, "कल रात भर सोचते रहकर अन्त को मैंने जो निश्चय किया है, उसे फिर डिगाने या अन्यथा करने के लिए कोई आज्ञा न दो, यही तुमसे मेरी प्रार्थना है।" और फिर जब शैलेश्वर उसके लौटने की बात पूछते हैं, तो भी उन्हीं सौजन्यपूर्ण स्वरों में उत्तर देती है, "मुझे क्षमा करो, लौटना अब मेरे लिए सम्भव न होगा। मैंने बहुत कुछ सोच-विचारकर देखा, यहाँ मेरा रहना हो नहीं सकता। यही मेरा निश्चय है।" इतना प्रतिकूल तथ्य व्यक्त करने पर भी उसके मन में कोई गाँठ नहीं, उसके स्वर में कोई विरुद्धता का भाव नहीं। सब प्रकार की विषम परिस्थितियों में भी उसके मन की शान्ति और उसकी वाणी का संयम कभी उससे विलग नहीं होते। व्यर्थ के प्रश्न और व्यर्थ के कौतूहल उसकी प्रकृति के विपरीत हैं। उसका प्राय: मौन रहना जहाँ एक ओर उसकी सहनशीलता का सूचक है, वहीं उसके मानसिक संयम का भी परिचय देता है।

शरत् की अधिकांश नायिकाओं की भाँति उषा मात्र भावुक ही नहीं है। उसके व्यक्तित्व की बौद्धिक प्रवृत्तियाँ पर्याप्त रूप से विकसित हैं। परिस्थितियों को

देखकर उन्हें समझ लेना उसके चरित्र का प्रधान गुण है। क्षेत्रमोहन उषा की तुलना ऐसे जहाज चलाने वाले कप्तान से करते हैं जो 'पानी को देखते ही जान लेता है कि कितना गहरा है।' जब शैलेश्वर के एकमात्र पुत्र सोमेन को शिक्षा आदि के लिए उसकी बुआ विभा के घर भेजने का प्रस्ताव उषा के सामने आता है तो वह बिना किसी तर्क-वितर्क के उत्तर देती है, "लड़के के भले के लिए अगर इसका प्रयोजन जान पड़े तो भेजना ही होगा।" वस्तुतः उषा की वाक्पटुता के समक्ष प्रतिपक्षी को एक बार सिर झुकाना ही पड़ता है। शैलेश्वर के यह कहने पर "शास्त्र में लिखा है कि सूँघना भी आधे भोजन के बराबर होता है." उषा किंचित् हँसी की रेखा झलकाकर कहती है, "यह कहना तुम्हारे लिए उचित नहीं। जिस शास्त्र को तुम मानते नहीं, उसका प्रमाण और दुहाई देना तुम्हें नहीं सोहता"। इसी प्रकार वह स्थान-स्थान पर क्षेत्रमोहन तथा विभा को अपने अचूक परन्तु शान्त वाक्यों से निरुत्तर कर देती है।

अपने चारित्रिक गुणों के कारण उषा के व्यक्तित्व में आत्मविश्वास का होना स्वाभाविक ही है। किसी भी प्रतिकूल अवसर पर वह अपने इस सन्तुलन को नहीं खोती। प्रथम भेंट के अवसर पर ही क्रुद्ध विभा से वह कहती है, "यह सब मैं सँभालना जानती हूँ। तुम लोगों को दुश्चिन्ता न करनी चाहिए"। इसी प्रकार आकण्ठ ऋण के सागर में डूबे हुए शैलेश्वर को वह आश्वासन देती है, "मगर चिन्ता की बात क्या है? इतनी मामूली रक़म चुकाते मुझको कै दिन लगेंगे?" सच तो यह है कि इसी आत्मविश्वास की भावना ने उषा के चरित्र को इतना उज्ज्वल बना दिया है, और इसी आत्मविश्वास के सहारे उसका आत्माभिमान भी सदैव रक्षित है। अपनी प्रकृति में पूर्ण अहिंसात्मक होती हुई भी उषा अनुचित बातों को कभी स्वीकार नहीं करती। जब शैलेश्वर उसके सामने, सोमेन को शिक्षा-दीक्षा के लिए विभा के घर भेजने का प्रस्ताव रखते हैं तो वह उन्हें स्वीकार करने पर भी इस बात के लिए प्रस्तुत नहीं होती कि उसके पुत्र को पढ़ाने-लिखाने का व्यय किसी भी प्रकार विभा को करना पड़े। इसके अतिरिक्त जब वह यह देखती है कि उसके पति के गृह में उसकी व्यवस्था नहीं चल पाती तो कुछ तो शैलेश्वर को सुख देने के लिए और कुछ अपने आत्माभिमान को अक्षत रखने के लिए, उषा अपने भाई के यहाँ चली जाती है।

आत्मविश्वास और आत्माभिमान से सम्बद्ध चारित्रिक दृढ़ता का भी उषा के व्यक्तित्व में पूर्ण निखार हुआ है। शैलेश का अपनी पत्नी के प्रति स्पष्ट मत है, "मैं दुर्बल प्रकृति का आदमी हूँ, किन्तु तुम्हारा मन उतना ही दृढ़ है"। वह भलीभाँति जानता है कि उषा के इरादे कभी टलते नहीं। एक बार यदि वह अपने भाई के जाने की सोच लेती है, तो फिर उसका निश्चय अटल ही रहता है। यही नहीं, यह पति-गृह छोड़ कर जाने का कठोर प्रस्ताव स्वयं उसी की ओर से

आता है। उसके इस 'कठिन कर्त्तव्य' पालन के लिए शैलेश व्यंग्य में उसकी प्र भी करते हैं, और उषा थोड़ी ही दूर पर खड़ी हुई यह सब सुनती है। पर शैलेश के व्यंग्यों और क्षेत्रमोहन के आश्वासनों की कुछ भी परवा न करके उषा घर छोड़ कर चली जाती है। उसका वापस लौट आना कितना कठिन है, इस बात का अनुभव क्षेत्रमोहन बराबर करते रहते हैं। वस्तुतः जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उषा हर क़दम बहुत सोच-समझकर आगे बढ़ाती है, और एक बार किसी निष्कर्ष पर पहुँचने पर वह फिर उससे टलती नहीं। इसीलिए पाठक उपन्यासकार के इन शब्दों से बहुत हद तक सहमत हो जाता है कि 'लड़कपन से कड़े आचार-विचार के शासन में रहते-रहते उषा की प्रकृति भी कड़ी हो गयी है।'

जैसा हमने ऊपर देखा, उषा का व्यक्तित्व बहुत सन्तुलित, युक्ति-युक्त एवं न्यायप्रिय है। अपने आचरण से वह किसी को भी संकट में नहीं डालना चाहती। विभा द्वारा सोमेन को अपने घर ले जाने के प्रस्ताव पर बालक की परेशानी को देखकर वह चटपट कह देती है, "जाने के लिए मैं तुमको मना नहीं करती भैया; मैं तो यही कहती हूँ कि तुम्हारे चले जाने पर अकेले घर में मुझे बड़ा कष्ट होगा।" और इस प्रकार वह निरीह सोमेन को विभा के क्रोध से बचा लेती है। पति द्वारा नौकरों के वेतन न दिये जाने का वह तीव्र विरोध करती है। शैलेश से वह कहती है, "यह तो तुम्हारी बड़ी ज़बर्दस्ती है जी ! नौकर-चाकरों की तनख़्वाह न देना और अटकाये रखकर घर न जाने देना कहाँ का न्याय है।" यहाँ हम उषा का वह रूप देखते हैं जो सदैव औचित्य के साथ है, और जो सभी प्रकार के अन्यायों की भर्त्सना करता है। उसकी प्रकृति इतनी भली है कि किसी का अनिष्ट करने की बात उसके मन में आ ही नहीं सकती। विभा के यह सन्देह किये जाने पर कि उषा ने शैलेश्वर के लिए जादू-टोना किया है, क्षेत्रमोहन अत्यन्त दृढ़ स्वर में कहते हैं, "उषा यह सब कभी न करेंगी।"

अपनी छोटी-सी गृहस्थी में उषा का स्नेह और ममता सबके लिए समान है। शैलेश, सोमेन, क्षेत्रमोहन, विभा तथा उमा, सबकी वह हितचिन्तक है। सोमेन तो अपनी इस विमाता को इतना अधिक प्यार करता है कि उसके बिना रह ही नहीं सकता। कारण स्पष्टतः यही है कि उषा के वात्सल्य का वह एकछत्र अधिकारी है। उषा उसके प्रत्येक छोटे-बड़े आराम का ध्यान रखती है, साथ ही खाना खिलाती है और रात को उसके निकट बैठकर कहानी सुनाती है। स्वयं शैलेश का मत है कि 'माँ के रहने पर भी इतना अधिक प्यार-दुलार शायद उस समय—कभी—इसको नहीं नसीब हुआ।' और यही नहीं, स्वयं उसे भी गुप्त या प्रकट रूप से उषा का जो अपार स्नेह प्राप्त हुआ, उसने उसके जीवन की गति ही बदल दी। एक बार तो अवश्य ही उसे अपने गार्हस्थ्य-जीवन में अपूर्व आनन्द प्राप्त हुआ, और इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसके इस आनन्द की मात्रा दिन-

प्रति दिन बढ़ती ही जाती, यदि विभा बीच में आकर इस दम्पती को एक-दूसरे से अलग न कर देती। एक स्थल पर उपन्यासकार कहता है, 'खाने के लिए इतना जबर्दस्त तक़ाज़ा, ऐसा आत्मीयताव्यंजक अनुरोध और आग्रह, हृदय की व्यग्रता के साथ सिर की क़सम देना—शैलेश के लिए कल्पना से परे, और आशातीत, अप्राप्य, अलौकिक, अपूर्व आनन्द देने वाला था।' इन शब्दों में शैलेश की मनः-स्थिति का जो चित्रण हुआ है वह उषा की कोमल प्रकृति और उसके सरस व्यवहार का स्पष्ट सूचक है।

पूरे उपन्यास में विभा को हम उषा के विरुद्ध देखते हैं। प्रारम्भ से ही अपनी ग्रामीण भाभी के प्रति मन में पूर्वग्रहों को सँजोये रखने से ऐसा व्यवहार विभा के लिए नितान्त स्वाभाविक है, और जब कि दोनों की प्रकृतियों में बहुत अन्तर भी है। इसीलिए प्रथम भेंट में ही विभा उषा के प्रति अत्यन्त कड़ी और कड़वी हो उठती है, परन्तु शान्त और संयमित मन की उषा तभी कह देती है, "आज तुम रूठ कर ज़रा बैठी तक नहीं, लेकिन मैं तुमसे इतना कहे देती हूँ कि एक दिन तुम अपनी इच्छा से खुद आकर अपनी इसी भाभी के पास बैठोगी।" और उषा के तीसरे परिच्छेद में कहे हुए ये शब्द हमें उपन्यास के अन्तिम परिच्छेद में तब अक्षरशः सत्य होते हुए दिखाई देते हैं, जब वापस कलकत्ता आयी हुई उषा के पास जूते उतार कर विभा स्वयं जाती है, उसके पैर छूती है और स्वयं ही पहले बोलती है। कहना न होगा कि विभा के व्यवहार में यह परिवर्तन स्नेह की विलक्षण शक्ति द्वारा ही सम्भव हुआ है।

उषा के चरित्र के संक्षिप्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि उसका व्यक्तित्व अत्यन्त उदार एवं महिमामय है। इसलिए यह नितान्त स्वाभाविक ही है कि उसके व्यक्तित्व से उसके सम्पर्क में आने वाले प्रभावित हों। वस्तुतः अनेक गुणों के समाहार रूप में चित्रित करके शरत् ने अपनी नायिकाओं को प्रायः प्रभविष्णु बनाया है। उनके तेज़ के सम्मुख प्रतिपक्षियों को अन्ततोगत्वा झुकना ही पड़ता है। 'नव-विधान' की नायिका उषा भी इस व्यापक नियम की अपवाद नहीं है, यह सहज उसके वार्त्तालाप से ही प्रकट हो जाता है। तटस्थ व्यक्ति को भी अपनी ओर खींच लेने की शक्ति उसमें है। सारे ऊपरी क्रोध और अप्रसन्नता के बावजूद शैलेश यही प्रार्थना करते हैं कि 'मेरे अगर कभी कोई लड़की हो तो वह अपनी माता के समान ही हो। इस ढंग की शिक्षा-दीक्षा वह पावे तो मैं भगवान् को धन्यवाद दूँगा'। और तो और, कुछ ही दिनों के सम्पर्क से विभा भी भावावेग के क्षणों में उषा को अत्यन्त स्पृहणीय मानती है। उषा के वापस घर जाने की बात सुनकर वह शैलेश से कहती है, "भैयाजी, भला सच बतलाना, क्या तुम मुझे ही निमित्त करके (अर्थात् मेरे ही कहने-सुनने पर ध्यान देकर या मेरे ही कहने से) भाभी के सम्बन्ध में यह व्यवस्था करने जा रहे हो ? अगर यही बात

हो तो मैं मना न करूँगी। किन्तु यह अभी कहे देती हूँ कि एक दिन तुम दोनों ही रोओगे'। उद्धरण का अन्तिम वाक्य विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। इसके अतिरिक्त क्षेत्रमोहन तो उषा को इतना अधिक चाहने लगे हैं कि वे शैलेश के सम्मुख प्रस्ताव रखते हैं (भले ही मज़ाक़ में) कि वे दोनों पत्नियों की अदला-बदली कर लें। और जैसा हम पहले ही कह चुके है कि शैलेश भी मन-ही-मन उषा को बहुत प्यार करते हैं। तीसरे विवाह की बात वे इसलिए स्वीकार नहीं करते कि उषा के प्रति उनका मोह अभेद्य हो गया है। क्षेत्रमोहन का तो स्पष्ट मत है, "उषा को तुम्हारे दादा सचमुच प्यार करने लगे थे। इतना प्यार कभी उन्होंने सोमेन की माँ को नहीं किया।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि उषा का चित्रण आज की सतही जीवनचर्या और उसके बाहरी बनाव-शृंगार-जन्य विषमताओं और कुरूपताओं के स्वस्थ एवं कुशल सुधारक के रूप में किया गया है। अपनी मूल प्रकृति में एक सफल गृहिणी होने के कारण वह पाश्चात्य रहन-सहन से प्रभावित विशृंखलित पारिवारिक व्यवस्था को एक नया और सशक्त विधान देती है, जो एकदम भारतीय परम्पराओं के अनुकूल है। इस लघु उपन्यास के 'नव-विधान' नामकरण का यही रहस्य है।

कथा में दूसरा प्रमुख नारी-चरित्र विभा का है। अपनी प्रकृति में वह उषा के बहुत कुछ विपरीत है। वह अपने देश की उन असंख्य नारियों में से एक है, जिन्होंने पाश्चात्य जीवन की औपचारिकता को अपना तो लिया है, परन्तु जो उनकी शिराओं में बहते हुए रक्त से मेल नहीं खाती। इसीलिए उनका व्यक्तित्व बहुत कुछ अभारतीय-सा लगने लगता है, और पाश्चात्यों की गणना में तो वे आ ही नहीं सकतीं। फल यह होता है कि उनका व्यक्तित्व पूर्व और पश्चिम का एक अजब-सा मिश्रण बन जाता है, जिसमें दृढ़ता की मात्रा बहुत कम रहती है।

विभा का व्यक्तित्व हमें प्रारम्भ से ही कुछ रूखा और चिड़चिड़ा दिखाई देता है। इसका एक कारण उसके मन में स्थित उषा के प्रति पूर्वग्रह भी हो सकता है, जिससे वह अपने को 'तीखा-रूखा' बनाये रहती है। पर जो भी हो, यह निश्चित है कि साधारणतः उसका व्यहार बहुत सरस नहीं है। उपन्यासकार के शब्दों में, "दूसरे को दोष लगाकर कठोर बातें कहना एक प्रकार से विभा का स्वभाव ही हो गया था। अधिकांश स्थलों में शायद इससे अशिष्टता प्रकट होने के सिवा और क्षति न हुआ करती थी।" यहाँ तक कि सोमेन को भी व्यंग बाण का निशाना बना देना उसके लिए कोई बड़ी बात नहीं। और जैसाकि उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है, विभा ऐसा जान-बूझ कर नहीं करती, वरन् यह तो उसका स्वभाव ही हो गया है।

विभा का चरित्र एक ऐसी आधुनिका के रूप में अंकित किया गया है, जिसने विदेशी परम्पराओं का बिना समझे-बूझे अन्धानुकरण प्रारम्भ कर दिया है। उषा के विरुद्ध बोलती हुई वह कहती है, "मगर अपने घर को एकदम किसी कूढ़-मग्ज आचारी पण्डित का घर बना डालने से तो काम न चलेगा, अपने समाज और उसके सभ्यों का खयाल भी तो रखना पड़ेगा। उसके साथ सामाजिकता रखनी हो तो हमें कुसंस्कारपूर्ण पाखण्ड-विडम्बना का बहिष्कार, और नव्य दल की परिमार्जित सुरुचि का व्यवहार स्वीकार करके आधुनिक अनुभवों द्वारा अनुमोदित आचार-विचारों का प्रचार स्वीकार करना पड़ेगा।" उद्धरण का अन्तिम वाक्य विभा के चरित्र पर अच्छा प्रकाश डालता है। इससे जान पड़ता है कि अपने इस 'नव्य दल की सुरुचि' के लिए वह ऐसी तमाम प्राचीन परम्पराओं को उखाड़ फेंकना चाहती है, जो उसके लिए कहीं अधिक लाभप्रद सिद्ध हो सकती हैं। वस्तुतः ज़िन्दगी को उसने बहुत ऊपरी निगाह से देखा है, उसकी गहराई तक वह नहीं पहुँच सकी। इसीलिए उसका दृष्टिकोण इतना सतही है। असहिष्णुता तो उसमें इतनी है कि क्षेत्रमोहन द्वारा उषा के प्रति प्रदर्शित श्रद्धा को देखकर उसके 'बदन में आग लग जाती है'। और फिर वह हठवादी भी कम नहीं है। उपन्यासकार के शब्दों में, "लोगों के सामने विभा बहस में किसी तरह हार नहीं मान सकती थी—यह उसकी आदत में दाखिल था।"

इस सबके अतिरिक्त विभा की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि अपनी ऊपरी शान रखने के लिए वह आवश्यकता से अधिक व्यय करती है, जिसके कारण क्षेत्रमोहन को स्वीकार करना पड़ता है, "मैं तो कर्ज के गढ़े के भीतर गोते खा रहा हूँ, गले-गले तक ग़र्क हो गया हूँ। उससे उबरने का कोई उपाय नज़र नहीं आता।" इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि एक गृहिणी के लिए जिन गुणों की आवश्यकता होती है, वे विभा के चरित्र में एकदम नहीं हैं। और तो और, जैसाकि स्वयं क्षेत्रमोहन एक स्थल पर कदाचित् कुछ अतिरंजना के साथ व्यक्त करते हैं, विभा अपने स्वामी का भी सम्मान नहीं करती, उल्टे 'उन्हें निरन्तर हीन प्रमाणित करने की चेष्टा' में संलग्न रहती है। और जब इस तथ्य को वह स्वयं सुनती है, तो वह इतनी हल्की-फुल्की प्रकृति की है कि रो देती है। इस हल्की-फुल्की प्रकृति के कारण ही वह शैलेश के गुरुमन्त्र आदि लेने के बाद बुराई के डर से समाज के सभ्य लोगों को मुँह भी नहीं दिखा सकती।

उषा के प्रति तो विभा प्रारम्भ से ही विरुद्ध है। सच तो यह है कि उषा को लेकर ही उसके व्यक्तित्व की कुटिलता उभर उठी है। वह निरन्तर यही प्रमाणित करना चाहती है कि इस 'गँवई-गाँव की अपढ़ भावज' को फिर घर में लाकर शैलेश ने भयंकर भूल की है। उसका स्पष्ट मत है कि "मैं तो ऐसी भावज को एक दिन के लिए भी अपने भाई की स्त्री न स्वीकार कर सकूँगी, इसके लिए

भाई कितना ही नाराज क्यों न हो। इसीलिए उषा को उसके स्थान से भ्रष्ट करने की दुरभिसन्धि उसके मन में सदैव बनी रहती है। और जब वह अपने इस कार्य में सफल हो जाती है, तभी उसे सन्तोष होता है। यही नहीं, वह गर्वोक्ति भी करती है, "मैंने एक बार देखते ही उन्हें पहचान लिया था। उनके साथ हम लोग किसी तरह निर्वाह नहीं कर सकते थे।" उषा के ऊपर तो वह परोक्ष रूप से यह भी आरोप लगा देती है कि वह शैलेश के ऊपर कुछ जादू-टोना कर रही है। किन्तु उषा उसकी इन सारी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष बातों का कुछ भी उत्तर नहीं देती। उत्तर देती है उसकी नम्रता और सुशीलता जिसके कारण विभा को अन्ततोगत्वा उसके पैर छूने पड़ते हैं, और उसकी महत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। जैसा हम संकेत भी कर चुके हैं, अपने आपमें विभा इतनी दुष्ट नहीं है कि इस चारित्रिक परिवर्तन से ऊपर उठ सके। शैलेश के ऊपर उषा ने जादू-टोना किया था या नहीं, यह तो उषा ही जाने, विभा को किस प्रकार उसने वाणी और व्यवहार के वशीकरण से अपने वश में किया, यह हम सभी देख सकते हैं।

सोमेन और सोमेन की माँ के लिए विभा के मन में बहुत कोमल स्थान सुरक्षित है, ऐसा जान पड़ता है। अपनी स्वर्गवासिनी भाभी और बाप के कुल में एकमात्र वंशधर का वह बहुत ध्यान रखती है। सोमेन के ऊपर 'विभा का एक प्रकार का स्नेह था। वह उसे सचमुच चाहती थी।' इस निरीह बालक को ब्रह्म-चारी के वेश में देखकर वह रो देती है। अत्यन्त दुखी होकर वह क्षेत्रमोहन से कहती है, "लड़का क्या हमारी आँखों के सामने, हमारे देखते-देखते यों ही सत्या-नाश जाएगा?" और फिर अपने सारे मान-अपमान को भुलाकर वह सोमेन के कुशल-समाचार लेने के लिए शैलेश के घर चली जाती है।

शैलेश के लिए भी विभा के मन में पर्याप्त स्नेह है। भाई को बुरा-भला कहा जाना उसे सह्य नहीं। इसके लिए वह कभी-कभी स्वामी से भी झगड़ बैठती है। यहाँ यह स्मरणीय है कि क्षेत्रमोहन को भी विभा सारे लड़ाई-झगड़ों के बावजूद हृदय से प्यार करती है। उपन्यासकार इन दोनों के सम्बन्ध को समझाता हुआ कहता है, "उन दोनों स्वामी और स्त्री के बीच सच्ची-दिली प्रीति और स्नेह की शायद कमी न थी; किन्तु बाहर देखने में, दुनिया के व्यवहार में, इसी प्रकार के वाद-प्रतिवाद की टक्कर प्रायः प्रकट हो पड़ती थी।" सच तो यह है कि उषा को छोड़कर विभा अन्य सबसे सन्तुष्ट रहती। उसके मन के असुरों को जागृत करने के लिए ही मानो उषा का आविर्भाव हुआ है (यद्यपि अन्ततोगत्वा उषा के लिए भी विभा के मन में प्रीति उत्पन्न हो जाती है)।

इस स्थल पर उषा और विभा के चरित्रों की संक्षिप्त तुलना कुछ अप्रासंगिक न होगी। वस्तुत: ये दोनों चरित्र एक-दूसरे के बहुत-कुछ विपरीत हैं। उषा जहाँ जिन्दगी के हर पहलू को बहुत गहराई के साथ देखती है, वहाँ विभा का दृष्टि-

कोण प्राय: सतही है । उषा की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का उसके व्यक्तित्व में अभाव है । उषा शान्त एवं शान्तिप्रिय है, विभा कुछ झगड़ालू और चिड़चिड़ी है । एक में व्यावहारिक संयम की मात्रा पर्याप्त रूप से है, दूसरी में व्यावहारिक असंयम का प्राधान्य है । उषा में सहनशीलता और धैर्य है, इसके विपरीत विभा प्राय: असहिष्णु है । दूसरों की बात सुनना उसे पसन्द ही नहीं । उषा में जहाँ बौद्धिकता है, वहाँ विभा में छिछली भावुकता । उषा प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की उपासक है, विभा के आचार-विचार पाश्चात्य परम्पराओं से प्रभावित हैं। उषा बहुत मितव्ययी है, पति के ऋण के एक बड़े भाग को वह चुका देती है, पर विभा अपव्ययी है, उसके कारण क्षेत्रमोहन आकण्ठ ऋण में डूबे हुए हैं। इसके अतिरिक्त उषा पर्याप्त रूप से चिन्तनशील है, विभा मात्र हठवादी है। क्षेत्र बाबू के अनुसार तो 'उषा के पैरों की धूल की बराबरी करने की भी योग्यता विभा में नहीं है ।' वे सोचते हैं, "जो विश्वास अपने को पीड़ित करने में पश्चात्पद नहीं होता, जिसकी श्रद्धा की गहराई दुःख और त्याग के भीतर अपनी परीक्षा कर लेती है, वह विश्वास विभा में कहाँ है ? उमा में कहाँ है ? और वे तो अनेक स्त्रियों को जानते हैं, किन्तु ऐसी स्त्री कहाँ देख पड़ती है, जिससे उषा की तुलना की जाय ?" शैलेश भी उषा के साथ विभा की और उन लोगों के शिक्षित समाज की और भी दो-चार महिलाओं की मन में तुलना करके एक ठण्डी साँस ही छोड़ पाता है । और यह सच भी है । उषा का चरित्र जहाँ बहुत-से उच्च गुणों का समाहार है, वहाँ विभा का चरित्र बहुत-कुछ औसत दर्जे का है । इसी वैषम्य का ध्यान करके एवं उषा की महत्ता को पहचान करके विभा कथानक के अन्त में अपनी इस ग्रामीण भाभी के पैर छूती है । यह नम्रता की कटुता पर विजय है। इसीके साथ-साथ हम यह भी देखते हैं कि उषा के चतुर्दिक् गृहिणीत्व के सम्मुख विभा के निपट फूहड़पन को अन्ततोगत्वा किस प्रकार झुकना पड़ता है ।

उपन्यास में उमा का अंकन पार्श्व-चरित्र के रूप में हुआ है । यत्र-तत्र कुछ उल्लेखों के अतिरिक्त हम उसके बारे में विशेष कुछ नहीं जान पाते । अनुमान के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि क्षेत्र बाबू की इस बहिन का व्यक्तित्व बहुत कुछ अपने भाई के अनुरूप ही होना चाहिए । उमा के सम्बन्ध में उनका विशेष आग्रह है, "शैलेश की बहिन (विभा) और मेरी बहन में बाहरी वेशभूषा का सादृश्य देखकर दोनों के हृदय भी समान न समझ लीजिएगा ।" उमा के व्यक्तित्व के अत्यधिक संक्षिप्त अंकन में भी हमें एक स्थल पर उसकी अन्तर्दृष्टि और चातुर्य के दर्शन हो जाते हैं। क्षेत्र बाबू के शैलेश से यह आग्रह करने पर कि बुढ़ापे के आने के पहले उन्हें अपना घर बसा लेना चाहिए, उमा अत्यन्त

दृढ़ विश्वास के साथ कहती है, "इनके बुढ़ापे आने में, भैया, अभी बहुत देर है, और उसके बहुत पहले ही भाभी जी आकर हाजिर हो जाएँगी।" और जैसा उपन्यास के अन्त में हम स्वयं देखते हैं, उमा की यह भविष्यवाणी एकदम सही निकलती है।

शेष प्रश्न

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, 'शेष प्रश्न' शरत् बाबू की अत्यन्त सरल एवं सुबोध शैली में लिखा होने पर भी उनका सबसे जटिल तथा दुरूह उपन्यास है। यह दुरूहता कथा-गत न होकर, उसके माध्यम से अभिव्यक्त विचारधारा से सम्बद्ध है। यौवन और प्रेम की समस्या, तथा नारी और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या, इस उपन्यास में बड़ी ही कुशलता से हमारे सम्मुख प्रस्तुत की गयी है। नारी-चरित्रों का 'शेष प्रश्न' में अंकन एक विशिष्टता के साथ हुआ है। इसके साथ ही इस उपन्यास की जो सबसे बड़ी विशेषता है, वह यह है कि इसमें स्वयं उपन्यासकार आशु बाबू के रूप में आकर हमारे सम्मुख उपस्थित हो गया है। इसी दृष्टिकोण से शरत् के नारी सम्बन्धी अनेक विचारों को समझने के लिए 'शेष प्रश्न' के आशु बाबू तथा कमल के संवाद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकते हैं।

'शेष प्रश्न' की कथा मानवीय संवेदनाओं के घात-प्रतिघात से परिपूर्ण है। सम्पूर्ण उपन्यास में एक निश्चित बौद्धिक चेतना रहने के फलस्वरूप उसके कथा-भाग में समाज के उच्च-शिक्षित एवं शिष्ट वर्ग का ही चित्रण हुआ है। एकदम सुलझे हुए विचारों के, विदेशी शिक्षा से सम्पन्न तथा अत्यन्त हास्य-विनोद-प्रिय आशु बाबू अपने सम्पूर्ण धन-वैभव के साथ, अपनी एकमात्र अविवाहित युवती पुत्री मनोरमा को साथ लेकर, जलवायु-परिवर्तन हेतु आगरा में आकर रहने लगते हैं। अपने मिलनसार स्वभाव के कारण वहाँ के सभ्य बंगाली-समाज से उनका घनिष्ठ परिचय हो जाता है। उनके प्रमुख मित्रों में हैं—अविनाश, हरेन्द्र तथा अक्षय जो स्थानीय कॉलेजों में अध्यापक हैं, शिवनाथ—भूतपूर्व अध्यापक तथा कुशल गायक, उसकी अपूर्व सौन्दर्य एवं प्रतिभाशालिनी स्त्री कमल, तथा अविनाश की विधवा साली नीलिमा।

आशु बाबू के आगरा-प्रवास के काल में उनकी पुत्री मनोरमा का होने वाला वर अजितकुमार, जो विलायत से इंजीनियरिंग की डिग्री लेकर लौटा है, उनके पास आकर रहने लगता है। कुछ दिन तक सबका समय बड़ी अच्छी तरह व्यतीत

होता है। फिर एकाएक ही उनके जीवन में संघर्षों का आगमन प्रारम्भ हो जाता है। मनोरमा जो पहले शिवनाथ को गुणी जानकर उसका बहुत आदर करती थी, अक्षय द्वारा उसकी बुराइयों को सुनकर उससे घृणा करने लग जाती है। इधर अजित, जो कमल के ऊपर श्रद्धा करने लगा था, उसका वंश-परिचय सुनकर लज्जा से गड़ जाता है। इसके उपरान्त मानवीय मनोविकारों के जो घात-प्रतिघात प्रारम्भ होते हैं, उनका अन्त उपन्यास की समाप्ति पर इस प्रकार होता है—

(1) मनोरमा अपना विवाह शिवनाथ के साथ कर लेती है।

(2) कमल अजित की जीवन-संगिनी बन जाती है, और

(3) रूप-गुण-सम्पन्न नीलिमा वृद्ध तथा रुग्ण आशु बाबू से प्रेम करने लगती है। और तब हमें आशु बाबू के उस कथन का स्मरण हो आता है, जिसे हम प्रस्तुत उपन्यास का मूल सूत्र (Key-note) कह सकते हैं, "दुनिया में अपना-पराया कोई नहीं है कमल, स्रोत के खिंचाव से कौन कब पास आ जाता है, और कौन बहकर दूर चला जाता है, इसका कुछ भी हिसाब कोई नहीं जानता।" इस प्रकार हम 'शेष प्रश्न' के कथानक की तुलना कुछ अंशों में प्रतिष्ठित नाटककार शेक्सपियर के 'मिड समर नाइट्स ड्रीम' से कर सकते हैं, जिसमें ठीक इसी प्रकार से प्रेम का विपर्यय होता है। परन्तु इन दोनों में प्रमुख अन्तर यह है कि जहाँ प्रेम के इस उलट-फेर को दिखाने के लिए शेक्सपियर को एक अतिप्राकृत माध्यम (Super-natural element) स्वीकार करना पड़ा है, वहीं शरत् बाबू ने प्रणय-सूत्रों की अस्थिरता को मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर मान्यता दी है। कहना न होगा कि यह भारतीय साहित्यकार के लिए गौरव की वस्तु है। और यह तो निश्चित है कि 'शेष प्रश्न' के साढ़े तीन सौ पृष्ठ पढ़ लेने के बाद जीवन का प्रश्न-चिह्न और भी बड़ा हो जाता है। यही उपन्यास के नामकरण की सार्थकता तथा उपन्यासकार की कला की सफलता है।

'शेष प्रश्न' में पाँच प्रमुख नारी-पात्र हैं—कमल, मनोरमा, नीलिमा, बेला और मालिनी। इनमें-से बेला और मालिनी तो प्रायः पार्श्व-चरित्र हैं। शेष तीन में से भी उपन्यास के अधिकांश कथा-भाग पर कमल ही छायी रहती है। ऐसा जान पड़ता है कि कमल के चरित्र का उद्घाटन करने के लिए ही मानो 'शेष प्रश्न' का सृजन हुआ हो। अस्तु, उपन्यास के सभी नारी-पात्रों में मूलगत अन्तर के साथ-ही-साथ वे सभी प्रायः अपने पूर्वागतों से भी भिन्न हैं। केवल कमल के चरित्र को ही हम किरणमयी, अभया, षोडशी तथा सुमित्रा की परम्परा में रख सकते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इन सभी नायिकाओं के श्रेष्ठतम परमाणुओं को लेकर शरत् बाबू ने कमल का सृजन किया है। 'शेष प्रश्न' में ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण शरत्-साहित्य में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नारी पात्र होने के कारण कमल के चरित्र का ही विश्लेषण हम सर्वप्रथम करेंगे।

किरणमयी तथा सुमित्रा आदि के समान ही, कमल का रूप देखनेवाले को विस्मय में डाल देता है। शिवनाथ का यह कथन कि उसने कमल से विवाह सुन्दरता के लिए किया है, अक्षरशः सत्य है। प्रथम दर्शन के समय कमल के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए उपन्यासकार कहता है, "अँगिया-साड़ी भींगकर भारी हो गयी है, माथे की निबिड़ कृष्ण केश-राशि से जल-धारा गालों के ऊपर से झरती हुई बह रही है। पिता और कन्या दोनों ही इस नवागता रमणी के मुँह की तरफ़ देखकर असीम विस्मय से अवाक् हो रहे। आशु बाबू खुद कवि नहीं हैं, किन्तु उनको पहले ही ऐसा जान पड़ा कि इस नारी-रूप की ही शायद प्राचीन युग में कवि लोग शिशिर-धौत कमल के साथ तुलना कर गये हैं और संसार में इतनी बड़ी सच्ची तुलना भी शायद दूसरी नहीं है।" और तब आश्चर्य ही क्या है जो वृद्ध आशु बाबू कहते हैं, "लड़की है मानो एकदम लक्ष्मी की प्रतिमा। ऐसा रूप मैंने कभी नहीं देखा।" और तो और, अनुपम सौन्दर्यशाली ताजमहल के सामने भी लोग कमल को ही देखना अधिक पसन्द करते हैं। 'जो जीवित आश्चर्य इस अपरिचित रमणी के सर्वांग में व्याप्त होकर अकस्मात् मूर्तिमान हो उठा है, उसके ही सामने उस निकटस्थ संगमरमर का अप्रकट आश्चर्य मानो एक क्षण में धुँधला-सा हो गया है।' और यही कारण है कि कमल का व्यक्तित्व प्रत्येक स्थल पर अपना महत्त्व रखता है, क्योंकि सौन्दर्य ने उसे एक शक्ति दे दी है। केवल एक स्थान पर, जहाँ कमल का सौन्दर्य फीका और निष्प्रभ पड़ जाता है, इस अशेष रूपवती युवती को दबना पड़ा है। राजेन्द्र वह व्यक्ति है, जिसने कमल के सौन्दर्य की ओर आँख उठाकर देखा तक नहीं, और उसी के सम्मुख कमल पराजित हुई।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में निःसंकोच होकर रहना कमल के चरित्र की एक प्रमुख विशेषता है। मनोरमा से प्रथम भेंट के समय ही वह अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ स्वयं माँग लेती है। आशु बाबू इस सम्बन्ध में कहते हैं, "लज्जा-संकोच की बात तो थी ही नहीं, मेरा स्वास्थ्य कैसा है, क्या खाता हूँ, कौन-सी चिकित्सा चल रही है, जगह अच्छी लग रही है या नहीं—प्रश्न करने का क्या ही सहज स्वच्छन्द भाव था। वरन् शिवनाथ तो संकुचित-से हो रहे, किन्तु उसमें जड़ता का चिह्न तक भी मैंने नहीं देखा। न तो बातचीत में, न आचरण में।" सबके सम्मुख कमल शिवनाथ से भी उसी सहज और निस्संकोच भाव से बात करती है, जिस प्रकार से अन्य व्यक्तियों से। उपन्यास के प्रारम्भिक अंशों में कमल का सरल और स्वच्छन्द भाव अजित को चक्कर में डाल देता है। सन्ध्या के समय अजित की बगल में बैठकर मोटर की सैर में उसे लज्जा का अनुभव नहीं होता। प्रथम भेंट के समय ही वह अजित से आग्रह करती है कि वह उसे मिसेज़ शिवनाथ कहकर नहीं, वरन् मात्र कमल कहकर पुकारे। अपनी माँ का लज्जाजनक वृत्तान्त तथा अपनी जन्म-कथा जिस स्पष्टता एवं सरलता के साथ वह

अजित को बताती है, उससे उसके चरित्र की निर्मलता पर ही प्रकाश पड़ता है। ऐसा जान पड़ता है मानो छिपाने लायक उसके पास कुछ है ही नहीं। अजित के समान ही वह हरेन्द्र को भी अपने साथ निर्जन घर में ले जाना चाहती है। अधिक रात हो जाने पर वह उनके लिए बिस्तर बिछाने को भी तत्पर है। कमल के इन निस्संकोच आचरणों के पीछे उसकी वह बुद्धि है जो किसी भी प्रकार यह मानने को प्रस्तुत नहीं कि निर्जन गृह में अनात्मीय नर-नारी का केवल एक ही सम्बन्ध हो सकता है। इसीलिए वह एक परिचित अंग्रेज़ की घर-गृहस्थी सँभालने के लिए उसके घर भी जा सकती है। नीलिमा के मतानुसार, 'वह मानो ठीक नदी की मछली की-सी है। पानी में भीगने-न भीगने का प्रश्न ही नहीं उठता। खाने-पहिनने की चिन्ता नहीं, शासन करनेवाला अभिभावक नहीं, आँखें लाल करने-वाला समाज नहीं—परम स्वतन्त्र है।'

वस्तुतः कमल का जीवन के प्रति दृष्टिकोण अत्यन्त ही समृद्ध है। उसके इस दर्शन में विलासिता नहीं है, वरन् एक समन्वय है। इस तथ्य को समझ लेने पर हम उसके बहुत-से ऐसे कार्यों में संगति बैठा सकते हैं, जो ऊपर से कुछ अटपटे लगते हैं। अपने दृष्टिकोण की व्याख्या करती हुई कमल कहती है, "कोई-कोई व्यक्ति ऐसे होते हैं जो वृद्ध मन लिये ही जन्म ग्रहण करते हैं। उसी वृद्ध के शासन के नीचे उनका जीर्ण-शीर्ण विकृत यौवन सदैव लज्जा से माथा झुकाये रहता है। वृद्ध मन प्रसन्न होकर कहता है, अहा! यही तो अच्छा है। हल्ला नहीं, उन्माद नहीं, यही ता शान्ति है, यही तो मनुष्य के लिए परम तत्त्व की बात है···मन की वृद्धता मैं उसी को कहती हूँ, आशु बाबू, जो सामने की तरफ़ देख नहीं सकता, जिसका अवसन्न, जराग्रस्त मन भविष्य की सभी आशाओं को छोड़कर केवल अतीत के अन्दर ही जीवित रहना चाहता है। और मानो उसे कुछ करने या पाने की इच्छा ही नहीं है,—वर्तमान उसके निकट लुप्त है, अनावश्यक है, और भविष्य निरर्थक है। अतीत ही उसका सर्वस्व है।" इसके विपरीत कमल की विचारधारा मे वर्तमान को सबसे अधिक महत्ता प्राप्त है। उसके जीवन की पूंजी वर्तमान पर ही आधारित है। अत्यन्त स्पष्ट एवं सरल अभिव्यक्ति का सहारा लेती हुई वह अजित से कहती है, "मैं मानती हूँ कि जब जितना पाऊँ उसको ही सत्य समझकर मान ले सकूँ। दुःख का दाह मेरे विगत सुख के शिशिर-बिन्दुओं को सुखा न सके। वह चाहे जितना भी थोड़ा क्यों न हो, और परिणाम उसका संसार में कितना ही तुच्छ क्यों न गिना जाय, तो भी मैं उसे अस्वीकार न करूँ। एक दिन का आनन्द किसी दूसरे दिन के निरानन्द के सामने लज्जा अनुभव न करे···इस जीवन में सुख-दुःख में से कोई भी सत्य नही है अजित बाबू, सत्य है केवल उसका चंचल क्षण। बुद्धि और हृदय से उसको प्राप्त करना ही तो सच्ची प्राप्ति है।" उद्धरण के अन्तिम दो वाक्य कमल के जीवन-दर्शन को समझने के

लिए विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। प्रकारान्तर से, कमल के इस भौतिक सुखवाद (Hedonism) की विवेचना हम अलग से करेंगे।

कमल की विचार-धारा प्राचीन भारतीय मनीषी भर्त्तृहरि से बहुत-कुछ मिलती है, जिन्होंने स्वयं नीति-शतक, शृंगार-शतक एवं वैराग्य-शतक का सृजन किया। इन दोनों ही विचारकों ने जीवन को उसकी एकाग्रता में देखने एवं स्वीकार करने की चेष्टा की है। परन्तु इन दोनों के व्यावहारिक जीवन का अन्तर भी हम स्पष्टतः देख सकते हैं। भर्त्तृहरि ने जीवन को तीन अलग-अलग कालों में विभाजित करके उसे समृद्धता प्रदान की है; कमल ने जीवन को एक साथ, एक समय में ही समृद्ध बना दिया है। उसकी साधना है, 'संसार का सम्पूर्ण ऐश्वर्य, समस्त सौन्दर्य, समस्त प्राण लेकर जीवित रहना।' इस दृष्टिकोण से, भर्त्तृहरि की अपेक्षा कमल ने कहीं अधिक सफलता के साथ जीवन में समन्वय खोजने की चेष्टा की है। उक्त उद्धृत वाक्य तो मानो कमल के चरित्र का मूल सूत्र ही है।

कमल ने जीवन के आनन्द को उसके एक-एक क्षण से संचित करने की चेष्टा की है। आयु की व्यापकता से अधिक वह क्षण के असीमत्व को महत्त्व देती है। उसका स्पष्ट मत है, "आयु की दीर्घता को ही जो लोग सत्य समझकर जकड़ रखना चाहते हैं, मैं उन लोगों में से नहीं हूँ···पौधे के फूल सूख जायेंगे इस ख़्याल से बहुत देर तक रहने वाले नक़ली फूलों का गुच्छा बनाकर जो लोग फूलदानों में सजाकर रखते हैं, उनके साथ मेरे मत का मेल नहीं खाता। किसी आनन्द का भी स्थायित्व नहीं है। हैं केवल उसके क्षण स्थायी दिन।" किसी भी वस्तु का मूल्यांकन कमल उसके स्थायित्व अथवा उसकी दीर्घता से नहीं करती। अजित से वह कहती है, "मेरे आँगन के पास जो फूल खिलते हैं उनका जीवन बहुत कम है। उससे वह मशाला पीसने का लोढ़ा अधिक टिकाऊ है, अधिक दीर्घ स्थायी है। सत्य की जाँच करने का इससे सुन्दर मापदण्ड आप लोग पाएँगे कहाँ? फूल को जो नहीं पहचानता उसके लिए वह पत्थर का लोढ़ा ही बड़ा सत्य है।" इससे स्पष्ट है कि कमल जीवन में किसी भी प्रकार के पलायन को स्वीकार नहीं कर सकती। उसका यह आनन्दवाद कर्मण्यता की दृढ़ भित्ति पर आधारित है।

हम देखते हैं कि कमल का जीवन प्रायः अभावों में ही बीता है। आनन्दवाद की प्रबल समर्थिका होने पर भी स्वयं उसका व्यक्तित्व भौतिक सुखों से दूर रहा है। यह एक विचित्र तथ्य है कि सिद्धान्ततः तपस्या का विरोध करती हुई भी, उसने अपने आपको विभिन्न प्रकार की साधनाओं में निखारा है। उसके इस तपःपूत व्यक्तित्व को न तो संसार से ही कोई शिकायत है और न नियति से ही। शिवनाथ जब उसकी ओर से एकदम उदासीन हो जाते हैं, तब भी उनके प्रति उसका व्यवहार पूर्ववत् रहता है। यहाँ तक कि उनसे स्पष्ट छल एवं वंचना पाने पर भी वह उनके विरुद्ध नहीं होती। अजित के मतानुसार, "शिकायत करने

वाली स्त्री तो तुम हो भी नहीं !" और स्वयं कमल भी हरेन्द्र से कहती है, "अब सोचती हूँ कि उनमें (शिवनाथ में) जो कहकर जाने का साहस नहीं था, वही तो मेरा सम्मान है। छिपाव-दुराव, छल-कपट और उनके सभी मिथ्याचारों ने मुझे मर्यादा ही दी है। पाने के दिन मुझे धोखा देकर ही वे पा गये थे, किन्तु जाने के दिन मुझे सूद-ब्याज सब चुकता करके जाना पड़ा है। अब मुझे कोई शिकायत नहीं है।" इन शब्दों के पीछे हमें एक ऐसी शक्ति का आभास मिलता है जो किसी भी प्रकार की विरुद्धताओं के सम्मुख झुकती नहीं। आशु बाबू के समक्ष भी प्रायः इन्हीं शब्दों को दुहराती हुई कमल कहती है, "जो नहीं है वह क्यों नहीं है, कहकर आँखों के आँसू बहाने में मुझे लज्जा मालूम होती है, जितना वे कर सके हैं, उससे अधिक वे क्यों नहीं कर सके, इस बात को लेकर झगड़ा करने में मेरा सिर झुक जाता है।" और भी, "मैं प्रतिदिन ही विचार करके देखती हूँ, आशु बाबू। दुःख मैं नहीं पाती, ऐसी बात मैं कहती नहीं हूँ, किन्तु उसे ही मैंने नहीं मान लिया है। शिवनाथ के पास जो कुछ भी देने को था, वे दे चुके, मुझे जो कुछ मिलना था, वह मिल चुका—आनन्द के वे छोटे-छोटे क्षण ही मेरे मन में मणि-माणिक्य की तरह संचित हैं।" इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि उसकी आत्मा की शक्ति कितनी अजेय और अडिग है, जो प्रत्येक प्रतिकूल परिस्थिति में अचल रहती है। कर्म का आनन्द ही कमल के जीवन का सर्वस्व है, फल के प्रति उसकी कोई विशेष आस्था नहीं।

कमल के प्रेम एवं विवाह-सम्बन्धी सिद्धान्त विशेष रूप से विचारणीय हैं, क्योंकि प्रचलित परम्पराओं के वे एकदम विपरीत हैं। कदाचित् यह कहना भी असंगत न होगा कि अपने इन्हीं विचारों के कारण उसका व्यक्तित्व इतना असाधारण तथा विशिष्ट है। वस्तुतः कमल प्रेम को विशुद्ध मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से देखना चाहती है। इस सम्बन्ध में वह मिथ्या भावनाओं को कुछ भी महत्त्व नहीं देती। शाहजहाँ का मुमताज के प्रति एकनिष्ठ पत्नी-प्रेम ही ताजमहल के निर्माण का कारण था, इस बहु-प्रचलित मत का खण्डन करती हुई कमल कहती है, "सम्राट् मुमताज को जिस तरह प्यार करते थे उसी तरह अन्य औरतों को प्यार करते थे। शायद कुछ अधिक हो सकता हो, किन्तु एकनिष्ठ प्रेम उसको नहीं कहा जा सकता, आशु बाबू। उनमें यह बात तो नहीं थी···सम्राट् भावुक थे, कवि थे, अपनी शक्ति, सम्पत्ति और धैर्य से इतनी बड़ी एक विशाल सौन्दर्य की वस्तु स्थापित कर गये हैं। मुमताज तो एक आकस्मिक उपलक्ष्य मात्र थी। नहीं तो, ऐसा ही सुन्दर सौध वे किसी भी घटना को लेकर बनवा सकते थे। धर्म के उप-लक्ष्य में होता तो कोई हानि नहीं थी, हज़ारों लाखों मनुष्य वध करने के दिग्विजय की स्मृति के उपलक्ष्य में होता तो भी ठीक था। यह एकनिष्ठ प्रेम का दान नहीं है। यह बादशाह के अपने आनन्दलोक का अक्षय दान है। इतना ही तो

हम लोगों के लिए यथेष्ट है।" ऐसा जान पड़ता है कि कमल के प्रेम एवं विवाह सम्बन्धी विचारों में, मुक्त और किसी हद तक उच्छृंखल सौन्दर्योपभोग की प्रधानता है। इस मुक्त एवं सहज स्थिति के अभाव के कारण ही वह एकनिष्ठ प्रेम का खण्डन करती है। अपने अत्यन्त प्रबल तर्कों का सहारा लेती हुई वह कहती है, "निष्ठा का कोई मूल्य ही नहीं है; यह बात मैं नहीं कहती किन्तु जो मूल्य युग-युग से लगातार लोग उसे देते आये हैं वह भी उसका, प्राप्य मूल्य नहीं है। एक दिन जिसको प्यार किया है, किसी दिन किसी कारण से भी उसमें परिवर्तन का उपाय नहीं रहता, मन का यह अटल जड़ धर्म स्वस्थ भी नहीं है, सुन्दर भी नहीं है।" प्रेम की परम्पराओं के प्रति कमल का यह बिद्रोह उसे अनायास ही शरत् के नायिका-समाज में असाधारण रूप से महत्त्वपूर्ण स्थान दिला देता है। उसके निकट आदर्श प्रेम—या प्रेम वह है, जो अपने पात्र को किसी भी प्रकार बाँधना न चाहे।

आशु बाबू जैसे दृढ़ पत्नीव्रत व्यक्ति के सम्मुख भी कमल एकनिष्ठ प्रेम तथा वैधव्य की पवित्रता का तिरस्कार कर सकती है। उसके स्वच्छन्द मनो-राज्य में किसी भी प्रकार के अस्वाभाविक एवं अप्राकृतिक व्यवधानों की स्थिति नहीं है। जो कुछ सहज है, जो कुछ मुक्त है, वही करणीय है, ऐसा कमल का मत है। वृद्ध आशु बाबू के पत्नी-प्रेम की चर्चा करती हुई एक लम्बे संवाद में कमल कहती है, "एक दिन आशु बाबू ने अपनी स्त्री को प्यार किया था, किन्तु वे जीवित नहीं हैं। उनको देने की भी कोई चीज़ नहीं है, उनसे अब पाने की भी कोई वस्तु नहीं है। उनको अब सुखी भी किया नहीं जा सकता, दुःख भी नहीं दिया जा सकता। वे अब नहीं हैं। प्रेम का पात्र निश्चिह्न हो गया है। एक दिन उनको जो प्यार किया था वह स्मृति ही केवल मन में रह गयी है। मनुष्य नहीं है, है केवल स्मृति। दिन-रात मन में उसी को ध्यान करते हुए, वर्त्तमान की अपेक्षा अतीत को ही ध्रुव समझकर जीवन बिताने में कौन-सा बड़ा भारी आदर्श है, यह बात तो सोच-विचार करने पर भी मेरी समझ में नहीं आती।" और इस प्रकार इन कठोर तर्कों से वह आशु बाबू के इस स्मृति-सौध को गहरा धक्का पहुँचाती है। आगे वह और भी तीव्र स्वर में कहती है, "एक बड़ा नाम दे देने से ही तो कोई वस्तु संसार में सचमुच बड़ी नहीं हो जाती। बल्कि यह कहिए कि इस तरह इस देश में वैधव्य जीवन बिताने की ही प्रथा है, कहिए कि एक मिथ्या को सत्य का गौरव देकर लोग उनको (विधवाओं को) ठगते चले आ रहे हैं—इसे मैं अस्वीकार न करूँगी।"

प्रेम की हीभाँति विवाह के सम्बन्ध में भी कमल के अपने कुछ निश्चित मत हैं। एक प्रकार से कमल विवाह की संस्था को मान्यता नहीं देती। यही नहीं, वह इस अनुष्ठान का विरोध भी करती है। आशु बाबू के यह शंका प्रकट करने पर कि यदि शिवनाथ उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर ले तो वह क्या करेगी, कमल कहती

है, "वे करेंगे मुझे अस्वीकार और मैं जाऊँगी गला पकड़ कर उनसे स्वीकार कराने ? सत्य तो डूब जाएगा, और जिस अनुष्ठान को मैं मानती ही नहीं, उसी की रस्सी से उनको बाँध रखूँगी ? मैं करूँगी यह काम ?" इससे स्पष्ट है कि कमल जीवन की स्वाभाविक गति के सम्मुख किसी भी प्रकार के मिथ्या आडम्बर को नहीं मानती । प्राकृतिक तत्त्वों के वशीभूत होकर मन जिधर जाना चाहे, उसे उधर ही जाने दिया जाय, यह कमल का सिद्धान्त है । अवरोधों को वह ठहरने नहीं देना चाहती—'एक दिन के एक अनुष्ठान के ज़ोर से उसके छुटकारे का रास्ता यदि समस्त जीवन के लिए अवरुद्ध हो जाय तो उसे श्रेय की व्यवस्था कहकर माना नहीं जा सकता ।' उसका ध्यान जीवन की रसमयता पर अधिक केन्द्रित है अपेक्षाकृत तत्सम्बन्धी आचारों पर । अजित से वह अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहती है, "मैं यही कामना करती हूँ कि नर-नारी का यही परिचय किसी दिन प्रकाश की वायु की तरह सहज हो जाय ।" यह उसकी जीवन की नैसर्गिकता के प्रति आस्था है, बन्धन मुक्ति के प्रति विश्वास है । उसके आदर्श मनोराज्य में प्रकाश और वायु जैसे प्राकृतिक पदार्थों के समान ही नर-नारी का सम्बन्ध भी सुलभ और सार्वजनीन हो जायेगा ।

विवाह के प्रति कमल की इन धारणाओं से आशु बाबू के उस मत की पुष्टि होती है, जिसके अनुसार 'विवाह के प्रति नहीं, इसके Form (तरीके) पर ही शायद कमल की उतनी आस्था नहीं है ।' वस्तुतः कमल विवाह के अनुष्ठान को नितान्त मिथ्या ही नहीं मानती, पर वह उसे एकदम सत्य भी नहीं मानती । उस के मत से दो आत्माओं का पारस्परिक सम्मिलन ही वास्तविक सत्य है, विवाह तो उसका आवरण-मात्र है । आन्तरिक प्रेम की प्राण से, और विवाह की देह से सापेक्ष्य तुलना करती हुई वह कहती है, "जैसे प्राण भी सत्य है, देह भी सत्य है—किन्तु प्राण जब निकल जाता है ?" अर्थात् विवाह की तभी तक सार्थकता है, जब तक उसके दोनों भागी उसे मानें । यदि दोनों के हृदय एक-दूसरे से अलग हो चुके हैं तो कोई भी अनुष्ठान उन्हें बाँधकर नहीं रख सकता । अपनी इस विचार-धारा के अनुकूल ही कमल आवश्यकता से अधिक संयम को महत्ता नहीं देती । आशु बाबू के प्रति वह अपना मत व्यक्त करती है, "जहाँ पर संयम उद्धत आस्फालन से जीवन के आनन्द को मलिन कर देता है, वह कोई चीज़ नहीं है, वह मन की एक लीला है,—उसे बाँध रखना आवश्यक है । सीमा मानकर चलना ही तो संयम है—शक्ति की स्पर्द्धा में संयम की सीमा को भी लाँघ जाना सम्भव है । तब फिर उसे वह मर्यादा नहीं दी जा सकती । अति संयम भी एक तरह का असंयम है, यह बात क्या किसी दिन विचार कर आपने नहीं देखी आशु बाबू ?" इस लम्बे उद्धरण से स्पष्ट है कि प्राकृतिक जीवन क्रम पर आधारित कमल की विचार-धारा में संयम का महत्त्व प्रायः नहीं है, अति संयम तो परिहार्य है ही ।

सामाजिक आडम्बरों से अनुशासित विवाह की संस्था की व्यंग्यात्मक प्रशंसा करते हुए कमल कहती है, "वह तो अनभिज्ञ यौवन का पागलपन नहीं है, बहु-दर्शी गुरुजनों द्वारा किया हुआ कार्य है, सपने का मूलधन नहीं है—आँखों से देखी हुई पक्के आदमियों द्वारा जाँच-पड़ताल की हुई शुद्ध वस्तु है। अंकगणित में सांघातिक भूल न रहने से उसमें सहज ही दरार नहीं पड़ती। वह बहुत दृढ़ है—समूचे जीवन में वज्र की भाँति टिकी रहती है।" परन्तु कमल के लिए यह मिथ्या स्थायित्व ग्राह्य नहीं। वह तो मानती है कि स्वाभाविक रूप से जब तक प्रेम की स्थिति बनी रहे, तभी तक दो व्यक्तियों के बीच निकट का सम्बन्ध शोभन एवं वांछनीय है, परन्तु वास्तविक सूत्र के छिन्न हो जाने पर लौह-शृंखला का बन्धन भी असत् तथा अवांछनीय है। और क्योंकि वह यह मानती है कि 'सच्चा प्रेम भी संसार में इसी तरह टूटकर दूर हो जाता है' इसीलिए अधिकांश प्रेम के विवाह क्षणस्थायी हो जाते हैं, अतएव उसके निकट प्रेम के स्थायित्व का भी कोई मूल्य नहीं। यही नहीं उसके मतानुसार तो अस्थिरता ही प्रेम का सबसे बड़ा गुण है—डी० एच० लॉरेन्स के शब्दों में, "लव इज़ लाइक ए फ्लावर, इट मस्ट फ्लावर एण्ड फेड" अर्थात्, प्रेम एक पुष्प के समान है जिसे अनिवार्यतः खिलना और मुरझाना चाहिए, या "फाइडैलिटी एण्ड लव आर टू डिफ़रेण्ट थिंग्ज़, लाइक ए फ्लावर एण्ड ए जैम" अर्थात्, स्थिरता एवं प्रेम दो अलग-अलग वस्तुएँ हैं—पुष्प और मणि के समान।

प्रेम और विवाह को लेकर कमला का आक्रोश समस्त पुरुष जाति के प्रति अत्यधिक है। वह जानती है कि आदिम युगों से ही समाज की बागडोर पुरुषों के हाथ में रहने के कारण, उन्होंने अपने स्वार्थ के अनुकूल सामाजिक नियमों का विधान किया है। वह ऐसी मान्यताओं के प्रति विद्रोह प्रकट करती है। उसका स्पष्ट मत है, 'एक दिन जिन लोगों ने कहा था कि नर-नारियों के प्रेम का इतिहास ही मानव-सभ्यता का सर्वापेक्षा सत्य इतिहास है, उन्हीं लोगों ने सत्य का पता सबसे अधिक पाया था, किन्तु जिन लोगों ने घोषणा की थी—पुत्र के लिए ही स्त्री का प्रयोजन है, वे लोग स्त्रियों का केवल अपमान करके ही शान्त नहीं हुए, वरन् अपने बड़े होने के रास्ते को भी बन्द कर गये।' कमल कोई ऐसा कारण नहीं जानती जिसके आधार पर वह नारी जाति को पुरुष से नीचा समझे, परन्तु फिर भी उसे यह ज्ञात है कि नारियों की मुक्ति पुरुषों द्वारा ही सम्भव है, क्योंकि 'विश्व का ऐसा ही नियम है; शक्ति के बन्धन से शक्तिमान लोग ही दुर्बलों का परित्राण करते हैं। उसी तरह, नारियों को मुक्ति आज भी केवल पुरुष ही दे सकते हैं। दायित्व तो उन्हीं लोगों का है।' इन पंक्तियों द्वारा कमल समस्त नारी-जाति की मुक्ति के लिए, 'इमैन्सिपेशन' के लिए, अपील करती है। मनोरमा के 'अपराध' को आशु बाबू से क्षमा कराने के लिए उसकी इस युक्ति में व्यावहारिक

बुद्धि का प्राधान्य है ।

जैसा हमने ऊपर देखा, भोग और संयम के सम्बन्ध में कमल के अपेक्षाकृत सर्वाधिक दृढ़ विचार हैं । वह जीवन को घुटने देना नहीं चाहती । हरेन्द्र के आश्रम की व्यवस्था का वह तीव्र विरोध करती है, "उस दिन मैं आश्रम में जो कुछ देख आयी हूँ, वह क्या संयम और त्याग की शिक्षा है ? उन लोगों को क्या मिला है ? मिला है दूसरों का दिया दुःख का बोझ, मिला है अनधिकार, मिली है प्रवंचित की क्षुधा । चीनियों के देश में जन्मकाल से ही लड़कियों के पाँव छोटे बनाये जाते हैं । पुरुष उन्हें सुन्दर कहें—यह मैं सह सकती हूँ, किन्तु लड़कियाँ जब अपने उन पंगु, विकृत पैरों की सुन्दरता पर स्वयं ही मोहित होती हैं, तब मेरे लिए आशा करने की कोई भी बात नहीं रह जाती ।" सनातन काल से चले आने वाले पुरुषों के अत्याचार के प्रति कमल का यह तीखा विद्रोह है । जीवन की स्वाभाविक गति में किसी भी प्रकार का अवरोध उसे असह्य है, किन्तु यह स्मरणीय है कि अति-संयम का वह तिरस्कार करती है, संयम को भी बहुत अधिक महत्ता नहीं देती, पर फिर भी वह जीवन में भोग को प्रश्रय देने के लिए प्रस्तुत नहीं, विचारों में भी और व्यवहार में भी । हरेन्द्र से वह कहती है, "केवल भोग को ही जीवन का सर्वश्रेष्ठ उद्देश्य बनाकर कोई जाति कभी बड़ी नहीं हो सकती, स्वयं अपने जीवन में वह खान-पान को लेकर जिस कृच्छ्र-साधना का आचरण करती है, वह किसी भी तपस्वी के लिए स्पृहणीय हो सकता है । ऐसा जान पड़ता है कि कमल वस्तुतः संयम का अनादर नहीं करती, वरन् संयम के नाम पर मिथ्या बन्धनों को वह अस्वीकार करती है । उसके अनुसार संयम जहाँ अर्थहीन है, वह केवल निष्फल आत्मपीड़न है । अजित द्वारा विवाह का प्रस्ताव आने पर वह यही कहती है, "बहुत मज़बूत बनाने के लोभ से एकदम ठोस और छिद्रहीन मकान बनाने की इच्छा मत करना । उससे मुर्दे की क़ब्र भले ही बन जाय, जीवित मनुष्य का शयनागार नहीं बन सकता ।"

कमल के सम्पूर्ण जीवन-दर्शन के मूल में छिपी हुई है उसकी जिजीविषा—जीने की आकांक्षा । जीवन से उसे गहरा अनुराग है । और जीवन भी कैसा, जिसमें अचल होकर पड़े रहने की भावना नहीं है, वरन् जिसमें प्रत्येक कठिनाई का सामना करने की उमंग है । वह आत्महत्या करेगी, यह बात तो उसके 'विधाता भी नहीं सोच सकते ।' किसी भी मूल्य पर कमल जीवन को निस्पन्द एवं शिथिल नहीं होने देना चाहती । उसके निकट तो जीवन का सतत गतिहीन रहना ही काम्य है । अजित से वह कहती है, "द्रुतगति से चलने में एक भारी आनन्द है, वह चाहे गाड़ी की हो या मनुष्य-जीवन की ही क्यों न हो । किन्तु जो लोग डर-पोक हैं, वे नहीं चल सकते । वे सावधानी से धीरे-धीरे चलते हैं । सोचते हैं, पैदल चलने का जो कष्ट बच गया, वही उनके लिए बहुत है । रास्ते को धोखा देकर

वे खुश हैं, अपने को धोखा दे रहे हैं, इसका पता ही उन्हें नहीं चलता ।" परन्तु इसके साथ ही साथ कमल यह भी जानती है कि कृत्रिम उपायों से जीवन को विकृत बना देना उचित भी नहीं। 'संयम जब सहज स्वाभाविक न होकर दूसरे पर आघात करता है, तभी वह दुर्वह हो जाता है ।' हरेन्द्र के ब्रह्मचर्याश्रम से वह इसीलिए सन्तुष्ट नहीं है । उसका स्पष्ट मत है, "इनको मनुष्य बनाना चाहते हो तो साधारण, सहज मार्ग से बनाइए—मिथ्या दुःख का बोझ सिर पर लादकर असमय में ही कुबड़ा मत बना दीजिएगा ।"

जैसा हम पहले ही कह चुके हैं, कमल के व्यक्तित्व का एक प्रमुख गुण यह है कि वह जीवन के छोटे-से-छोटे आनन्द का भी तिरस्कार नहीं करती । इसलिए प्रेम, भले ही उसकी अवधि अत्यन्त सीमित हो, कमल के निकट सदैव श्रद्धेय एवं वांछनीय है । यही नहीं, क्षणिक मोह का भी वह पश्चात्ताप नहीं करती । और वैसे तो पश्चात्ताप करना उसके स्वभाव में ही नहीं है, 'जितना पा चुकी हूँ, उससे अधिक क्यों नहीं मिला है, इसकी मुझे जरा भी शिकायत नहीं है ।' अस्तु, क्षणिक मोह को प्रश्रय देने के लिए कमल एक अत्यन्त स्पष्ट भाव-चित्र (imagery) के माध्यम द्वारा अजित से कहती है, "किस आदिम काल में कुहरे की सृष्टि हुई थी, आज भी वह उसी तरह विद्यमान है। सूर्य को उसने बार-बार ढँका है और बार-बार ढँकता रहेगा । सूर्य ध्रुव है या नहीं मैं नहीं जानती, किन्तु कुहरा भी असत्य प्रमाणित नहीं हुआ है। ये दोनों ही नश्वर हैं और शायद दोनों ही नित्यकाल के हैं । उसी तरह मोह भले ही क्षणिक हो, किन्तु क्षण भी तो मिथ्य नहीं है । क्षणभर का आनन्द लेकर ही वह बार-बार लौट आता है। मालती फूल की आयु सूर्यमुखी की तरह लम्बी नहीं, इसलिए कौन उसे असत्य कहकर उड़ा देगा !" इस प्रकार क्षण की महत्ता या क्षण का असीमत्व उसकी विचार-धारा का प्रमुख अंग है। वस्तुतः आनन्द का प्रवाह उसके लिए समयातीत है। एक और हृदयग्राही भाव-चित्र के सहारे वह आशु बाबू को क्षणिक प्रेम के सौन्दर्य से अवगत कराती है—'सूर्यास्त के समय बादलों पर जो रंग खिल उठता है चाचाजी, वह स्थायी भी नहीं है, वह उसका स्वाभाविक रंग भी नहीं है, किन्तु इसीलिए उसे झूठ कौन कहेगा ?' कहना न होगा कि कमल का यह अत्यन्त स्पष्ट एवं अपीलिंग दृष्टिकोण आलोचक की व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखता ।

कमल जीवन में किसी भी जातिगत अथवा साम्प्रदायिक भेद-भाव को स्वीकार नहीं करती । वह सम्पूर्ण रूप से मानवता की उपासिका है, मनुष्य-मात्र की महत्ता में उसकी आस्था है । भारतीयता की भावना के प्रबल समर्थक आशु बाबू से वह कहती है, "भारत की विशेषता और यूरोप की विशेषता में भेद है—किन्तु किसी देश के किसी वैशिष्ट्य के लिए मनुष्य नहीं है, मनुष्य के लिए ही उसका आदर

है । असल बात विचार करने की यह है कि वर्तमान समय में उसका वह वैशिष्ट्य कल्याणकर है या नहीं । इसके सिवा सभी बातें केवल अन्ध-मोह हैं ।" जीवन को उसके स्वाभाविक एवं समग्र रूप में देखने के ही कारण कमल का दृष्टिकोण सब प्रकार की 'प्रेजुडिस' से परे, नितान्त उदार तथा मानवतावादी है। उसके निकट मनुष्य अपनी सारी अच्छाइयों और बुराइयों के साथ भी श्रद्धेय है। वह एक राष्ट्र की नहीं, वरन एक विश्व के संगठन की कामना करती है—"विश्व के सभी मानव यदि एक ही चिन्ता, एक ही विधि-निषेध की ध्वजा पकड़कर खड़े हो जायें तो उससे हानि ही क्या है ? भारतीय के रूप में हम पहचाने न जाएँगे, इसी बात का तो भय है ? भले ही न पहचाने जायें। विश्व की मानव जाति में से हम भी एक हैं, इस तरह का परिचय देने में तो कोई आपत्ति न करेगा, उसका गौरव भी क्या कुछ कम है ?" इसलिए किसी भी देश की संस्कृति के गुणों को वह ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत है । इसमें उसे लज्जा या हीनता का अनुभव नहीं होता । सम्पूर्ण मानवता का कल्याण हो, यही उसकी 'ऐथिक्स' है ।

कमल एक ओर यदि अत्यधिक चिन्तनशील है तो दूसरी ओर उसकी तर्क-शक्ति भी एकदम सुलझी हुई एवं प्रखर है । पूरा-का-पूरा उपन्यास उसके बौद्धिक कथोपकथनों से भरा पड़ा है । हर एक विषय पर उसका अपना सुचिन्त्य मत है, जिसे वह अत्यन्त शक्ति एवं प्रभाव के साथ अभिव्यक्त करती है । तर्क में दुराग्रह करना उसकी प्रकृति के विरुद्ध है, परन्तु उसके तर्क स्वयं इतने अकाट्य हैं कि उनके सम्मुख प्रतिपक्षियों को झुकना ही पड़ता है । उसकी बातचीत में वकीलों की-सी जिरह मिलती है । नारी के पातिव्रत-धर्म के सम्बन्ध में अपना मत देती हुई वह कहती है, "अनेकानेक लोग बहुत दिनों से कोई एक बात कहते आ रहे हैं, इसीलिए मैं उसे मान नहीं लेती । पति की स्मृति को हृदय में लेकर विधवा को जीवन बिताना चाहिए, इस प्रकार की स्वतःसिद्ध पवित्रता की धारणा को भी मेरे सामने जबतक कोई पवित्र प्रमाणित नहीं कर देता, तब तक मुझे उसे स्वीकार करने में हिचकिचाहट ही रहेगी ।" उक्त सिद्धान्त हमारी प्रचलित परम्पराओं एवं मान्यताओं के विरुद्ध है, पर फिर भी हम यह जानते हैं कि उसे आसानी से निराधार सिद्ध नहीं किया जा सकता । और यह स्पष्ट है कि कमल की अचूक तर्क-शक्ति के प्रायः वही मतवाद शिकार होते हैं, जो युग-युगों से हमारी भावनाओं से लिपटे चले आ रहे हैं। नीतिशास्त्र में कर्त्तव्य की भावना को प्रायः बहुत महान् एवं स्पृहणीय माना जाता है, परन्तु कमल का कहना है कि 'कर्त्तव्य में जो आनन्द-सा प्रतीत होता है, वह दुःख का ही नामान्तर है। उसको बुद्धि के शासन से जबर्दस्ती मान लेना पड़ता है। वही तो है बन्धन।' इसी प्रकार बहु-कथित संयम को भी वह जीवन का बड़ा आदर्श नहीं मानती । हरेन्द्र से वह कहती है, "सभी संयमों की तरह यौनसंयम में भी सत्य निहित है, किन्तु वह गौण सत्य

है। आडम्बर करके उसको जीवन का मुख्य सत्य बना देने से वही हो जाता है एक प्रकार का असंयम। उसका दण्ड भी है। आत्मनिग्रह के उग्र दम्भ से आध्यात्मिकता क्षीण हो जाती है।" और तब आश्चर्य ही क्या जो हरेन्द्र को पराजित स्वरों में कमल के सम्मुख स्वीकार करना पड़ता है, "आपके साथ तर्क में जीतने का उपाय नहीं है।" यही नहीं, अविनाश भी इस बात से सहमत हैं।

कमल के अत्यधिक तर्कशील होने का एक प्रधान कारण यह है कि उसका वार्तालाप सदैव बौद्धिक स्तर पर रहता है। भावनाओं के आवेग में वह बह नहीं जाती। इसीलिए उन सारी बातों को, जिन्हें हम प्रायः स्वतःसिद्ध माना करते हैं, कमल सदैव एक शंकालु की दृष्टि से देखती है। वह प्रत्येक बात की तह तक पहुँचना चाहती है। मत और कार्य-पद्धति के सम्बन्ध में विवेचन करती हुई वह राजेन्द्र से कहती है, "मत और काम दोनों ही बाहर की वस्तुएँ हैं राजेन, मन ही सत्य है।" यहाँ हमें कमल के तत्त्व तक पहुँचने वाले स्वभाव के दर्शन होते हैं। एक बात और है। अपने इन तत्त्वदर्शी सिद्धान्तों को वह यथासम्भव अत्यन्त संक्षेप में---प्रायः सूत्र शैली में व्यक्त करती है। "अँधेरे का उससे भी बड़ा एक और अपराध है अजित बाबू, अकेले जाने में डर लगता है"; "मेरे आँगन के पास जो फूल खिलते हैं, उनका जीवन बहुत कम है; उससे वह मसाला पीसने का लोढ़ा अधिक टिकाऊ है, अधिक दीर्घ स्थायी है, फूल को जो नहीं पहचानता उसके लिए वह पत्थर का लोढ़ा ही बड़ा सत्य है"; "पेड़ के पत्ते सूखकर झर जाते हैं, उनकी क्षति नये पत्ते भर देते हैं; यह तो हुआ झूठ, और बाहर की सूखी लता मर जाने पर भी पेड़ के सर्वांग से चिपटकर, जकड़कर उससे कस के लिपटी रहती है, वही हो गया सच?" इस प्रकार के संक्षिप्त परन्तु अपीलिंग वाक्यों से कमल का वार्तालाप सदैव युक्त रहता है। अन्तिम उदाहरण से शरत् बाबू के भाव-चित्रों (Imageries) के कुशल चयन का आभास मिलता है। कहना न होगा कि इस प्रकार की सूत्रात्मक शैली के प्रयोग से पात्रों के कथोपकथन कितने प्रभावोत्पादक हो जाते हैं। यही आशु बाबू के शब्दों में कमल की 'बातों की जादूगरी' है।

कमल की बातचीत की शैली नितान्त स्पष्ट एवं प्रखर होती हुई भी अत्यन्त मिष्ट है। किसी के मन को चोट पहुँचाने के लिए वह तर्क नहीं करती। आशु बाबू का कहना है, "क्या ही मीठी बातें हैं उस लड़की की,—केवल सौन्दर्य ही नहीं है।" यही नहीं, शिष्टता एवं नम्रता भी उसके वार्तालाप के अनिवार्य गुण हैं।" इसी कारण उसका सत्यवादी होना और भी सराहनीय है। किसी की झूठी प्रशंसा करना वह नहीं जानती, परन्तु उसकी अप्रशंसा भी अशिष्ट नहीं है। जो बात उसके मन में है, वही मुख में भी। अपनी माता की कलंक-कथा वर्णित करने में उसे किसी प्रकार की लज्जा का अनुभव नहीं होता। स्वर्गीय पिता का

स्मरण करती हुई वह कहती है, "मैं तो कभी झूठ नहीं बोलती, अजित बाबू। इस जीवन में कभी किसी भी कारण झूठी चिन्ता, झूठा अभिमान, झूठी बात का आश्रय मैं न लूं, बाबूजी यही शिक्षा मुझे बार-बार दे गये हैं।" कमल के मन में सत्य के लिए कितना अधिक आग्रह है, इसका आभास हमें उसके उपर्युक्त कथन से मिलता है। इसके साथ-साथ कमल मात्र सत्यभाषिणी ही नहीं है, वह निरन्तर सत्य का आचरण भी करती है। उसके सम्बन्ध में अजित का कहना है, "शायद किसी को धोखा देने का स्वभाव उनका नहीं है।" और तो और कमल से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने पर भी शिवनाथ उससे पाखण्ड की आशा नहीं करता। स्वयं कमल भी हरेन्द्र से कहती है, "मेरे काम भले हुए या बुरे, मेरा जीवन पवित्र है या कलुषित, इस विषय में आप चुप हैं, किन्तु वे तो गुप्त रूप से न होकर आँखों के सामने सबकी उपेक्षा करके ही होते रहे हैं।" इस प्रकार से कमल का व्यक्तित्व हमारे सम्मुख एक खुले पृष्ठ के समान आ जाता है, जो चाहे उसे पढ़े।

कमल के तार्किक रूप के पीछे अनिवार्यतः रहने वाला उसका विचारक रूप अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आशु बाबू के शब्दों में, उसने 'जो कुछ सीखा है, बिलकुल संशय छोड़कर खूब अच्छी तरह सीखा है। उम्र भी तो अभी अधिक नहीं है, किन्तु अपने मन को मानो उसने इसी अवस्था में पूर्णतः उपलब्ध कर लिया है।' वस्तुतः कमल के व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषताएँ उसके विचारों में हैं—ऐसे विचार जो प्राचीन रूढ़ियों एवं परम्पराओं से मुक्त होकर एक स्वस्थ एवं सबल समाज के निर्माण की ओर दिशा-निर्देश करते हैं। जीवन की वास्तविकता के हर पहलू को कमल ने अपनी आँखों देखने की चेष्टा की है, इसीलिए उसका ज्ञान पौस्तकीय नहीं है, और इसीलिए वह विद्वज्जनों के आप्त वाक्यों को ज्यों-का-त्यों मानने के लिए प्रस्तुत नहीं है। उसके विचारों में एक निश्चिन्तता है, एक आत्मनिष्ठा है, जिससे वह दुराग्रही अथवा हठवादी नहीं बनती, वरन् सच्चे अर्थों में एक द्रष्टा बनती है। अध्यापकीय ज्ञान उसे कम मिला है, चिन्तन एवं मनन अपने मूल में सृजनात्मक है, भले ही अपने बाह्यरूप में वह विनाशात्मक जान पड़े। और समाज के उन तत्त्वों का तो कमल विनाश ही चाहती है, जिनकी स्थिति से निर्माण का कार्य अवरुद्ध हो गया है। कमल की विचार-धारा के सम्बन्ध में, आशु बाबू के रूप में शरत् बाबू चेतावनी देते हैं कि 'उसकी सब बातें सब समय समझ में भी नहीं आतीं, मानी भी नहीं जा सकतीं।' वस्तुतः उनको समझने के लिए बहुत सुलझे हुए मस्तिष्क की आवश्यकता है।

अपने एकनिष्ठ प्रेम सम्बन्धी दृष्टिकोण को आशु बाबू के सम्मुख उपस्थित करने पर, उन्हें क्षुब्ध होते देखकर कमल ठीक ही कहती है, "बहुत दिनों से दृढ़मूल संस्कार में आघात लगने से मनुष्य हठात् उसे सह नहीं सकता।" अपने सिद्धान्तों के सम्बन्ध में दूसरों की प्रतिक्रिया के प्रति सहनशील रहना, सच्चे

विचारक का प्रथम गुण है। इससे उसकी मनन-शक्ति की गहराई का पता चलता है। अपनी शक्ति पर विश्वास होने के ही कारण कमल दूसरी सभ्यताओं के अनुकरण में लज्जा की कोई बात नहीं देखती। इसी प्रकार से भूल होने पर उसे स्वयं सुधार लेने को भी वह अपमानकर नहीं समझती। उसका मत है कि यदि कोई कार्य उचित लगता है तो उसे बिना किसी भय से त्रस्त हुए कर डालना चाहिए। और फिर यदि उसमें कोई भूल दिखाई दे तो तुरन्त ही उसका संशोधन भी कर डालना चाहिए। इस मत पर वह दृढ़ विश्वास रखती है, स्वयं उस पर आचरण करती है, और दूसरों को भी उसी का उपदेश देती है। इसीलिए मनोरमा और शिवनाथ के सम्बन्ध में, आशु बाबू की धारणाओं के प्रतिकूल, उसे कुछ भी कुत्सित नहीं दिखाई देता। उपन्यास के अन्तिम भाग में, अपनी विचार-धारा का सार तत्त्व-सा उपस्थित करती हुई वह कहती है, "आचार-अनुष्ठान को झूठा बनाकर मैं उड़ा देना नहीं चाहती, मैं तो केवल इसमें परिवर्तन करना चाहती हूँ। समय के धर्मानुसार आज जो अचल होते जा रहे हैं, उन्हीं को मैं चोट पहुँचाकर सचल कर देना चाहती हूँ।" यह मात्र बौद्धिकता की भावनाओं पर विजय नहीं है, वरन् बुद्धि और हृदय का सच्चा समन्वय है।

अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व में क्रान्तिकारिणी होते हुए भी कमल का व्यावहारिक संयम अत्यन्त सराहनीय है। उसकी सहनशीलता—विचारगत एवं कर्मगत, अपने आप में श्रद्धेय है। अत्यन्त क्रोधी अक्षय के अनेक आक्षेपों एवं आरोपों का उत्तर वह हँस कर देती है। अक्षय के अतिरिक्त अन्य सारे विरोधियों के व्यंग्य बाणों को भी वह शान्तिपूर्वक सहन करती है, मानो उनके द्वारा किये गये सारे मान-अपमानों से वह परे है। जिस ऊँचाई पर वह प्रतिष्ठित है, वहाँ तक इन तुच्छ व्यक्तियों की पहुँच ही नहीं है। अपने विरुद्ध सामाजिक षड्यन्त्र की बात सुनकर वह आशु बाबू से एक स्मित हास्य के साथ कहती है, "अर्थात् कुशांकुर के ऊपर वज्राघात! किन्तु समाज और लोकालयों से बहिर्गत मुझ सदृश एक तुच्छ औरत के विरुद्ध षड्यन्त्र किसलिए? मैं तो किसी के घर जाती नहीं।" इसीलिए उसके मन में किसी के प्रति कोई विरुद्धता का भाव नहीं है। वस्तुतः वह दूसरों को इस योग्य समझती ही नहीं कि वे उसका किसी प्रकार अपमान कर सकते हैं।

और सबसे बढ़कर उसका सुकठोर धैर्य है। शिवनाथ की प्रवंचना जानकर 'चेहरे पर वेदना का आभास नहीं फूटा और न तो अभियोग की भाषा ही निकली।' नियति का इतना बड़ा आघात उसे तनिक भी न डुला सका। वह यथावत् स्थिर बनी रही। जैसा हम जानते हैं, उसके इस अपार धैर्य के पीछे उसका जीवन-दर्शन है, जो क्षण के आनन्द को महत्ता देता है, और किसी के विरुद्ध कोई शिकायत करना नहीं जानता। यही नहीं, अनुकूल एवं प्रतिकूल समय के प्रवाह ने उसकी प्रकृति को कठोर बना दिया है। साहसिकता में वह किसी से

कम नहीं है। जगत् में किसी भी बात से वह डरती नहीं है, मृत्यु से भी नहीं। उसका स्पष्ट मत है, 'पुरुष के भोग्य की वस्तु जो लोग हैं, मैं उनकी जाति की नहीं हूँ।' यह वाक्य मानो उसके व्यक्तित्व का मूल सूत्र है। अभी तक पुरुष से स्वतन्त्र करके नारी को सामाजिक विधानों में स्थान नहीं दिया गया, परन्तु कमल इस नियम का अपवाद सिद्ध होती है। वह दिखा देती है कि नारी यदि चाहे तो पुरुष की भोग्या हुए विना भी अपना जीवन-निर्माण कर सकती है। उसके व्यक्तित्व की दृढ़ता सदैव अक्षुण्ण रहती है। उसकी विचार-धारा कहीं बदलती नहीं, इसीलिए बहुत-से स्थानों पर हमें उसके वार्तालाप में पुनरुक्ति दिखाई देती है। आवेग के वश में होकर उसका करणीय अन्यथा नहीं हो जाता। प्रबल मनोवेगों से आक्रान्त अजित से वह कहती है, "केवल एक ही रात की भूल के बदले में इतना बड़ा दण्ड आपके सिर पर लाद देने में मुझे दया आ रही है।" राग की छाया में कमल का यह विराग उसके स्वस्थ एवं सबल व्यक्तित्व का परिचायक है।

जैसा हम अपनी इस समीक्षा में कई वार कह चुके हैं, प्राचीन के प्रति विद्रोह कमल के व्यक्तित्व की मौलिक धारणा है। शेली की 'पच्छिमी हवा' के समान वह उस सबको स्थानच्युत कर देना चाहती है, जो पीत है, जो जर्जरित है। परम्पराओं से उसे कोई मोह नहीं, प्राचीनता की महत्ता उसे मान्य नहीं। जो कुछ सामूहिक रूप से कल्याणकर है, वही उसके निकट मान्य है। और वही उसके लिए जीवन का सबसे बड़ा सत्य है। वह यह भी जानती है कि 'मिथ्या के साथ समझौता करने के लिए जीवन की कितनी ही सम्पदा मनुष्य नष्ट कर डालता है।' परन्तु वह स्वयं कभी ऐसा समझौता करने के लिए प्रस्तुत नहीं होती। सत्य का आवरण धारण करने वाले मिथ्या को तो वह टिकने ही नहीं देना चाहती, भले ही वह अत्यन्त प्राचीन क्यों न हो। उसका स्पष्ट मत है, "कोई आदर्श ही बहुत दिनों से स्थायी रहा है, इसी कारण वह चिरस्थायी नहीं हो सकता, और उसके परिवर्तन में भी लज्जा नहीं है,—यही बात मैं आपसे कहना चाहती थी, उससे यदि जाति की विशिष्टता चली जाती है, तो भी।"

प्राचीनता में अनावश्यक आस्था रखने वाले व्यक्तियों के लिए कमल के उक्त सिद्धान्त नितान्त अनर्गल हो सकते हैं, परन्तु निरपेक्ष विचारकों की दृष्टि में उनका मूल्य उपेक्षणीय नहीं। कमल की यह बात कितनी अधिक सच है कि 'लुप्त वस्तुओं का पुनरुद्धार मात्र अच्छा ही होता है, इसका प्रमाण नहीं है। मोह के नशे में बुरी वस्तुओं का भी पुनरुद्धार होते देखा जाता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि इस प्रकार की भूल एक बार नहीं, अनेक बार हमारे सुधारकों द्वारा हुई है।' अतीत के प्रति यह जड़ मोह मानवता के विकास के लिए कितना घातक

है, इसे सभी समाजशास्त्री जानते हैं। परन्तु इसी तथ्य को कमल अपनी शैली में कहती है, उसे और भी प्रभावोत्पादक बनाकर। "वस्तु अतीत होती है काल के धर्म से, किन्तु उसे अच्छा होना पड़ता है अपने गुणों से। केवल प्राचीन होने से ही वह पूजनीय नहीं हो जाती।" कमल का यह मन्तव्य जितना ही कठोर है, उतना ही सत्य भी। मात्र भावनाओं के आवेग में हम इस तथ्य को भुला नहीं सकते और इसीलिए उसकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। वृद्ध एवं अनुभवी आशु बाबू इसी बात को यों कहते हैं, "तुम लोग तो उसे जानते ही हो, जो कुछ प्राचीन है उससे उसको प्रबल घृणा है। हिला-डुलाकर तोड़ डालना ही मानो उसका फैशन है। मन सम्मति प्रकट करना नहीं चाहता, चिर दिन का संस्कार भय के कारण काठ-सा हो जाता है, तो भी कोई बात ढूँढ़ने से नहीं मिलती, हार मान लेनी पड़ती है।" कहना न होगा कि यहाँ आशु बाबू कमल के चरित्र के अनेक अध्येताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।

अत्यन्त निर्धन अवस्था में जीवन व्यतीत करती हुई भी कमल अपने आत्म-सम्मान की सदैव रक्षा करती है। हरेन्द्र से वह कहती है, "मैं सचमुच ही बहुत ग़रीब हूँ, अपना भरण-पोषण करने की जितनी मुझमें शक्ति है, उससे अधिक कुछ नहीं किया जा सकता। पिताजी मुझे कुछ भी देकर नहीं जा सके हैं, किन्तु वे मुझे दूसरों के अनुग्रह से मुक्ति पाने के लिए यह बीज मन्त्र देकर गये हैं।" और कमल अपने व्यावहारिक जीवन में सदैव इस आदर्श का निर्वाह करती है। अजित आशु बाबू को ठीक ही बताता है कि 'वह (रुपये की जरूरत) उनके (कमल के) आत्मसम्मान की अपेक्षा बढ़कर नहीं भी हो सकती है।' यहाँ स्मरणीय यह है कि कमल का व्यक्तित्व आत्मसम्मान से युक्त होने पर भी दर्प अथवा व्यर्थ के अभिमान की भावना से रहित है। नीलिमा के शब्दों में, 'यों तो लड़की बहुत अच्छी मालूम होती है, अहंकार जरा भी नहीं है।' परन्तु फिर भी उसकी दृढ़ता ऐसी है कि वह अपने अत्यधिक प्रिय शिवनाथ से भी दुबारा सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहती।

कमल अनिवार्यतः एक स्वावलम्बी महिला है, इसीलिए उसे आत्माभिमान शोभा भी देता है। अजित से वह स्पष्ट कहती है, "कमल किसी की सम्पत्ति नहीं है। वह केवल अपनी ही है, और किसी की नहीं!" उसकी इस घोषणा का मूल्य तब और बढ़ जाता है, जब हम देखते हैं कि वह कितनी दरिद्र है, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि कमल की यह दरिद्रता 'मानो महादेव जी की दरिद्रता है' जिसमें ऐश्वर्य के प्रति एक विचित्र उदासीनता का भाव है; और इन सबके पीछे उसके मन की समृद्धता है। उसकी इस मन की समृद्धता के ही कारण बड़ी-से-बड़ी असहायावस्था भी इस रमणी को लेशमात्र भी दुर्बल नहीं कर सकी है। अपनी विषम परिस्थितियों में भी वह 'भीख नहीं माँगती—भीख देती है।' आशु बाबू,

हरेन्द्र इत्यादि सभी को उसके साहस की प्रशंसा करनी पड़ती है। किसी के मतामत का मुँह देखते रहने की चिन्ता उसके कर्त्तव्य में बाधा नहीं डालती। नीलिमा के शब्दों में, "कमल को देखते ही दिखाई पड़ता है कि वह स्वाधीनता अपनी पूर्णता से, आत्मा के अपने विस्तार से स्वयं ही आती है।" ऐसा जान पड़ता है मानो उसकी कर्मण्यता एवं उसकी मानसिक स्वाधीनता ने मिलकर ही उसके जीवन को इतना समृद्ध तथा इतना सन्तोषप्रद बना दिया है। अशान्ति तथा असन्तोष की ज्वाला उसके मन को कभी नहीं जलाती। बड़े-बड़े धनी व्यक्तियों के बीच भी वह कपड़ों की सिलाई करके तथा एक समय खाना खाकर अपना जीवन व्यतीत करती है। व्यक्तियों से सन्तुष्ट, समाज से सन्तुष्ट, नियति तथा स्वयं अपने आपसे सन्तुष्ट—यही है कमल के व्यक्तित्व का अपरिसीम वैभव। किसी का अनुग्रह वह स्वीकार नहीं करती, यहाँ तक कि आशु बाबू का भी नहीं।

अपने आप में ही अत्यधिक विश्वास रखने के कारण, कमल भगवान् के प्रचलित स्वरूप में विश्वास नहीं रखती। अजित से वह कहती है, "भगवान् को तो मैं मानती नहीं, नहीं तो उनसे प्रार्थना करती कि दुनिया के सभी आघातों की आड़ में तुमको रखकर ही एक दिन मैं मर सकूँ।" परन्तु यह एक विचित्र तथ्य है कि भगवान् का अस्तित्व न मानते हुए भी कमल एक ऐसी अज्ञात सत्ता में अवश्य विश्वास रखती है, जो मानव-जीवन के साथ सदैव खिलवाड़ किया करती है। दूसरे शब्दों में हम इस अज्ञात शक्ति को नियति कह सकते हैं। अजित से ही वह कहती है, "यही तो मनुष्य की सबसे बड़ी भूल है। वह सोचता है मानो सब कुछ उसके ही हाथ में है। किन्तु कहाँ से कौन उसकी सारी व्यवस्था उलट-पुलट देता है, इसका पता किसी को नहीं चलता।" ऐसा जान पड़ता है कि यद्यपि भगवान् के परम्परागत रूढ़ियों में बँधे हुए स्वरूप को कमल नहीं मानती, फिर भी वह किसी एक ऐसी शक्ति का अस्तित्व अवश्य स्वीकार करती है जो मनुष्य के कर्मों का नियामक है—शेक्सपियर के शब्दों में, 'देयर इज़ ए डिविनिटी दैट शेप्स अवर ऐण्ड्स'। इस प्रकार उसका 'भगवान्'—यदि हम उसे भगवान् संज्ञा दे सकें—भावनाओं से निर्मित नहीं हुआ है, उसका अस्तित्व मनन और चिन्तन पर आधारित है।

यहाँ तक तो हमने कमल के चरित्र की व्याख्या स्वयं उसी की विचार-धारा तथा आचरण को ध्यान में रखते हुए की। अब हम बहुत संक्षेप में उपन्यास के अन्य पात्र-पात्रियों से उसका सम्बन्ध दिखाने की चेष्टा करेंगे। एक प्रकार से कमल का व्यक्तित्व 'शेष प्रश्न' का केन्द्रबिन्दु है, जिसके चारों ओर अन्य चरित्र घूमते हैं। कमल एवं आशु बाबू के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन हमारे लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है, क्योंकि इस सम्बन्ध में अब दो मत नहीं हैं कि 'शेष प्रश्न' के आशु वैद्य में स्वयं शरत् बाबू का व्यक्तित्व उभर कर आया है।

सच तो यह है कि सम्पूर्ण शरत्-साहित्य में 'शेष प्रश्न' का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान होने का एक प्रधान कारण यह भी है। इसीलिए कमल के बारे में आशु बाबू के मत विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि बहुत-से स्थानों पर घोर मत-विरोध होने पर भी आशु बाबू कमल के प्रशंसक हैं। प्रथम भेंट के समय से ही वे उससे प्रभावित हो जाते हैं, तथा अपने वर्णनों में वे उसे 'लक्ष्मी की मूर्ति' कहकर अभिहित करते हैं। इधर कमल भी इस वृद्ध तथा स्नेहशील व्यक्ति को प्यार करने लगती है। वह उनकी लड़की होने की कामना प्रकट करती है। प्रत्युत्तर में आशु बाबू उसे 'बेटी' कहकर पुकारते हैं और उससे आग्रह करते हैं कि वह उन्हें चाचाजी कह कर सम्बोधित किया करे। वे कमल से कहते हैं, "मेरी मणि की अपेक्षा मानो तुम किसी अंश में भी छोटी नहीं हो, बेटी।" कमल और आशु बाबू के इस कोमल सम्बन्ध में केवल एक स्थान पर व्याघात उत्पन्न होता है, और वह तब जब वह उन्हें ऋण लेने के लिए अपना जामिन बनाना चाहती है। आशु बाबू इस बात पर कमल की बहुत भर्त्सना करते हैं, यद्यपि शीघ्र ही उनका यह क्रोध शान्त हो जाता है। इसके बाद कमल आशु बाबू से अपना सम्बन्ध पूर्ववत् बनाये रहने पर भी उनसे किसी भी प्रकार की सहायता नहीं लेती। वह उनसे कहती है, "आप मुझसे स्नेह करते हैं, किन्तु कहीं पर भी हम लोगों में मेल नहीं है।" इस वाक्य की ध्वनि से स्पष्टतः ज्ञात होता है कि यह स्वयं शरत् बाबू को सम्बोधित है। बहुत कुछ इसी प्रकार की भावना को व्यक्त करती हुई कमल उपन्यास के अन्तिम भाग में फिर कहती है, "किन्तु आपको तो मैं किसी तरफ़ से भी सान्त्वना नहीं दे सकती। शरीर और मन से जब आप अत्यन्त पीड़ित हैं, सान्त्वना देना ही जब कि अधिक आवश्यक काम है, तब भीतर से मानो मैं केवल चोट ही पहुँचाती रहती हूँ। तो भी किसी से भी आपको मैं कम प्यार नहीं करती चाचा जी!" इस प्रकार हम देखते हैं कि कमल और आशु बाबू का पारस्परिक सम्बन्ध बहुत कुछ विचित्र है। उनके मन मिलते हुए भी, मत एक-दूसरे से नहीं मिलते; यद्यपि अपनी विस्तृत सहानुभूति के कारण आशु बाबू कमल की कुछ युक्तियों को सत्य भी मानते हैं। अन्ततोगत्वा कुछ हिचकिचाते हुए आशु बाबू (शरत् बाबू) को अपना निर्णय देना ही पड़ता है। वे कहते हैं, 'तर्क में जो कुछ भी क्यों न कहूँ, तुम्हारी बहुत-सी बातों को ही मैं मानता हूँ।'

कमल और शिवनाथ का सम्बन्ध बहुत दिनों तक स्थायी नहीं रह पाता। इस सम्बन्ध के मूल में क्षणिक आनन्द को महत्त्व देने वाला कमल का जीवन-दर्शन है। उन दोनों का विवाह जितनी आसानी से होता है, उतनी ही आसानी से विच्छेद भी। एक बार पति से सम्बन्ध टूट जाने पर फिर कमल उसे दुबारा जोड़ने को तैयार नहीं होती। शिवनाथ के मुँह से अपना प्रिय नाम शिवानी उसे

अच्छा नहीं लगता, परन्तु दूसरी ओर, शिवनाथ से अत्यधिक वंचना पाने पर भी वह उनका तिरस्कार नहीं करती। उसका स्पष्ट मत है, "शिवनाथ गुणी मनुष्य हैं, उनके विरुद्ध मेरी तरफ़ से कोई बड़ी शिकायत नहीं है। शिकायत करने से भला क्या लाभ हो सकता है! हृदय की अदालत में तो एकतरफ़ा विचार ही एकमात्र विचार है, उसके लिए तो कोई अपील नहीं मिलती।"

कमल के प्रति अजित के मन में कई प्रकार की भावनाएँ रही हैं। प्रारम्भ में वह कमल से घृणा करता है; फिर कुछ परिचय बढ़ने के उपरान्त वह उसका प्रशंसक बन जाता है। इसी बीच कमल के जन्म और वंश का वर्णन सुनकर एक बार उसके मन में फिर इस विचित्र रमणी के प्रति जुगुप्सा का भाव जाग्रत होता है, परन्तु अन्ततोगत्वा वह कमल के जादू से बच नहीं पाता, और फलस्वरूप उसके सम्मुख विवाह का प्रस्ताव रखता है। स्वयं कमल भी अजित के प्रति कम आकर्षित नहीं है, वह मन-ही-मन उसे प्यार भी करती है। घर आने के लिए कहकर वह उसकी अत्यन्त व्याकुलता के साथ प्रतीक्षा करती है। प्रतीकात्मक शैली को अपनाते हुए वह कहती है, "ठीक जगह पर पहुँचा देने का दायित्व आपका है—मेरा कर्त्तव्य है केवल आप पर विश्वास किये रहना।" वस्तुतः वह अजित के हृदय की सरलता पर मुग्ध है, परन्तु इतने पर भी वह मनोवेगों के आवेश में आकर अपने आपको अजित के प्रति एकदम समर्पित नहीं कर देती। और अन्त में जब वह बिना विवाह किये ही अजित के साथ रहना चाहती है तो वह केवल उसकी दुर्बलता के ही कारण। वह अजित को आश्वासन देती है, "ज़ोर की ज़रूरत नहीं। बल्कि तुम अपनी दुर्बलता से ही मुझे बाँध रखना; तुम जैसे मनुष्य को संसार में यों ही बहाकर चली जाऊँगी, इतनी निष्ठुर मैं नहीं हूँ।" और इसीलिए कई व्यक्तियों के प्रणय-सूत्रों को तोड़कर वह अजित को ही स्वीकार करती है।

कमल के अजेय रूप-यौवन तथा असाधारण बुद्धिमत्ता को यदि कहीं झुकना पड़ा है तो राजेन के सम्मुख। इस नितान्त दृढ़ तथा लापरवाह लड़के को वह घनिष्ठता का दान देना चाहती है, उससे आग्रह करती है कि वह उसे मात्र कमल कहकर पुकारे। किन्तु राजेन उसके इस आग्रह को नहीं मानता। वह उसकी 'अक्षय मित्रता' का प्रस्ताव भी अस्वीकृत कर देता है। एक बार कमल फिर उसे सावधान करती है, "ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए। मित्रता नाम की चीज संसार में दुर्लभ है, और मेरी मित्रता तो उससे भी दुर्लभ है। जिसको पहचानते नहीं हो; उसकी अश्रद्धा करके अपने को छोटा मत बनाओ।" परन्तु इससे भी राजेन का मन विचलित नहीं होता; उसका मत पूर्ववत् दृढ़ रहता है। वह स्पष्ट बता देता है कि कमल की मित्रता का उसके लिए कोई मूल्य नहीं है, कोई उपयोग नहीं है। और तब कमल का मुँह लाल हो उठा। "किसी ने मानो

उसे चाबुक मारकर अपमानित कर दिया। वह अतिशिक्षिता, अति सुन्दरी और प्रखर बुद्धिशालिनी है। वह पुरुष की कामना का धन है, यही थी उसकी धारणा। उसका दृप्त तेज अपराजेय है, यही था उसका अकपट विश्वास। संसार में नारियों ने उससे घृणा की है, पुरुषों ने आतंक की आग से भर देना चाहा है। अवहेलना का ढोंग न किया हो ऐसी बात भी नहीं है, किन्तु यह तो वही बात नहीं है। आज इस मनुष्य के सामने मानो वह तुच्छता का अनुभव करने के कारण मिट्टी में मिल गयी। शिवनाथ ने उसे धोखा दिया है, किन्तु इस तरह दीनता का चीर उसके शरीर में नहीं लपेट दिया।'' इस लम्बे उद्धरण में उपन्यासकार ने कमल के क्षुब्ध तथा अपमानित रूप और यौवन की प्रतिक्रिया का वर्णन किया है। कमल के व्यक्तित्व का तेज राजेन के व्यक्तित्व की प्रखरता के सम्मुख फीका पड़ गया है। यहाँ प्रतिदान कमल नहीं देती, वरन् राजेन देता है। रुग्ण शिवनाथ की परिचर्या करने के समय वह कमल से कहता है, ''अन्यान्य स्त्रियों की तरह जैसा मैंने आपको सोचा था वैसी तो आप नहीं हैं। आपका भरोसा किया जा सकता है।'' कहना न होगा कि कमल के तेजस्वी व्यक्तित्व के लिए राजेन की दया का यह दान कितना अपमानजनक है। अपने अपरिमित सौन्दर्य के प्रति इस लापरवाह लड़के की नितान्त उदासीनता तथा उसके प्यार तथा उसकी चिन्ता के प्रति उसका तटस्थ भाव, उसके मन की सारी वासनाओं को संयमित कर देता है, यद्यपि अतृप्ति तथा तज्जन्य प्रतिशोध की चिनगारी उसके हृदय के कोने में अवस्थित रहती है। अत्यन्त दयनीय भाव से उसे शिवनाथ के सम्मुख स्वीकार करना पड़ता है कि यदि राजेन उसके साथ रह जाए तो यह उसके लिए (कमल के लिए) सौभाग्य की बात होगी। परन्तु कमल की यह आकांक्षा एकदम अतृप्त ही रहती है। और तज्जन्य उसके मन का अवश तथा दुर्बल प्रतिशोध उस समय प्रकट होता है जब उपन्यास के अन्त में राजेन की दुखद मृत्यु का समाचार हरेन्द्र पढ़कर सब को सुनाता है। उस समय 'उसकी आँखों से अग्निस्फुल्लिंग-से निकलने लगे, बोली—दुःख किस बात का? वह वैकुण्ठ में चला गया है। फिर हरेन्द्र बाबू, अज्ञान की बलि सदा से इसी तरह अदा होती है।' व्यंग (Irony) की ध्वनि लिये हुए कमल के इन शब्दों में राजेन की मृत्यु द्वारा उत्पन्न एक अजब-सा सन्तोष का भाव मिलता है। अपनी अर्पित घनिष्ठता का तिरस्कार साधारण-से-साधारण रमणी नहीं सह सकती, फिर कमल जैसे तेजस्वी व्यक्तित्व के लिए तो यह अपमान नितान्त असह्य है।

अपने स्वर्गवासी विदेशी पिता के प्रति कमल का मन सदैव आदर तथा श्रद्धा से भरा रहता है। अजित के सम्मुख उनकी चर्चा करती हुई वह कहती है, ''मेरे पिताजी भी किसी बात में कम नहीं थे। वे भी ऐसे ही धीर, ऐसे ही शान्त मनुष्य थे'''चरित्र में, पाण्डित्य में, सचाई में—ऐसा मनुष्य मैंने बहुत कम देखा है

अजित बाबू···इस जीवन में कभी किसी भी कारण झूठी चिन्ता, झूठा अभिमान, झूठी बात का आश्रय मैं न लूँ, बाबूजी यही शिक्षा मुझे बार-बार दे गये हैं।" वस्तुतः अपने सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक चरित्र का विश्लेषण वह अत्यन्त सावधानी के साथ करती है। किसी की झूठी निन्दा या झूठी प्रशंसा उसे प्रिय नहीं। बौद्धिकता के ऊँचे स्तर से वह नीचे बहुत कम उतरती है, इसीलिए अत्यधिक राग तथा आवेश के क्षणों में भी वह स्थिर तथा सन्तुलित रह पाती है।

सच तो यह है कि कमल के चरित्र का खण्ड-खण्ड विश्लेषण करके, उसका अध्ययन करना उपन्यासकार की सहृदयता के प्रति अन्याय करना है। स्वयं शरत् बाबू ने स्थान-स्थान पर स्वयं अथवा अपने अन्य पात्रों के माध्यम से उसके चरित्र के जो वर्णन किये हैं, वे किसी भी आलोचना से अधिक सच्चे और उपयुक्त हैं। कमल के चरित्र का परिचय जितना इन वर्णनों से मिल सकता है, उतना शायद समीक्षक की दृष्टि भी नहीं दे सकती। और क्योंकि 'शेष प्रश्न' की कमल का व्यक्तित्व उपन्यासकार के निकट अत्यन्त ही प्रिय रहा है, अतएव तत्सम्बन्धी वर्णनों की भी उपन्यास में कमी नहीं है। आशु बाबू सोचते हैं कि 'कमल को उन्होंने जितना ही देखा है, उतना ही उनका आश्चर्य और श्रद्धा बढ़ गयी है, लोकदृष्टि में वह हेय है, निन्दित है, शिष्ट-समाज से परित्यक्त है, सभा के लिए उसके पास निमन्त्रण नहीं आते, फिर भी, इस लड़की की नीरव अवज्ञा का ही उन्हें सबसे अधिक भय रहता है, इसी के सामने उनका संकोच नहीं मिटता।' और यह प्रतिक्रिया मात्र आशु बाबू की न होकर बहुत-से रसज्ञ पाठकों की भी है। 'शेष प्रश्न' के अन्य प्रमुख पात्र भी कमल के चरित्र की महत्ता का अनुभव करते हैं। हरेन्द्र के शब्दों में, 'उन (कमल) के अन्दर एक ऐसा निर्द्वन्द्व संयम, नीरव मिताचार और निःशंक तितिक्षा है कि देखने से आश्चर्य होता है।' वह आगे भी कहता है, 'उसके कथन में न मालूम कैसी एक सुनिश्चित दृढ़ता की दीप्ति छूटकर बाहर निकलती है कि मालूम होता है मानो उसने जीवन का अर्थ खोज लिया है। शिक्षा द्वारा नहीं, अनुभव उपलब्धि से नहीं, मानो आँखों से अर्थ को सीधे प्रत्यक्ष देख रही हो।' यही नहीं, इसके प्रत्युत्तर में आशु बाबू तो यहाँ तक कहते हैं कि 'वह यदि मिथ्या भी समझ चुकी हो, तो उस मिथ्या को भी गौरव प्राप्त है।' बहुत से पाठकों को कमल के चरित्र के इन मूल्यांकनों में अतिशयोक्ति की गन्ध आ सकती है, परन्तु जिस प्रसंग और वातावरण में वाक्य कहे गये हैं, उनको ध्यान में रखने पर हम इनका मूल्य भलीभाँति परख सकते हैं।

एक लम्बे-से कथोपकथन में कमल के चरित्र की व्याख्या करते हुए आशु बाबू कहते हैं, 'जीवन का अर्थ ही उसके लिए स्वतन्त्र है,—हम लोगों के साथ उसका कोई भी मेल नहीं है। वह भाग्य को नहीं मानती, अतीत की स्मृति उसके

सम्मुख का रास्ता नहीं रोकती; उसका अनागत भी वही है—जो आज तक आया नहीं है। इसीलिए उसकी आशा भी जैसी दुर्निवार है, आनन्द भी उतना ही अजेय है। किसी दूसरे ने उसके जीवन को धोखा दिया है, इस कारण वह अपने जीवन को धोखा देने के लिए किसी तरह भी तैयार नहीं है।' आशु बाबू के इन दो-तीन वाक्यों में एक प्रकार से कमल के व्यक्तित्व के प्रायः सभी मूल तत्त्वों का उल्लेख हो गया है। इतने गहन चरित्र की, इतने कम शब्दों में, इतनी सुन्दर टीका शरत् बाबू जैसे मनीषी द्वारा ही सम्भव हो सकती थी। इस सम्बन्ध में नीलिमा का अध्ययन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उसके अनुसार 'वह (कमल) मानो ठीक नदी की मछली की-सी है। पानी में भीगने, न भीगने का प्रश्न ही नहीं उठता। खाने-पहिनने की चिन्ता नहीं, शासन करनेवाला अभिभावक नहीं, आँखें लाल करनेवाला समाज नहीं—परम स्वतन्त्र है।' इन वाक्यों में उसके उन्मुक्त व्यक्तित्व का सुन्दर वर्णन हुआ है। किन्तु इन सब निर्णयों के बावजूद कमल के चरित्र का मूल सूत्र (Key note) किसी ने पाया है तो हरेन्द्र ने। वह कहता है, 'कमल की आकृति प्राच्य की है किन्तु प्रकृति प्रतीच्य की।' कमल के व्यक्तित्व का वह विरोधाभास ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि यह सच है कि हरेन्द्र के इस मत को शब्दशः ग्रहण करने पर कमल के चरित्राध्ययन के प्रति अन्याय हो सकता है, फिर भी यह बात सन्देह के परे है कि कमल के व्यक्तित्व की मूल संवेदना इस एक वाक्य से भलीभाँति प्रकट हो जाती है।

स्वयं उपन्यासकार के एक उद्धरण को प्रस्तुत करके हम इस प्रसंग को समाप्त करेंगे। अजित और कमल को बुलाया गया है आशु बाबू को विदा देने के लिए आयोजित समारोह में। हरेन्द्र के घर में सभी अतिथि एकत्र हो चुके हैं, और तभी पहुँचती है कमल। उस समय उसके व्यक्तित्व का अत्यन्त मार्मिक एवं स्पष्ट अंकन करते हुए उपन्यासकार कहता है, 'वह मानो वर्षाकाल की वन्य लता है। दूसरों की आवश्यकता के लिए नहीं, वरन् अपनी ही आवश्यकता के लिए आत्मरक्षा का सम्पूर्ण संचय लेकर मानो मिट्टी फोड़कर ऊपर सिर उठाती हुई आ पहुँची है। पारिपार्श्विक विरुद्धता का भय भी नहीं है, चिन्ता भी नहीं है—मानो काँटों का घेरा बना कर उसकी रक्षा करने का प्रश्न ही ज्यादती है।' ऊपर उद्धृत नीलिमा के वाक्यों की ही भावना को ये वाक्य भी व्यक्त करते हैं। परन्तु इनमें प्रयुक्त भाव-चित्र (Image) पिछले भाव-चित्र की अपेक्षा अधिक सशक्त हैं।

जैसा कमल के उपर्युक्त गुरु-गम्भीर चरित्र विश्लेषण से स्पष्ट हो गया होगा, शरत् बाबू के प्रायः समस्त नारी पात्रों में उसका व्यक्तित्व ही सर्वाधिक जटिल है। 'शेष प्रश्न' की रचना उपन्यासकार के जीवन के उत्तरार्द्ध में हुई है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि उसके संवेदनशील मन को तब तक नारी

जीवन सम्बन्धी ऐसी बहुत-सी अनुभूतियाँ प्राप्त हुई हों जिनके परिणामस्वरूप उसकी नारी सम्बन्धी पूर्व-भावना में पर्याप्त अन्तर आया हो, अथवा उसका एक निश्चित दशा में विकास हुआ हो। जो भी हो, उसके रचनाकाल के पूर्वार्द्ध में निर्मित विराज बहू जैसे नारी चरित्रों में जो सरलता थी, वह उसके उत्तरार्द्ध के चरित्रों में नहीं रही। 'शेष प्रश्न' की कमल में आकर तो जटिलता इतनी सघन हो गयी है कि स्वयं उपन्यासकार भी कभी-कभी उससे परेशान हो जाता है। और यह विकास का स्वाभाविक क्रम भी है।

कमल के सम्पर्क में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को उसके आचरणों को देखकर आश्चर्य सर्वाधिक होता है। अजित का कहना है, 'आपको देखकर मुझे शुरू से ही ऐसा आश्चर्य हुआ कि वर्णन नहीं किया जा सकता।' अन्यत्र भी कम-से-कम तीन स्थलों पर वह कहता है 'कमल, तुमको समझ लेना कठिन है।' कमल के 'असाधारण व्यक्तित्व का' अनुभव उसके अन्य मित्रों को भी होता है। और तो और स्वयं आशु बाबू (शरत् बाबू) को भी कई बार स्वीकार करना पड़ता है, "तुमको तो मैं समझ ही न सका कमल।" इसके अतिरिक्त अपने विकसित होते हुए व्यक्तित्व को भी कमल नितान्त स्वाभाविक तथा प्राकृतिक समझती है। इसीलिए शिवनाथ से सम्बन्ध-विच्छेद उसके निकट कोई बहुत महत्त्वपूर्ण एवं असाधारण घटना नहीं है। अपने सन्तुलित मन द्वारा निर्दिष्ट उसका जीवन-क्रम कभी भी उसके लिए असन्तोष का विषय नहीं बनता। तभी तो 'इस लड़की को बाहर से देखने से जैसा आश्चर्य होता है, भीतर से देखने पर भी वैसा ही अवाक् हो जाना पड़ता है।' इस 'आश्चर्यजनक लड़की' के सभी आचरणों से क्षुब्ध होने पर भी, उससे अप्रभावित कोई नहीं है। अपनी जटिलता के सम्बन्ध में कमल स्वयं भी सजग है, और वह यह मानती है कि 'स्त्रियाँ पहेली पसन्द करती हैं—उनका स्वभाव है।'

कमल के व्यक्तित्व की प्रभविष्णुता बहुत आसानी से एक स्वतन्त्र निबन्ध का विषय हो सकता है। फिर भी इस सम्बन्ध में यहाँ संक्षेप में कुछ कहना अप्रासंगिक न होगा। जैसा हम पहले भी कह चुके हैं, कमल के आचरणों से असहमति प्रकट की जा सकती है, परन्तु उनका तिरस्कार नहीं किया जा सकता। पहली बार उसके घर जाकर उसके कठोर व्यावहारिक संयम को देखकर अजित का मन उसके लिए श्रद्धा से भर उठता है। उच्छ्वसित आवेग से भरकर वह कहता है, अपने को बड़ा समझ कर जो लोग अपमान से आपको दूर रखना चाहते हैं, जो लोग अकारण ही निन्दा करते फिरते हैं, वे आपका पैर छूने के भी योग्य नहीं हैं। संसार में देवी का आसन यदि किसी के लिए हो तो वह आपके ही लिए है।' कमल का सबसे अधिक और तीखा विरोध करनेवाला व्यक्ति अक्षय है। अपनी कटूक्तियों एवं मर्मघातक व्यंगों से वह उसका हृदय छेद देना चाहता है। परन्तु

अन्ततोगत्वा उसके मन में भी परिवर्तन होता है। उपन्यास के अन्तिम अध्याय में जब सारे पात्र-पात्री अन्तिम बार एक-दूसरे से विदा लेते हैं तो कमल के जाने की सबसे अधिक व्यथा कदाचित् अक्षय को ही होती है। वह कमल के पास पहुँच कर अपने सारे पिछले अपराधों को स्वीकार करता है और उनके लिए क्षमाप्रार्थी होता है। कमल की प्रभविष्णुता की माप के लिए इससे बढ़ कर दूसरा उदाहरण नहीं दिया जा सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'शेष प्रश्न' में अंकित कमल का चरित्र बहुत जटिल एवं असाधारण है। उसका अध्ययन करने पर हमारे मन में बहुत-सी समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। कम-से-कम तीन समस्याएँ हमारे सम्मुख बहुत प्रमुख रूप से आती हैं—

(1) प्राचीन परम्पराओं के प्रति अत्यधिक विद्रोहशील होने पर भी कमल का चरित्र प्रगतिशील कहा जा सकता है अथवा नहीं ?

(2) प्रचलित मान-दण्डों के आधार पर कमल के चरित्र को नैतिक माना जा सकता है अथवा नहीं ?

(3) जीवन में सुख और समृद्धि को प्रधानता देने वाले दृष्टिकोण को अपनाने पर भी क्या कमल को हम एक सुखवादी (Hedonist) मानते हैं ?

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त प्रश्नोत्तर पर विचार-विमर्श करने का अर्थ होता है प्रायः उतने ही पृष्ठ और लिखना जितने कि कमल के चरित्र की व्याख्या करते हुए लिखे जा चुके हैं। अतएव इस स्थल पर हम बहुत संक्षेप में इन तीनों समस्याओं पर विचार करने का प्रयत्न करेंगे।

जहाँ तक पहले प्रश्न का सम्बन्ध है, हम निःसंकोच रूप से कह सकते हैं कि अपने विचारों और आचरणों के समन्वय में कमल का चरित्र हमारे युग की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए, पर्याप्त रूप से प्रगतिशील कहा जा सकता है। अतीत की अनावश्यक परम्पराओं का विरोध, जीवन के प्रति एक समृद्ध परन्तु स्वच्छ दृष्टिकोण, सामाजिक अन्धविश्वासों में गहरी अनास्था, बाह्य आडम्बरों के प्रति तीखा विद्रोह, नारी पर अत्याचार करने वाली समस्त पुरुष जाति के प्रति आक्रोश, मृत्यु-प्रेम का निरादर एवं जीने की अदम्य तथा प्रबल आकांक्षा, जाति-गत एवं साम्प्रदायिक भेद-भावना का तिरस्कार, मानवता-प्रेम, मनुष्य की महत्ता में विश्वास, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपना एक सुचिन्तित मत, व्यावहारिक संयम तथा धैर्य, तथा आत्मसम्मान की दृढ़ भावना—कमल के चरित्र की ये सारी विशेषताएँ उसके ईमानदार और प्रगतिशील व्यक्तित्व की परिचायक हैं। बहुत सम्भव है कि अनेक समाज-शास्त्रियों को कमल के चरित्र में कुछ दुर्बलताएँ भी दिखाई दें, और यह भी सम्भव है कि बहुत से विचारक उसके दृष्टिकोण से असह-मत भी हों, परन्तु यह मानने से कोई इनकार नहीं कर सकता कि कमल का

चरित्र प्रतिक्रियावादी नहीं है, स्थिर भी नहीं है, वरन् निश्चित रूप से गत्यात्मक (Dynamic) है। इसके अतिरिक्त प्रायः सभी समाज-विज्ञानी यह भी मानेंगे कि उसके चरित्र की यह गति अन्ततोगत्वा व्यक्ति तथा समाज के लिए कल्याणप्रद एवं शुभ ही सिद्ध होगी। उपन्यास के एकदम अन्त में कमल आशु बाबू से कहती है. । "जिस दुःख से आप डर रहे हैं चाचाजी, उसी में से पुनः उसकी अपेक्षा भी बड़ा आदर्श उत्पन्न होगा! और उसका कर्म भी जिस दिन समाप्त हो जायेगा, उस दिन उसके मृत शरीर के सार में से उसकी अपेक्षा भी महान् आदर्श की सृष्टि होगी। इसी प्रकार संसार में आज का शुभ कल के शुभतर के चरणों में आत्मविसर्जन करके अपना ऋण चुकाता रहता है। यही तो मनुष्य की मुक्ति का मार्ग है।" हम कह सकते हैं कि संहार के बीच से कमल का यह अदम्य उत्साह तथा आशा का स्वर उसकी प्रगतिशीलता का सबसे बड़ा प्रमाण है।

कमल के व्यक्तित्व की नैतिक मान्यताओं को लेकर शरत्-साहित्य के पाठकों एवं समीक्षकों में काफ़ी मत-भेद रहा है। अधिकांश व्यक्तियों का विचार है कि प्रचलित मानदण्डों के आधार पर कमल के चरित्र को नैतिक नहीं माना जा सकता। वे सोचते हैं, 'कमल के पिता युरोपीय थे, माता कुलटा थी—उसकी शिराओं के रक्त में व्यभिचार प्रवाहित हो रहा है।' निश्चय ही एक ऐसी वंश-परम्परा के व्यक्ति के लिए हमारे समाज में साधारणतः कोई आदरपूर्ण स्थान नहीं। और इसके अतिरिक्त विवाह तथा प्रेम के सम्बन्ध में कमल के सिद्धान्त उसे भारतीय हिन्दू समाज में एक अत्यन्त निम्नकोटि की स्त्री ठहराते हैं, परन्तु यदि हम उसकी उक्तियों एवं आचरणों की तुलना करके, उसके जीवन-दर्शन का कुछ अधिक गहराई के साथ परीक्षण करें तो हम देखेंगे कि उपर्युक्त मत बहुत कुछ असत्य है। वस्तुतः कमल मानव-जीवन में संयम का तिरस्कार नहीं करती, वरन् संयम के नाम पर मिथ्या एवं अस्वाभाविक बन्धनों को वह अस्वीकार करती है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि अनुपम सौन्दर्य एवं प्रतिभा की स्वामिनी होने पर भी, हद दर्जे की निर्धनता में वह वेश्या-वृत्ति नहीं अपना लेती, वरन् किसी प्रकार सिलाई आदि करके अपना जीवन-निर्वाह करती है। सुसंस्कृत व्यक्तियों के प्रेम की व्याख्या यदि कमल इस प्रकार करती है, 'शिवनाथ गुणवान् हैं, शिल्पकार हैं—शिवनाथ कवि हैं। चिरस्थायी प्रेम इन लोगों के मार्ग में बाधक है···स्त्रियाँ तो केवल उपलक्ष्यमात्र हैं, नहीं तो वे लोग प्यार करते हैं केवल अपने आपको। अपने मन को दो भागों में बाँटकर उनकी दो दिन की लीला चलती है' तो इसमें उसका दृष्टिकोण अनैतिक ज़रा भी नहीं है, मनोवैज्ञानिक अवश्य है। इसी प्रकार मानवीय प्रणय की अस्थिरता को वह मनोविज्ञान के उस सिद्धान्त के आधार पर सिद्ध करना चाहती है, जिसके अनुसार किसी भी वस्तु पर लगातार आठ सेकेण्ड से अधिक ध्यान नहीं लगाया जा सकता।

पुरुष और नारी के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा करती हुई, अत्यन्त व्यंग्यात्मक एवं तीखी शैली में वह कहती है, "पेड़ के पत्ते सूखकर झर जाते हैं, उनकी क्षति नये पत्ते भर देते हैं, यह तो हुआ झूठ। और बाहरी सूखी लता मर जाने पर भी पेड़ के सर्वांग से चिपक कर, जकड़ कर उससे कसके लिपटी रहती है, वही हो गया सच?" इस प्रकार के मानव-सत्यों को विश्वास के साथ अभिव्यक्त करने और तदनुसार आचरण करने को यदि अनैतिक माना जाये तो भले ही कमल का चरित्र अनैतिक ठहराया जा सकता है, अन्यथा उसका व्यक्तित्व उच्च स्तर की मान्यताओं से ही अनुप्राणित जान पड़ता है।

तीसरी और अन्तिम समस्या है कमल के आनन्दवादी सिद्धान्त की। प्रायः लोग कमल को उन मतों का अनुयायी सिद्ध करना चाहते हैं, जो पश्चिम में कभी हेडनिज्म तथा एपीक्यूरनिज्म के नाम से प्रचलित थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'आनन्द के क्षण' का महत्त्व स्वीकार करने वाली कमल की विचारधारा बहुत कुछ उपर्युक्त दोनों सम्प्रदायों के मूल सिद्धान्तों से मिलती है। वह जीवन को बहुत समृद्ध रूप में देखना चाहती है, क्षणिक आनन्द का भी आदर करना चाहती है। योग आदि, संयम के बाह्य आचरणों का तिरस्कार करती है, "योग किसे कहते हैं मैं नहीं जानती, किन्तु वह यदि निर्जन स्थान में बैठकर केवल आत्म-विश्लेषण और आत्मचिन्ता ही हो तो यही बात मैं ज़ोर के साथ कहूँगी कि इन दो सिंह-द्वारों से संसार में जितने प्रेम, जितने मोह ने भीतर प्रवेश किया है, उतना और कहीं से भी नहीं। वे दोनों अज्ञान के ही साथी हैं।" परन्तु इन सबके बावजूद कमल के चरित्र को हम नितान्त सुखवादी या क्षणिक आनन्दवादी नहीं ठहरा सकते। यद्यपि यह सच है कि अपने विचारों की अभिव्यक्ति में कमल ने स्थान-स्थान पर क्षण के आनन्द की महत्ता स्वीकार की है, यही नहीं कमल ने अपने इस सिद्धान्त का यथासम्भव प्रसार भी किया है, परन्तु ऐसा करने में कमल का दृष्टि-कोण सामान्य मानव-जीवन को अधिकाधिक समृद्ध बनाने का ही है। अत्यन्त अभावों में ही व्यतीत होने वाले स्वयं अपने जीवन को उसने कभी वैभव-विलासपूर्ण बनाने की चेष्टा नहीं की, यद्यपि अपने असीम रूप और सौन्दर्य के बल पर वह ऐसा बहुत आसानी के साथ कर सकती थी। दिन में केवल एक बार अत्यन्त साधारण भोजन, आधुनिक सुविधाओं से एकदम विहीन, गृह-व्यवस्था और इसी प्रकार की अन्य व्यावहारिक संयम तथा कृच्छ्र साधना कमल के तमाम सुखवादी (Hedonist) विश्वासों के बावजूद स्वयं उसे सुखवादी नहीं ठहराते।

कमल के चरित्र को उसकी ऊँची-नीची सभी भाव-भूमियों में अंकित करने के पश्चात् उपन्यास के अन्तिम भाग में शरत् बाबू आशु बाबू के रूप में उसके सम्बन्ध में अपना निर्णय देते हैं। इस 'अभारतीय' रमणी के प्रति जितना अधिक उनका स्नेह रहा है, प्रायः उससे भी अधिक उनका मत-विरोध रहा है। हरेन्द्र के

घर होने वाली विदा-गोष्ठी में आशु बाबू कहते हैं, "तर्क में जो कुछ भी क्यों न कहूँ कमल, तुम्हारी बहुत-सी बातों को ही मैं मानता हूँ। जिसे मैं कर नहीं सकता उसकी हृदय से अवज्ञा भी नहीं करता।" इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि कमल को लेकर स्वयं शरत् बाबू के हृदय में मान्यताओं का बड़ा संघर्ष रहा है। उसका चरित्र उन अमर चरित्रों की कोटि में रखा जा सकता है, जो एक बार सृजन किये जाने पर स्वयं कथाकार के नियन्त्रण के बाहर चले गये हैं। कमल का व्यक्तित्व एक प्रकार से शरत् बाबू के लिए भी रहस्यमय बनकर रह गया है, उपन्यास के अन्त तक वे स्वयं भी उसे पूरा-पूरा नहीं समझ सके हैं। कमल के सिद्धान्तों से विरोध रखने पर भी उनकी अवहेलना नहीं की जा सकती, यह वे अवश्य समझ गये थे। स्वयं उपन्यासकार और उसके एक पात्र में इतने उच्च स्तर के बौद्धिक वाद-विवाद हमें कदाचित् शरत् के 'शेष प्रश्न' में ही मिलते हैं।

'शेष प्रश्न' की कमल और भगवती बाबू के प्रसिद्ध उपन्यास 'चित्रलेखा' की नायिका चित्रलेखा में बहुत कुछ चारित्रिक समानताएँ हैं। दोनों का बौद्धिक स्तर बहुत उच्च कोटि का है, जीवन की प्रत्येक समस्या के प्रति उन दोनों का अपना सुचिन्तित मत है। ज्ञान के क्षेत्र में इतना अधिक बढ़े होने के साथ-ही-साथ दोनों की वाक्पटुता भी आश्चर्यजनक है। दोनों के तर्क अचूक तथा उनकी शैली अत्यन्त लाघवमय एवं प्रभावोत्पादक है। जीवन के प्रति दोनों का ही अत्यन्त समृद्ध दृष्टिकोण है। स्वयं सौन्दर्य-प्रिय होने के साथ-साथ दोनों का रूप भी अपरिसीम है। जिस प्रकार कमल अपने मृत पति, शिवनाथ तथा अजित से क्रमानुसार प्रेम करती है, उसी प्रकार चित्रलेखा भी अपने मृत पति, सामन्त बीजगुप्त एवं योगी कुमारगिरि से प्रेम करती है। तर्क के क्षेत्र में दुराग्रह करना न कमल जानती है, और न चित्रलेखा। दोनों ही अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में शान्त, नम्र तथा व्यवहारकुशल हैं। इसके अतिरिक्त वाद-विवाद के बीच दोनों का व्यावहारिक संयम सचमुच ही सराहनीय है। तीखी-से-तीखी बातें सुनकर भी वे क्रुद्ध नहीं होतीं, अत्यन्त शान्तिपूर्वक उनका उत्तर देती हैं। सामान्य जीवन में उनकी कष्ट-सहिष्णुता तथा धैर्य अतुलनीय है। विषम परिस्थितियों में भी सन्तुलित एवं स्थिर बना रहना उनका स्वभाव है। सच तो यह है कि कमल और चित्रलेखा की विचारधारा में कहीं-कहीं तो इतना अधिक साम्य है कि यदि एक के कथोपकथन दूसरे के मुख में रख दिये जाएँ तो कोई विशेष अन्तर न पड़ेगा। दोनों ही चरित्र बहुत-कुछ मिलती-जुलती मिट्टी से बनाये गये जान पड़ते हैं।

'शेष प्रश्न' की पार्श्व-नायिका है आशु बाबू की एकमात्र पुत्री मनोरमा। 'शिक्षिता, सुरूपा और पूर्णयौवना' मनोरमा के शील और सौजन्य का परिचय हमें उपन्यास के प्रारम्भिक परिच्छेद में ही मिल जाता है। मित्र-मण्डली में अपने छोटे चाचा के प्रति कुछ असन्तोष का भाव व्यक्त करते हुए आशु बाबू को ऐसा करने

से रोक देती है। आचार-व्यवहार में मर्यादा का वह पूरा ध्यान रखती है। विदेशी शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने पर भी आमिष आदि का वह स्पर्श तक नहीं करती। संगीत से उसे विशेष प्रेम है, और इस कला में उसने पर्याप्त दक्षता भी प्राप्त कर ली है। इतने गुणों से संयुक्त होने और एक धनिक की पुत्री होने के बावजूद उसके चरित्र में अभिमान नहीं, वरन् विनय ने स्थान पाया है। सुरुचि की मात्रा उसमें इतनी अधिक है कि शिवनाथ के अनैतिक कृत्यों को वह सुनना भी पसन्द नहीं करती। उसके पत्नी-त्याग एवं मित्र को धोखा देने की घटना सुनकर उसका मन घृणा से अभिभूत हो उठता है। यही नहीं, वह आशु बाबू को समझाती भी है, "गुण का आदर करना मैं कम नहीं जानती बाबूजी, किन्तु इसीलिए शिवनाथ बाबू को एक दुष्ट दुश्चरित्र मतवाला समझकर भी फिर प्रश्रय क्यों दे रहे हो ?" परन्तु इस सुरुचि के साथ सौजन्य भी है। यह जानकर कि उसके इन उपर्युक्त शब्दों को उसके अनजाने में ही, शिवनाथ ने सुन लिया है उसकी लज्जा की सीमा नहीं रहती। वह अपने इस अनचाहे दुर्व्यवहार के लिए बहुत दुःखित होती है, और बाहर भीगते हुए शिवनाथ बाबू और उनकी स्त्री को स्वयं घर में बुलवा लेती है। इस प्रसंग में उसकी व्यवहारपटुता भी बहुत सराहनीय है। कमल की बातें सुनकर पहले तो उसका चेहरा क्रोध से लाल हो उठता है; किन्तु क्षण भर के लिए। दूसरे ही क्षण 'निर्मल हँसी की छटा से उसकी दोनों आँखें झकाझक करने लगती हैं।' वस्तुतः मनोरमा को ये चारित्रिक गुण अपने वृद्ध एवं अनुभवी पिता से मिले जान पड़ते हैं। यह सच है कि 'मनोरमा आशु बाबू की केवल लड़की ही नहीं, उनकी संगी, साथी, मन्त्री, मित्र—एकसाथ सब कुछ ही थी यही लड़की।'

मनोरमा के चरित्र में आधुनिक सामाजिकता के प्रायः सभी गुणों के विद्यमान रहने पर भी, उसके व्यक्तित्व में गहरी अन्तर्दृष्टि की कमी है। वह व्यक्तियों तथा घटनाओं को बहुत ऊपरी, बहुत सतही निगाह से देखती है। पहली बार कमल से मिलने पर, सुनी-सुनाई बातों के आधार पर वह उसे शिष्ट समाज से बाहर की स्त्री मानने लगती है। कमल का निःसंकोच व्यवहार, उसकी प्रतिभा तथा वाक्पटुता मनोरमा को जरा भी नहीं प्रभावित करती। इस दृष्टिकोण से मनोरमा में बुद्धि-वार्द्धक्य एवं अनुभव की बहुत कमी दिखाई देती है। और कमल के चरित्र की तुलना में तो यह कमी और भी अधिक उभरकर हमारे सामने आती है। मनोरमा की व्यवहार-कुशलता बाहर भीगती हुई कमल को अन्दर बुलाकर उसे एक दासी के समान ही व्यवहार दिला पाती है, उसमें दृष्टि की इतनी गहराई नहीं कि वह कमल के यथार्थ मूल्य को समझ सके। इसीलिए वह आशु बाबू के बार-बार समझाने के बावजूद कमल का सदैव तिरस्कार करती रहती है। वह आशु बाबू के प्रति कमल की अत्यन्त स्पष्ट एवं मुखर सम्मान-

भावना को भी नहीं समझ पाती। एकदम उत्तेजित होकर वह कहती है, "आज मैं जान गयी हूँ कि उस दिन धोती और साबुन माँगने के बहाने वह लड़की (कमल) मेरा केवल उपहास ही कर गयी थी,—उस दिन का उसका अभिनय मैं समझ न सकी थी,—किन्तु उसका सब छल-कपट, सभी व्यंग्य ही व्यर्थ है बाबूजी, यदि तुमको आज वह सबसे बड़ा न पहचान सकी हो।" यहाँ इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि मनोरमा के मन में कमल के लिए बहुत-से पूर्वग्रह भी हैं। बहुत कुछ इन पूर्वग्रहों के कारण भी वह कमल के वास्तविक चरित्र को पहचान नहीं पाती।

मनोरमा के जीवन की सबसे बड़ी सम्पत्ति है उसके प्रति आशु बाबू का स्नेह। 'लड़की को आशु बाबू कितना प्यार करते थे, उसकी कोई सीमा नहीं।' वैसे तो सभी पिता अपनी सन्तान को प्यार करते हैं, परन्तु आशु बाबू जैसे सुलझे हुए व्यक्ति का प्रायः सारा-का-सारा मोह इस दुर्बल लड़की पर केन्द्रित हो गया है, यही तथ्य महत्त्वपूर्ण है। मनोरमा आशु बाबू की केवल लड़की ही नहीं है, 'उनकी संगी, साथी, मन्त्री, मित्र एक साथ सब कुछ ही है।' और मनोरमा स्वयं भी यह जानती है कि वह कितने बड़े बाप की लड़की है। उसे यह पूरा विश्वास है कि बिना उसके बाबूजी के देखे हुए ताजमहल का आधा सौन्दर्य ढँका ही रह जाएगा। इस प्रकार आशु बाबू को वह पिता के रूप में तो सम्मान देती ही है, परन्तु शायद उससे भी अधिक सम्मान देती है उन्हें एक अत्यन्त सन्तुलित विचारक के रूप में। और हम कह सकते हैं कि यह मनोरमा की उस अन्तर्दृष्टि—मनुष्य को पहचान पाने की उस अन्तर्प्रवृत्ति का, कदाचित् सबसे बड़ा उदाहरण है, जो उसके चरित्र के अनिवार्य गुणों में से एक नहीं है।

अजित के प्रति मनोरमा का व्यवहार बहुत कुछ उसके 'बचपन' को प्रदर्शित करता है। उसके चरित्र के इस पहलू से हम उस सन्तुलन, व्यावहारिक संयम तथा निर्णयात्मक बुद्धि का अभाव देखते हैं, जो उसकी अवस्था के व्यक्ति में प्रायः बहुत-कुछ विकसित रहती है। प्रारम्भ में अजित और मनोरमा का प्रेम, आशु बाबू के शब्दों में 'संसार की एक अपूर्व वस्तु है।' दोनों ही चार वर्षों के दीर्घकाल में अत्यन्त मनोयोग से एक-दूसरे की प्रतीक्षा करते हैं। अजित के विदेश जाने के समय से मनोरमा ने 'जो ब्रह्मचारिणी जीवन अपनाया फिर एक दिन के लिए भी उससे भ्रष्ट नहीं हुई।' इसी बीच दूसरे वर के खोजे जाने की बात सुनकर वह आशु बाबू से कहती है, "बाबूजी, यह चेष्टा तुम मत करो। मुझको तुमने प्रकट रूप से दान नहीं किया, किन्तु मन-ही-मन तो किया ही था।" मनोरमा के इन विचारों और आचरणों से उसकी अजित के प्रति निष्ठा का भलीभाँति परिचय मिलता है, परन्तु उसके मन की दुर्बलता और परिस्थितियों ने इस निष्ठा को ठहरने नहीं दिया। धीरे-धीरे उसकी अजित के प्रति विमुखता बढ़ती जाती

है, और इस प्रकार चार वर्षों की लम्बी अवधि तक प्रतीक्षा करने के उपरान्त जब वह विदेश से वापस आ जाता है तो वह उससे विवाह नहीं कर पाती। अजित के लिए मनोरमा की उदासीनता को चित्रित करने में शरत् बाबू ने मनोविज्ञान के अत्यन्त सूक्ष्म अध्ययन का परिचय दिया है।

मनोरमा के मन में अजित के प्रति उदासीनता और शिवनाथ के प्रति आकर्षण के भाव प्रायः समानान्तर रूप से विकसित होते हैं। वह कमल और शिवनाथ, दोनों से घृणा करती है। अजित की प्रेयसी होने के समय 'शिवनाथ के सम्बन्ध में मनोरमा की विमुखता ही थी मानो सबसे अधिक।' किन्तु दो ही दिन के साहचर्य के फलस्वरूप उसका शिवनाथ के प्रति अज्ञात आकर्षण मानो पूरे वेग से जागृत हो उठा। रुग्ण शिवनाथ की परिचर्या में लगी हुई मनोरमा उसके प्रति अपनी अतृप्त कामनाओं को समर्पित कर देती है। 'शय्या के पास चौकी पर बैठी हुई मनोरमा रात्रि-जागरण की क्लान्ति से रोगी की छाती पर थका हुआ माथा रखकर शायद अभी-अभी सो गयी है। उसकी गर्दन पर परस्पर सन्नद्ध दोनों हाथ रखकर शिवनाथ भी सो गया है।' इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि एकदम प्रारम्भिक सम्बन्धों में, जबकि मनोरमा ने शिवनाथ का पिछला लज्जाजनक जीवन नहीं जाना था, शिवनाथ मनोरमा का संगीत-गुरु रहा है। उस समय मनोरमा उसके रूप और गुणों से अत्यधिक प्रभावित थी। बीच में वह शिवनाथ से घृणा करने लगी, परन्तु अन्ततोगत्वा उसका प्रथम आकर्षण दबा न रह सका। और वह आशु बाबू जैसे स्नेहशील पिता को अकेला छोड़कर, शिवनाथ से विवाह कर लेती है। आशु बाबू कहते हैं, "एक दिन शिवनाथ को इस घर में आने देने में भी उसे (मनोरमा को) आपत्ति थी, किन्तु आज जिस सम्मोहन से उसका हिताहित ज्ञान, उसकी समस्त नैतिक बुद्धि आच्छन्न हो गयी है, वह यथार्थ प्रेम नहीं है, वह जादू है, मोह है। जो भी हो, इस 'जादू' या 'मोह' में फँस जाने का प्रधान कारण यह है कि मनोरमा का व्यक्तित्व बड़ा सुन्दर-सजल होने पर भी अत्यन्त ही दुर्बल है। उसकी मान्यताओं में अपेक्षित दृढ़ता का अभाव है। यद्यपि यह सही है कि उसके व्यक्तित्व में भावावेग की प्रधानता नहीं है, फिर भी उसके मानसिक संस्थान में वह विवेक पूर्णतः जागृत नहीं दिखाई देता, जो भले और बुरे के भेद को स्पष्ट करता है। अजित सारी रात कहीं अन्यत्र बिताकर सवेरे घर लौटता है। इससे आशु बाबू की दुश्चिन्ता की सीमा नहीं रहती, परन्तु कमल उससे एक बार भी देर से आने का कारण नहीं पूछती। यह निरर्थक आत्म-अभिमान भी वस्तुतः उसे अजित से दूर और शिवनाथ के निकट ले जाने में सहायक होता है। वह आशु बाबू से कहती है, "मेरे सम्बन्ध में यदि उन्होंने (अजित ने) अनुचित धारणा कर ली है तो यह उनका दोष है। एक मनुष्य के दोष-संशोधन की ज़िम्मेदारी क्या दूसरे मनुष्य को बलपूर्वक अपने ऊपर ले लेनी चाहिए बाबूजी?"

मनोरमा के इन शब्दों में हठ तथा दुराग्रह की गन्ध अधिक आती है। वस्तुतः विचारगत प्रौढ़ता मनोरमा के चरित्र की विशेषता नहीं है। उसके निर्णयों में बचपना कुछ अधिक है तथा बुद्धि-वार्द्धक्य की कमी है।

'शेष प्रश्न' की नीलिमा का चरित्र नारी-मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'वह अविनाश मुखर्जी की विधवा साली है। निराश्रय होने के कारण उनके घर की देख-भाल करती है। और क्योंकि अविनाश की पत्नी का देहान्त हो चुका है, अतः 'फिलहाल घर की मालकिन वही है।' वह अत्यन्त हँसमुख, स्पष्ट-वादिनी तथा निर्भीक है। घर के कामकाज तथा बहनोई और उसके मित्रों के साथ हँसी-मजाक़ में वह अपने वैधव्य-दुःख को डुबो देना चाहती है। संयम-नियम उसके चरित्र में घुल-मिल गये हैं। नीलिमा की ओर संकेत करता हुआ हरेन्द्र कहता है, "वैधव्य का कोई बाह्य प्रकाश इनमें नहीं है—बाहर से मालूम होगा मानो विलास-व्यसन में मग्न रहती हैं, किन्तु मैं जानता हूँ इनकी दुःसाध्य आचार-निष्ठा, इनका कठोर आत्म-संयम !" इसमें कोई सन्देह नहीं कि नीलिमा के व्यक्तित्व से सबसे अधिक प्रभावित हरेन्द्र ही है, फिर भी उसके उपर्युक्त कथन में अतिशयोक्ति का कोई अंश नहीं है। नीलिमा का वर्णन स्वयं उपन्यासकार ने इस प्रकार किया है, 'अवस्था भी अत्यन्त कम नहीं है, शायद तीस के लगभग पहुँच चुकी है। इस अवस्था के लिए उपयुक्त गम्भीरता हठात् उनमें ढूँढ़ने से नहीं मिलती—ऐसा ही उनका हँसी-खुशी का मेला है, फिर भी ज़रा थोड़ा-सा ध्यान देने से ही यह बात स्पष्ट समझ में आ जाती है कि एक ऐसा अदृश्य आच्छादन उनको दिन-रात घेरे रहता है, जिसके भीतर प्रवेश करने का कोई रास्ता ही नहीं है। घर के नौकर-नौकरानी भी नहीं प्रवेश कर सकते और न तो मालिक ही।' इस 'अदृश्य आच्छादन' के ही कारण नीलिमा का व्यक्तित्व इतना सुदृढ़ एवं महिमामय है। यद्यपि उसमें भी एक स्थान पर दरार पड़ ही जाती है, किन्तु उसके सम्यक् कारण भी हैं।

वस्तुतः नीलिमा के जीवन का सबसे बड़ा ध्येय है अपने स्वजनों एवं मित्रों का सेवा-सत्कार। 'काम-काजी व्यक्ति हैं, दिन-रात काम में ही व्यस्त रहती हैं।' आशु बाबू की शुश्रूषा करने जब वह उनके यहाँ जाती है, तो सम्पत्ति के मोह के कारण नहीं, वरन् अपनी स्नेहशील प्रकृति के कारण। उसकी 'अकलंक शुभ्रता' हमें उसके प्रत्येक सम्बन्ध में दिखाई देती है। उसके व्यावहारिक जीवन में शील एवं सुरुचि का स्थान सर्वोपरि है। वह सबके सामने परदे से बाहर निकलना पसन्द नहीं करती। व्यर्थ के कटाक्ष करने का उसका स्वभाव नहीं है। सुरुचि के लिए उसके मन में इतना अधिक आग्रह है कि वह अजित को "एक दिन जिस दिन मैं नारी थी" शीर्षक कहानी का वह अंश पढ़ने से रोक देती है जो 'किसी-किसी स्थान पर रुचि को चोट पहुँचाता है'। एकनिष्ठ प्रेम एवं पतिव्रतधर्म उसके निकट

अत्यन्त सम्मान्य एवं आचरणीय हैं। 'उसका कहना है कि पति को त्याग करना ही तो बड़ा काम नहीं है, उन्हें फिर से पाने की साधना ही स्त्री के लिए परम सार्थकता है।' प्रेम एवं विवाह के सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण अत्यन्त स्वाभाविक एवं स्वस्थ है। बेला के पति-त्याग की बात को लेकर वह कहती है, "सत्य न तो पति को छोड़ देने में है न पति की दासी-वृत्ति करने में ही है, ये दोनों ही केवल दायें-बायें के रास्ते हैं, गन्तव्य स्थान तो अपने आप ढूँढ़ लेना पड़ता है, तर्क करने से उसका पता नहीं चलता।"

नीलिमा का अत्यन्त स्नेहपूर्ण व्यवहार उसके सम्पर्क में आने वाले सभी व्यक्तियों को बरवस अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। हरेन्द्र को उसकी ममता का अधिकांश प्राप्त हुआ है, और वह जानता है कि यह उसके लिए कितना बड़ा सौभाग्य है। वाणी का वशीकरण भी नीलिमा को प्राप्त है। उसकी बातें 'स्वभावतः' ही मधुर होती हैं, 'कहने के ढंग में ऐसी एक विशेषता रहती है कि सहज ही में दृष्टिगोचर हो जाती है।' हरेन्द्र के ब्रह्मचर्याश्रम के बालकों को देखकर उसकी आँखें भर आती हैं। स्नेह देने के अतिरिक्त नीलिमा उसका प्रतिदान भी चाहती है। अपनी रूखी-सूखी और नीरस जिन्दगी को वह परिचितों और मित्रों के स्नेह से ही सरस बनाना चाहती है। अजित और हरेन्द्र से बात करते समय उसकी आँखें आँसू से भर उठती हैं। वह कहती है, "ऐसी मीठी बात बहुत दिनों से सुनी नहीं है भाई, इसीसे सुनने के लिए कुछ लोभ होता है।" वस्तुतः ईर्ष्या और द्वेष से परे हटकर उसने स्नेह और ममता को ही अपने जीवन का पाथेय बनाया है।

नीलिमा के व्यक्तित्व का एक प्रमुख गुण उसकी निर्भीकता भी है। लोगों के कहने-सुनने के डर के मारे कोई भी व्यक्ति कमल को अपने घर नहीं बुलाना चाहता। परन्तु नीलिमा अविनाश के मना करने के बावजूद उसे अपने यहाँ आमन्त्रित करती है। इसके बाद घर आयी कमल को जब अविनाश कुछ व्यंग्य करके कहते हैं तो बहुत कड़ाई के साथ नीलिमा कहती है, "प्रश्न का उत्तर न दे सकने में तो लज्जा नहीं होनी चाहिए। किन्तु शिष्टता का लंघन करने में लज्जा अवश्य होनी चाहिए।" इस प्रकार अविनाश के घर रहकर और उन्हीं की जीविका से भरण-पोषण करने पर भी, नीलिमा उनका कोई अन्याय सहने को तैयार नहीं है। उसकी चारित्रिक दृढ़ता के सम्मुख सभी को झुकना पड़ता है।

एक औसत गृहस्थिन होने पर भी नीलिमा की विचार-शक्ति काफ़ी विकसित है। हर एक घटना और व्यक्ति के सम्बन्ध में उसका अपना स्वतन्त्र मत है। बेला को सुनाकर वह कहती है, "सभी बड़ी चीज़ें मनुष्यों के हा-हाकार से ही पैदा होती हैं, अतः संसार के आमोद-प्रमोद में ही जो लोग मग्न रहते हैं, यह उन की आँखों से कैसे दिखाई पड़ सकती है।" इस वाक्य में मानव-जीवन का बड़ा सत्य नीलिमा ने व्यक्त किया है, जो स्वयं उसकी अनुभूति पर आधारित है, ऐसा

जान पड़ता है। इसी प्रकार एक स्थल पर वह कमल से कहती है, "मैंने पुस्तकें नहीं पढ़ी हैं, अनुभव भी कम है, तर्क करके मैं तुम को समझा नहीं सकती, किन्तु मालूम होता है कि असली चीज़ का पता तुमको आज तक भी नहीं मिला है। श्रद्धा, भक्ति, स्नेह और विश्वास, इन्हें छीना-झपटी करके नहीं पाया जा सकता, अनेक दुःख से बहुत देर में ये दिखाई देते हैं। दिखाई पड़ने पर रूप-यौवन के प्रश्न न मालूम कहाँ मुँह छिपाये रहते हैं कमल, पता लगाना कठिन हो जाता है।" नीलिमा के ये विचार पौस्तकीय सचमुच नहीं हैं। इसके पीछे बहुत लम्बा अनुभव हो, शायद ऐसी भी बात नहीं है। वस्तुतः नीलिमा की यह सुझली हुई विचार-शक्ति उसकी गहरी अन्तर्दृष्टि के फलस्वरूप है।

अपने निश्छल एवं स्नेहमय स्वभाव के कारण नीलिमा के सम्बन्ध उपन्यास के सभी पात्र-पात्रियों से बहुत प्रीतिकर हैं। अविनाश की वह साली है, उनके घर की देखभाल करती है। अतः उनसे हँसी-मज़ाक़ का रिश्ता तो उसका है ही। वैसे भी ये साली और बहनोई एक-दूसरे का यथोचित सम्मान करते हैं। किन्तु इस सबके बावजूद अन्याय की बात पर नीलिमा अविनाश से दबती नहीं है। उसका स्पष्ट कथन है, "मैं उनकी साली हूँ, साली की बहिन नहीं कि पति रूपी चरम-गुरु की गदा घुमाकर मेरे ऊपर शासन करेंगे।" एक स्थल पर कमल के प्रति कुछ तीखी बात कहे जाने पर वह कहती है, "शिवनाथ से त्रुटि हुई है मुखर्जी महाशय, उन पर जुरमाना करके हम बदला लेंगे। किन्तु गुरुगिरी में तो कोई भी पुरुष कम नहीं होता। इसीलिए प्रार्थना करती हूँ कि तुम अपनी बुद्धि से दो-एक प्रिय वाक्य बाहर निकालो, हम सभी सुनकर धन्य हों।" यही नहीं, आत्मसम्मान के क्षत होने पर वह कटिबद्ध होकर उसकी रक्षा के लिए भी तत्पर हो जाती है। हरेन्द्र के माध्यम से वह अविनाश से कहती है, "तब तो मेरे सम्बन्ध में कृपा करके उन्हें स्मरण करा दो बबुआ जी कि किसी को छोटी मालकिन कहकर पुकारते रहने से ही वह यथार्थतः गृहिणी नहीं हो जाती। उसके ऊपर शासन करने की मात्रा का भी उसे ज्ञान रहना चाहिए। मेरी तरफ़ से मुखर्जी महाशय के अनुभव के भण्डार में आज इतना और जमा हो जाय। भविष्य में यह काम में आ सकता है।"

नीलिमा के हृदय का सबसे कोमल भाग कदाचित् हरेन्द्र एवं कमल के हिस्से में आया है। शायद इसीलिए कि दोनों ही नीलिमा की भाँति अपने-अपने परिवारों से वियुक्त हैं। हरेन्द्र के सुख-दुःख के लिए तो वह बहुत ही चिन्तित रहती है। वह उन्हें विवाहित एवं गृहस्थ रूप में देखना चाहती है, इसीलिए उनके ब्रह्मचर्याश्रम से वह क्रुद्ध रहती है, परन्तु स्वयं हरेन्द्र से वह चाहे जो कुछ कह ले, औरों के व्यंग्य उसे सह्य नहीं हैं। इसके लिए वह अविनाश का भी तिरस्कार करती है। प्रारम्भ में ही जब हरेन्द्र अविनाश के घर ठहरने आया था, तब से उसे

नीलिमा की आत्मीयता प्राप्त हुई है, जिसमें कभी कोई कभी नहीं पड़ी। अपना घर लेकर जब हरेन्द्र उसमें जाने को प्रस्तुत होता है तो नीलिमा कहती है, "किन्तु देश-सेवा के नशे की खुमारी अब तक भी तुम्हारी आँखों से दूर नहीं हुई है बबुआजी, और भी कुछ दिनों तक अपनी भाभी की हिफ़ाजत में रह लेते।" अपनी 'हिफ़ाज़त' में रखने की नीलिमा की यह भावना ही मानो हरेन्द्र की रक्षा का कवच बन गयी है।

कमल के प्रति 'शेष प्रश्न' के प्रायः सभी चरित्रों के मन में कुछ-न-कुछ पूर्व-ग्रह रहा है। केवल आशु बाबू और उनके साथ-साथ नीलिमा—ये ही दोनों व्यक्ति ऐसे रहे हैं जिन्होंने कमल को सहृदयतापूर्वक समझने की चेष्टा की है। सामूहिक रूप से कमल की बुराई सुनते एक दिन नीलिमा अविनाश से कहती है, "मुखर्जी महाशय, कमल से मैं एक बार मिलना चाहती हूँ। मेरी बड़ी इच्छा है कि उसे निमन्त्रण देकर खिलाऊँ।" और कमल से मिलने की यह इच्छा वह अन्ततोगत्वा पूरी ही करती है—उसे हरेन्द्र के आश्रम में बुला कर। जितनी देर तक कमल उसके साथ रहती है, वह उसके ऊपर कोई आक्षेप नहीं होने देती, परन्तु यह नियति का व्यंग ही है कि नीलिमा जिस व्यक्ति को इतना अधिक चाहती है, वही उसके सिद्धान्तों के एकदम विरुद्ध है। कमल एकनिष्ठ प्रेम और सतीत्व के आदर्श को एकदम नहीं मानती, जिसके ऊपर नीलिमा का वैधव्य-जीवन अवलम्बित है, परन्तु इस सबके बावजूद नीलिमा के मन में कमल के लिए एक अत्यन्त कोमल कोना सुरक्षित है। वह कहती है, "उनमें से किसी में मैं शामिल नहीं हूँ। मेरे घर में कभी तुम्हारा अनादर न होगा।" कमल को लेकर बहुत अधिक वाद-विवाद करना नीलिमा को पसन्द नहीं है। वह कहती है, "वह बेचारी शिष्ट-समाज से बाहर, बस्ती से बाहर पड़ी हुई है, उसे लेकर आप लोग खींचातानी क्यों कर रहे हैं?" यही नहीं, बेला के ऊपर कटाक्ष करती हुई वह कमल की प्रशंसा में आगे कहती है, "कमल चाहे और जो कुछ भी करे, जिस पति को उसने लांछन लगा कर घृणा से छोड़ दिया है, उसी के दिये अन्न का ग्रास मुँह में डाल कर, उसी के दिये कपड़े से लज्जा बचाकर जीवित रहना नहीं चाहती। अपने को इतनी छोटी बनाने के पहले वह आत्महत्या करके मर जाती।" उपन्यास के अन्त में कमल जब आगरा छोड़कर अजित के साथ कहीं बाहर चलने लगती है तो हरेन्द्र के घर होने वाले विदा-भोज में नीलिमा उसे दरवाज़े की आड़ में बुलाकर अपनी आँखें पोंछती हुई कहती है, "कमल, मुझे कहीं भूल मत जाना।" और इसके आगे उस से कुछ कहते ही नहीं बनता। फिर जब कमल उससे कहती है, "तुम और जो भी इच्छा हो वह करो बहन, किन्तु अविनाश बाबू के घर की बेगारी करने को राज़ी मत होना" तो वह संक्षेप में उत्तर देती है, "ऐसा ही होगा कमल।" और इस प्रकार अन्ततोगत्वा वह कमल के प्रभाव को स्वीकार कर लेती है।

बेला से नीलिमा शायद बहुत प्रसन्न नहीं रहती। शायद इसीलिए कि वह उसके मूल सिद्धान्तों के प्रतिकूल जीवन-यापन करती है। अतः उसके बारे में जो कुछ भी वह कहती है, उसमें थोड़ा-बहुत तीखापन अवश्य रहता है। सदैव सहृदयतापूर्वक तथा मधुर वार्तालाप करने वाली नीलिमा बेला को अन्त तक क्षमा नहीं कर सकी। वह आशु बाबू से कहती है, "दुश्चरित्र पति को त्याग देने में जितना भी सत्य क्यों न हो, बेला के पति-त्याग में तनिक भी सत्य नहीं है, यह बात मैं ज़ोर देकर कह सकती हूँ।"

हरेन्द्र के समान ही नीलिमा अजित को भी बहुत अधिक चाहती है। उसका असमय का वैराग्य उसे ज़रा भी पसन्द नहीं है। इसीलिए अजित को विवाहित रूप में देखने की उसकी हार्दिक इच्छा है। उसकी ओर इशारा करती हुई वह हरेन्द्र से कहती है, "तुम्हारे मुँह पर फूल-चन्दन पड़े बबुआजी, ऐसा ही हो। उनके मन में थोड़ा पाप हो, वे पकड़े जायँ किसी दिन—मैं काली-घाट जाकर ठाठ-बाट से पूजा दे आऊँगी।" इन शब्दों में अजित के प्रति उसका स्नेह, ममत्व एवं अधिकार स्पष्ट झलकता है। बिना रक्त-सम्बन्ध के ऐसी अपनाव की भावना रखना शरत् के नारी पात्रों की एक प्रमुख विशेषता है। नीलिमा का चरित्र उसका एक सशक्त उदाहरण है।

नीलिमा के चरित्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग उसके आशु बाबू के प्रति प्रेम से सम्बद्ध है। यह शरत् बाबू की ही सामर्थ्य थी कि उन्होंने एक रूपवान, सुशील, बुद्धिमती एवं चरित्रवान विधवा को वात-रोग ग्रस्त एक ऐसे वृद्ध व्यक्ति से प्रेम करते दिखाया है, जिसके मन में रूप और यौवन का आकर्षण समाप्त हो चुका है। इस दृष्टिकोण से नीलिमा के चरित्र का अध्ययन मनोविज्ञान के क्षेत्र में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। प्रेम की उत्पत्ति में रूपासक्ति और साहचर्य का योग बताया जाता है, परन्तु इस विशिष्ट उदाहरण में रूपासक्ति का स्थान एकदम नहीं है। नीलिमा के मन का स्नेह, ममता तथा दया-जैसी कोमल वृत्तियाँ ही आशु बाबू जैसे सरल और सुलझे हुए व्यक्ति के सम्पर्क में आकर प्रेम के रूप में परिणत हो जाती हैं। इस सम्बन्ध में हम कुछ और अधिक न कहकर, केवल आशु बाबू के एक लम्बे उद्धरण को प्रस्तुत करते हुए इस प्रसंग को समाप्त करेंगे। कमल के सम्मुख इस अत्यन्त अप्रीतिकर विषय को उपस्थित करते हुए आशु बाबू कहते हैं, "स्वप्न में भी नहीं सोचा था। और कोई होता तो सन्देह होता कि यह केवल छल या धोखा है, एकदम स्वार्थ है। किन्तु उसके सम्बन्ध में ऐसी बात सोचना भी अपराध है। क्या ही आश्चर्यजनक स्त्रियों का यह मन है। यह रोगातुर जीर्ण शरीर, यह असमर्थ अवसन्न चित्त; जीवन की इस अपराह्न बेला में जबकि जीवन का कानी कौड़ी भी दाम नहीं रहता, ऐसे मनुष्य के प्रति भी किसी सुन्दरी युवती का मन आकर्षित हो सकता है, इससे बढ़कर

आश्चर्य की बात दुनिया में और क्या हो सकती है ! फिर भी, यह सच है, इसमें जरा भी झूठ नहीं है···किन्तु मैं निश्चित रूप से जानता हूँ कि यह बुद्धिमती नारी मुझसे कुछ भी प्रत्याशा नहीं करती । वह केवल चाहती है मेरी सेवा करना, केवल यही चाहती है कि सेवा के अभाव में जीवन में इने-गिने शेष दिन दुःख में ही न बीत जायँ । केवल उद्देश्य है दया और अकृत्रिम करुणा !"

'शेष प्रश्न' की बेला को हम पार्श्व-चरित्र के रूप में मान सकते हैं। उसका वर्णन करते हुए उपन्यासकार कहता है, "बेला कलह-प्रिय रमणी नहीं है, और विशेषतः वह सुशिक्षित है, उसने बहुत देखा-सुना है और उम्र भी शायद पैंतीस के ऊपर पहुँच चुकी है, किन्तु संयम-नियम के कारण यौवन का लावण्य अभी तक ढला नहीं मालूम होता, वैसा ही बना हुआ है। रंग उज्ज्वल है, मुँह का एक विशिष्ट रूप है, किन्तु ध्यान से देखने से मालूम हो जाता है कि स्निग्ध कोमलता के अभाव में वह मानो रूखा हो गया है।" वस्तुतः बेला का चरित्र बहुत ही यथार्थवादी धरातल पर है, और उसके व्यक्तित्व में गुणों और अवगुणों का खूब ही अच्छा मिश्रण हो गया है । क्रोध करके झगड़ा करना उसकी शिक्षा और सौजन्य के विरुद्ध है । आत्म-सम्मान का ध्यान उसे अधिक रहता है। इस आत्म-सम्मान के प्रति सजग रहने के ही कारण वह पति से समझौता नहीं कर पाती है, और उनसे अलग रहती है । फिर भी अपने अधिकार का अनुभव करती हुई वह पति की क्षमा-याचना के बावजूद अदालत जाती है, और वहाँ से अपने भरण-पोषण के लिए पति से एक अच्छी-खासी रक़म लेने का फ़ैसला करवा लेती है। स्पष्ट ही उसके इस व्यवहार में भारतीय सभ्यता की अपेक्षा पश्चिमी सभ्यता का अधिक निर्वाह हुआ है। और इसीलिए वह नर-नारी के समानाधिकार तत्त्व की प्रबल समर्थिका है। वह कहती है, "अपने सम्मान, समस्त नारी-जाति के सम्मान की रक्षा के लिए उस दिन मैंने परवाह नहीं की, आज भी न करूँगी। अपनी मर्यादा खोकर पति की घर-गृहस्थी चलाना मैंने पसन्द नहीं किया···किन्तु मैंने अनुचित कुछ नहीं किया, इस कारण जैसे उस दिन नहीं डरी, आज भी मैं वैसी ही निडर हूँ। अपनी विवेक-बुद्धि के सामने मैं बिलकुल निर्दोष हूँ।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपने इन विवाह एवं समानाधिकारों के सिद्धान्तों के कारण बेला का चरित्र बहुत-कुछ कमल से मिलता-जुलता जान पड़ता है। आशु बाबू कहते हैं, "कमल, तुम्हारी तरह सोचने और साहस का परिचय देने में मैंने केवल एक ही लड़की देखी है, वह है यही बेला।" परन्तु इन दोनों चरित्रों में इस बाह्य समानता के अतिरिक्त मूलगत अन्तर भी बहुत है। इस सम्बन्ध में केवल एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा। पति से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने पर कमल उनसे अपने भरण-पोषण के लिए एक भी पैसा लेना पसन्द नहीं करती । वह अत्यन्त निर्धनता में किसी प्रकार दूसरों के कपड़े सीकर अपना निर्वाह करती है, किन्तु किसी भी अन्य

के सामने हाथ नहीं पसारती। इसके विपरीत बेला अपने पति को त्याग देने के बाद भी उनसे रुपये लेती रहती है और इस प्रकार वैभव एवं विलासमय जीवन व्यतीत करती है। यहीं हम दोनों के दृष्टिकोणों में एक मौलिक अन्तर देख सकते हैं, और यह निश्चित है कि स्वयं बेला भी इस अन्तर को भली-भाँति पहचानती है। इसीलिए कमल को लेकर उसके मन में एक हीनता ग्रन्थि बन गयी है। वह यथासम्भव उसकी उपेक्षा एवं अनादर करने को ही प्रस्तुत रहती है।

'शेष प्रश्न' की कथा-वस्तु में मालिनी का यत्र-तत्र उल्लेख-भर मिलता है। वह आगरा के नये मैजिस्ट्रेट की पत्नी है। उसके प्रयत्न से और उसके ही घर पर नारी कल्याण-समिति की स्थापना हुई है। मालिनी की चारित्रिक संवेदना बहुत अंशों में बेला से मिलती-जुलती है। 'वे पदस्थ व्यक्तियों की स्त्रियाँ हैं। हाई सर्किल की महिलाएँ हैं। अँग्रेज़ी बातचीत, चाल-चलन, वेशभूषा में अप्टूडेट हैं,' बेला की ही भाँति मालिनी भी यथासम्भव कमल का अपमान करने का अवसर ढूँढ़ती है। 'नारी-कल्याण-समिति' के प्रमुख उद्देश्यों में-से एक कदाचित् यह भी रहा होगा। उसकी एक बैठक में तो कमल के चाल-चलन की ही बुराई की जाती है। वस्तुतः मालिनी बाहरी तड़क-भड़क में व्यस्त रहने वाली उन महिलाओं में से एक है, जो मानव-मन के अन्दर एकदम नहीं पैठ पातीं।

'शेष प्रश्न' के नारी-पात्रों की उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचना के उपरान्त हम कह सकते हैं कि इस उपन्यास का नारी-समाज अत्यन्त सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत है। शरत् बाबू के कथा-साहित्य में इस कृति की यह अपनी विशेषता है। प्रस्तुत उपन्यास के प्रायः सभी नारी-पात्र अत्यन्त विचारवान एवं तर्कशील हैं। अपने कथोपकथनों में वे सूत्र-शैली का व्यवहार अधिक करते हैं। और कमल की बुद्धि तथा तर्क-शैली की प्रखरता तो अतुलनीय है। इसीलिए सारे उपन्यास का वातावरण नितान्त बौद्धिक हो उठा है, फिर भी वह मन को उबाता नहीं, आकर्षित ही अधिक करता है।

विप्रदास

'विप्रदास' शरत् बाबू का अन्तिम पूर्ण उपन्यास है। बहुत-से आलोचकों के मतानुसार उनकी यह कृति पूर्वागत सभी रचनाओं से, विचार और विधान दोनों में, अधिक प्रौढ़ है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह मत बहुत अंशों में सत्य है। इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें उन्होंने नारी के भारतीय रूप को ही अधिक श्रेयस्कर एवं महिमामय दिखाया है। नारी के पूर्वी और पश्चिमी संस्कृतियों से अनुप्राणित, दो विभिन्न एवं प्रायः विरोधी रूपों में, श्रेष्ठता के लिए जो संघर्ष शरत् बाबू के मन में चल रहा था, उसकी चरम सीमा उनके सर्वापेक्षा प्रसिद्ध उपन्यास 'शेष प्रश्न' में पहुँच गयी है, परन्तु इसके बाद, जान पड़ता है कि उनका निर्णय नारी के परम्परागत भारतीय रूप के ही पक्ष में रहा। इस सबके पीछे स्वयं उपन्यासकार की अपनी निजी अनुभूतियाँ रही होंगी, यह मानना कदाचित् बहुत न्यायसंगत होगा। बंगाली नारी-समाज में अँग्रेज़ी शिक्षा के फलस्वरूप जो कुरीतियाँ घर कर गयी थीं, उसके दुष्परिणामों को शरत् बाबू ने भलीभाँति समझा था। विदेशी संस्कृति से प्रेरित कृत्रिम आचार-व्यवहारों से नारी का सहज रूप कितना विकृत और खोखला हो सकता है, इसका अंकन उन्होंने प्रस्तुत उपन्यास में बहुत अच्छी तरह से किया है। वन्दना की मौसी, और उनके परिजन इसी वर्ग के चरित्र हैं।

जहाँ तक उपन्यास के रूप-गठन का सम्बन्ध है, इस क्षेत्र में उसकी श्रेष्ठता निर्विवाद है। यह कथावस्तु के चयन की ही विशेषता है कि 'विप्रदास' इतना सशक्त तथा प्रभावोत्पादक उपन्यास बन सका है। मनोवेगों और संस्कारों के पारस्परिक तीखे संघर्ष का मिश्रण जिस प्रकार से इसमें किया गया है, वह पाठक के हृदय को झकझोर देता है। शरत् के पिछले उपन्यासों में इतना शक्तिशाली कथानक कदाचित् केवल 'गृहदाह' में ही मिलता है। अत्यन्त ही सुगठित शैली के फलस्वरूप 'विप्रदास' का प्रत्येक स्थल बहुत मार्मिक बन गया है।

'विप्रदास' की कथा अत्यन्त संक्षेप में इस प्रकार कही जा सकती है— बलरामपुर के समृद्ध ज़मींदारों का घराना मुखर्जी परिवार के नाम से विख्यात

है। इस परिवार में विधवा माँ गृहस्वामिनी के पद पर प्रतिष्ठित हैं। उनके दो पुत्र हैं। बड़ा लड़का सौतेला है—विप्रदास, छोटे का नाम है द्विजदास। माँ बड़े लड़के से जितना ही सन्तुष्ट रहती हैं, उतना ही छोटे लड़के से असन्तुष्ट। विप्रदास की पत्नी का नाम है सती। अपने देवर द्विजदास पर उसके स्नेहाधिकार की सीमा नहीं। उसकी यह आन्तरिक कामना है कि उसका विवाह किसी प्रकार उसकी चचेरी बहिन वन्दना से हो जाय, परन्तु इसमें कठिनाई यह है कि वन्दना का परिवार तो आंग्ल सभ्यता को सम्पूर्णतः अपनाये हुए है, और विप्रदास के घर में, विशेषतः उनकी विधवा माँ, सभी लोग कट्टर हिन्दू धर्म के अनुयायी हैं। द्विजदास को अवश्य ही अपवाद-स्वरूप माना जा सकता है।

एक बार अनायास ही वन्दना अपने पिता के साथ बलरामपुर आ पहुँचती है। सती के माध्यम से द्विजदास और वन्दना एक-दूसरे के बारे में काफ़ी सुन चुके हैं, और इस प्रथम भेंट के अवसर पर दोनों एक-दूसरे की ओर आकर्षित भी होते हैं, परन्तु इसके साथ-ही-साथ वे अपनी सीमाओं को भी जानते हैं। अपने आत्माभिमानी स्वभाव के कारण वन्दना विप्रदास की माँ दयामयी का कठोर आचार-व्यवहार देखकर अपमानित अनुभव करती है। उनके हृदय की कोमलता और स्नेह को वह नहीं पहचान पाती।

इसके उपरान्त परम्परागत संस्कारों और अपरिहार्य मनोवेगों का तीखा संघर्ष प्रारम्भ होता है। दयामयी और वन्दना, वन्दना और विप्रदास, वन्दना और सुधीर तथा वन्दना और अशोक के बीच आकर्षण और विकर्षण की स्थिति कई बार एक-दूसरे की स्थानापन्न होती है, परन्तु इस सारी उथल-पुथल के बीच भी वन्दना और द्विजदास का अप्रकट सम्बन्ध अक्षुण्ण बना रहता है। एक बार विप्रदास ने वन्दना को आशीर्वाद दिया था कि जो तुम्हारा वास्तव में अपना होगा उसको ही तुम किसी दिन पा जाओगी। और अन्ततोगत्वा विप्रदास का वह आशीर्वाद सफल होता है। अनेकानेक संघर्षों के बाद दृढ़ एवं अपरिवर्तित स्नेह की विजय दिखाना शरत् के कथाकार का जैसे चरम ध्येय रहा है।

मुखर्जी-परिवार की अत्यन्त ही दुःखमय स्थिति का द्विजदास से समाचार पाकर वन्दना अपने पिता की आज्ञा लेकर बम्बई से बलरामपुर चली आती है। एक सप्ताह के अनन्तर उसके पिता भी आ जाते हैं, और उनके सामने द्विजदास तथा वन्दना का विवाह सम्पन्न होता है, परन्तु तब तक मुखर्जी-परिवार के व्यक्तियों की संख्या बहुत कम हो गयी है—सती की मृत्यु हो चुकी है। विप्रदास और उनकी माँ तीर्थाटन के लिए जा रही हैं जो शायद कभी समाप्त न होगा। द्विजदास की बहिन कल्याणी तथा उसके पति शशधर का इस घर से सम्बन्ध टूट चुका है। अपने चाचा की गृहस्थी में रहने के लिए विप्रदास का एकमात्र पुत्र बासू ही अवशिष्ट रह जाता है, और रह जाती है घर की पुरानी दासी अन्नदा।

और इस प्रकार जीवन की सुख-दुख और धूप-छाँह से युक्त गोधूलि-वेला में उपन्यास का अन्त होता है।

यहाँ शरत् की चरित्र-निर्माण-शैली के सम्बन्ध में एक समस्या पर विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। प्रायः ही यह कहा जाता है कि शरत् ने अपने उपन्यासों में पुरुष-पात्रों को अत्यन्त दुर्बल तथा अशक्त रूप में अंकित किया है। वे सदैव ही नारी की महत्ता के शिकार रहते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में इस विषय के विस्तार में जाना सम्भव न हो सकेगा। यहाँ केवल इतना ही कहा जा सकता है कि 'विप्रदास' के कथानक के आधार पर यह आक्षेप नितान्त निर्मूल सिद्ध होता है। इस अत्यन्त सशक्त उपन्यास का नायक है शीर्षक-चरित्र विप्रदास। और इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रारम्भ से लेकर अन्त तक उसके व्यक्तित्व की दृढ़ता एवं कठोरता अक्षुण्ण रहती है। उपन्यास के सभी पुरुष और नारी पात्र उसकी प्रभविष्णुता से अभिभूत रहते हैं। वन्दना हँसी-हँसी में ही विप्रदास को जो 'बाघ' की पदवी से विभूषित करती है, उसका भाव यही है कि विप्रदास के सम्मुख स्वच्छन्दता बरत पाना किसी के लिए भी संभव नहीं है। यहाँ तक कि दयामयी-जैसे महिमामय व्यक्तित्व को भी कहीं-कहीं अपने पुत्र के सम्मुख झुकना पड़ता है। यहाँ साथ-ही-साथ यह भी स्मरणीय है कि विप्रदास की मातृ-भक्ति सचमुच पौराणिक है।

'विप्रदास' के नारी-पात्रों की संख्या दस है, परन्तु स्पष्ट ही इनमें से सबका कथानक में महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। प्रधान नारी-चरित्र तीन हैं—वन्दना, दयामयी और सती। अन्नदा, मैत्रेयी और वन्दना की मौसी को पार्श्व-चरित्र कहा जा सकता है। शेष चार पात्र—कल्याणी, प्रकृति, हेम तथा बैरिस्टर-पत्नी का उपन्यास में यत्र-तत्र उल्लेख-भर है। सबसे पहले हम उपन्यास की नायिका वन्दना के चरित्र का विश्लेषण करेंगे।

वन्दना का चरित्रांकन शरत् बाबू ने अत्यन्त ही अनुभवगम्य धरातल पर किया है। शरत् के जीवन-काल में बंगाल का सामाजिक जीवन बहुत-से सुधारों से आक्रान्त हो उठा था। ब्राह्म-समाज तथा कुछ अन्य पाश्चात्य परिपाटी में शिक्षित व्यक्तियों के प्रभाव के फलस्वरूप ही बंगाल में इन सामाजिक सुधारों की लहर-सी उठी। इनमें से प्रमुख थे—स्त्री-शिक्षा का प्रचार, सती-प्रथा का विरोध, विधवा-विवाह का प्रचलन, पुरुषों द्वारा बहु-विवाह की संस्था का विरोध, स्त्रियों के बाल-विवाह का बहिष्करण तथा कुलीनता की भावना का विरोध। स्पष्ट ही इन सुधारों से प्रभावित होने वाले व्यक्तियों में स्त्रियों की संख्या अधिक थी। कदाचित् तत्कालीन बंगाली नारी-समाज की दुरवस्था को देखकर ही इन सुधारों की आयोजना भी हुई थी। और यह भी सच है कि उस समय के बंगाल में नारी की सामाजिक स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। 'श्रीकान्त' के एक पात्र के

माध्यम से स्वयं शरत् बाबू ने कहलाया है, "बंगाल की कन्या अत्याचार की चिर-अभ्यस्त है; और कहीं तो शायद कुत्ते-बिल्लियों की भी इतनी दुर्गति करने में मनुष्य का हृदय काँपता होगा" (4 : 160)। इन कन्याओं की दुरवस्था के विरोध में ही सुधारकों को अपनी अधिक-से-अधिक शक्ति लगानी पड़ी थी। इन सुधारों की थोड़ी-बहुत सफलता के साथ बंगाल में स्त्री-पुरुषों के एक नव्य दल की स्थापना हुई, जिसकी जीवन-चर्या और सामाजिक मर्यादाएँ प्रमुखतः आंग्ल-संस्कृति से अनुप्राणित थीं। वन्दना का चरित्र शरत् बाबू ने इस नव्य दल की प्रतिनिधि के रूप में ही अंकित किया है।

सामाजिक सुधारों की प्रत्येक लहर अपने साथ कुछ बुराइयाँ भी लाती है। 19वीं शती के अन्तिम भाग तथा 20वीं शती के प्रारम्भ में बंगाल में जो नारी-जागरण हुआ, उसमें भी सामाजिक बुराइयों का प्रवेश हुआ। इसके फलस्वरूप इस नव्य दल ने जहाँ एक ओर शिक्षा तथा विवाह आदि सम्बन्धी सुधारों को अपनाया, वहीं दूसरी ओर उसमें बनावटीपन, मिथ्या सामाजिक मर्यादाएँ, प्राचीन परम्पराओं का अकारण विरोध तथा इसी प्रकार की कुछ अन्य कुरीतियाँ भी आ गयीं। तनिक गहराई से देखने पर इस वर्ग के खोखलेपन का स्पष्ट भान होने लगा। 'विप्रदास' में वन्दना की मौसी और उनके परिवार के अधिकांश व्यक्तियों का चित्रण इसी रूप में हुआ। इस वर्ग के सदस्यों ने अपनी संस्कृति में जो कुछ भी अच्छा था, उसका त्याग करके, पाश्चात्य संस्कृति के अत्यन्त सतही रूप को ही अपनाया। फलतः उनके सामाजिक जीवन में किसी भी प्रकार की निष्ठा अथवा आस्था अवशिष्ट न रही, और उसका स्वरूप एकदम जर्जर हो उठा।

इस नव्य दल की एक सदस्या के रूप में वन्दना भी इन बुराइयों से बची नहीं रही, उपन्यास के प्रारम्भ में उसका दृष्टिकोण हमें बहुत कुछ सतही दिखाई देता है। परन्तु उसकी आन्तरिक मर्यादाओं के पूर्णतः विघटित होने के पूर्व ही उसे विप्रदास और उसके परिवार का साहचर्य मिल गया। यहाँ आकर उसने वह आस्था पुनः प्राप्त कर ली जो उसके अपने व्यक्तित्व में नष्ट हो गयी थी। और इस प्रकार उसके चरित्र में पूर्वी तथा पश्चिमी संस्कृति के तत्त्वों का उचित अनुपात में सम्मिश्रण सम्भव हो सका। इस सानुपात सम्मिश्रण के कारण ही उसका व्यक्तित्व उपन्यास के मध्य-भाग से एकदम निखर उठा है। वस्तुतः 'विप्रदास' की वन्दना को जिस मोहक तथा प्रभावशाली रूप में कथाकार ने हमारे सम्मुख उपस्थित किया है, उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि शरत् बाबू नारी के रूप में इसी समन्वय को वांछनीय समझते थे। वन्दना का चित्रण उपन्यासकार ने यद्यपि बहुत तटस्थ होकर किया है. फिर भी इस चरित्र के प्रति उसके मन का आन्तरिक मोह छिप नहीं पाता।

रवीन्द्रनाथ के अनुसार स्त्रियों की दो जातियाँ होती हैं—एक तो माता,

और दूसरी प्रिया। वन्दना का व्यक्तित्व दूसरे वर्ग के अन्तर्गत आता है। उसके व्यक्तित्व का एक अंश कठोर होते हुए भी, उसकी सम्पूर्ण सुकुमारता को नष्ट नहीं कर पाता। उसका स्वभाव बहुत सरल तथा निःसंकोच है, प्रथम बार अपनी बहिन के घर आने पर उसकी स्वच्छन्दता द्विजदास को चकित कर देती है। किशोरावस्था पार कर चुकने पर भी वह अपने बाबूजी से कहानी सुनती है; और इस तथ्य को सबके सम्मुख स्वीकार करने में उसे कोई लज्जा नहीं है। दुर्लभ सौन्दर्य की स्वामिनी होने पर भी उसे इस बात का गर्व नहीं है। दूसरे लोग इससे अवश्य ही प्रभावित होते हैं। सती का मत है कि 'वन्दना की संसार में कोई अवहेलना नहीं कर सकता।'

वन्दना के स्वभाव की कठोरता भी अपनी प्रकृति में बहुत सात्त्विक है। प्रथम भेंट के समय विप्रदास के बहु प्रशंसित परिचय को सुनकर वह उन्हें जमीन पर झुककर प्रणाम नहीं करती। उसकी माँ से अपमानित अनुभव करने पर वह बिना कुछ खाये-पिये ही तत्काल अपने पिता के साथ चल देती है। उसका यह हठ निश्चय ही उसके पिता के दुलार का परिणाम है। वे स्वयं भी कहते हैं, "एक बार हठ पकड़ने पर फिर यह उससे विरत नहीं की जा सकती।" विप्रदास के कलकत्ते वाले घर से भी ठीक इसी प्रकार से वह चल देती है, और अकेले पड़े हुए द्विजदास की तबीयत खराब है, इस बात की भी चिन्ता नहीं करती। ठीक इसके विपरीत एक बार अपनी मौसी के बहुत डराने-धमकाने के बावजूद वह रुग्ण विप्रदास को छोड़कर, उनके घर जाने को तैयार नहीं होती। वन्दना के इन व्यवहारों को देखकर लगता है कि कभी-कभी उसके कुछ अपने 'मूड' होते हैं, परन्तु इससे उसकी स्थायी विचारशीलता को कोई हानि नहीं पहुँचती। कभी-कभी जाग्रत होने वाला उसका हठ उसका अपने पिता पर अधिकार व्यक्त करता है।

वन्दना का यह चांचल्य तथा कठोरता, दोनों ही बहुत कुछ उसकी स्वाभिमानी प्रकृति के कारण हैं। विप्रदास-जैसे व्यक्तित्व की महत्ता को भी पूर्णतः वह उपन्यास के अन्तिम अंशों में ही स्वीकार कर पाती है। दयामयी से प्रारम्भ में रुष्ट हो जाने का प्रधान कारण उसके अभिमान को ठेस लगना ही है। बाद में विप्रदास के सम्मुख वह इस आत्मप्रतिष्ठा की बात कहती भी है। इस आत्म-अभिमान के साथ उसके व्यक्तित्व में एक आत्म-अधिकार की भावना भी मिश्रित है। विप्रदास का मैनेजर इस बात का भलीभाँति अनुभव करता है, "विप्रदास की आज्ञा की अवहेलना करना कठिन है, यहाँ तक कि असम्भव भी कह सकते हैं, किन्तु इस अपरिचित लड़की की सुनिश्चित, असंदिग्ध आज्ञा न मानना भी कम कठिन नहीं है। प्रायः उतना ही असम्भव है।" सौन्दर्य तथा विचार-शक्ति ने मिलकर वन्दना के व्यक्तित्व को एक अजब-सी दृढ़ता दे रक्खी

है, विप्रदास का सारा तेज भी उसकी इस दृढ़ता को कहीं-कहीं नहीं दबा पाता।

अपनी शिक्षा-दीक्षा के अतिरिक्त वन्दना का बौद्धिक स्तर काफ़ी ऊँचा है। इसीलिए वाद-विवाद करने की शक्ति भी उसमें कम नहीं है। अपनी विचार-शक्ति के कारण ही वह दयामयी से तिरस्कृत अनुभव करने पर भी क्षमा माँगती है। अपने चिन्तन को विप्रदास के सम्मुख व्यक्त करती हुई वह कहती है, "शायद मेरा यही स्वभाव है, हो सकता है कि मेरी अवस्था के अनुकूल यही स्वधर्म है, हृदय शून्य नहीं रहना चाहता, छटपटाकर चारों तरफ़ घूमता रहता है। शायद सभी औरतों का स्वभाव ही ऐसा होता है; प्रेमपात्र कौन है, सारे जीवन में भी खोजकर नहीं पाती···अथवा यह खोजकर पा लेने की वस्तु ही नहीं है मुखर्जी— यह मृगमरीचिका है।" धर्म-अधर्म तथा संस्कार की प्रकृति के बारे में भी उसने सोचा-विचारा है। जीवन के प्रायः सभी पहलुओं को लेकर उसने अपना निश्चित दृष्टिकोण बनाने का यत्न किया है।

पर इस सबके बावजूद वन्दना का चरित्र घोर बुद्धिवादी नहीं है। 'चरित्र-हीन' की किरणमयी अथवा 'शेष प्रश्न' की कमल के समान अधिक तर्क करने में उसकी रुचि नहीं। जीवन को एक सुसंस्कृत रूप में स्वीकार किया जाये, यही उसकी प्रधान मान्यता है। इसीलिए हास्य-विनोद-प्रिय होते हुए भी वह हल्के मज़ाक़ों अथवा आक्षेपों को सुनना पसन्द नहीं करती। वैसे विप्रदास के प्रति उसे हास्यात्मक उक्ति कहने में विशेष रस मिलता है। साधारणतः उसकी बातचीत में एक सहज मिठास रहती है, जो अनायास ही सबको मुग्ध कर लेती है। इसके अतिरिक्त सौजन्य उसके चरित्र का एक अनिवार्य अंग बन गया है।

सतत स्नेह की भावना ने वन्दना के व्यक्तित्व को अत्यन्त मधुर तथा कोमल बना दिया है। हठी स्वभाव होने पर भी वह कभी क्रुद्ध नहीं होती। किसी के प्रति विरुद्धता का भाव उसके मन में नहीं है। विप्रदास से अप्रसन्न होकर मौसी के यहाँ चली जाने पर भी, जब वह उनकी बीमारी का समाचार पाती है तो मौसी के यहाँ विवाह-समारोह को छोड़कर वह सीधी उनके पास जा पहुँचती है। विप्रदास की तो उसे इतनी अधिक चिन्ता रहती है कि उनके सारे छोटे-बड़े काम वह स्वयं करती है। इस सेवा के लिए वह उन सारे आचरणों को करती है, जिन्हें वह कुछ दिन पहिले मिथ्या ढोंग समझती थी। वस्तुतः जीवन में सरलता तथा स्नेह की भावना को उसने अत्यन्त सहज रूप में अपना रक्खा है। त्रुटि खोजते रहना उसे अच्छा नहीं लगता।

इस पूर्णतः मनोवैज्ञानिक उपन्यास में अन्य चरित्रों के प्रति वन्दना की प्रति-क्रियाएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अन्ततोगत्वा द्विजदास की पत्नी होने पर भी, वन्दना अपनी बहिन के पति विप्रदास को सबसे अधिक प्यार करने लगी है, यद्यपि प्रारम्भ में वह सजगरूप से उसके प्रभाव का तिरस्कार करती है। आगे

चलकर उसे अपने पूर्व-व्यवहार पर लज्जा का अनुभव होता है। धीरे-धीरे विप्रदास के प्रति उसका आकर्षण बहुत कुछ श्रद्धा के रूप में परिणत हो जाता है। फिर तो वह उसके प्रत्येक आचरण की प्रशंसक तथा यथा-सम्भव अनुयायी हो जाती है। यह उसके स्नेहाधिकार का ही परिणाम है कि अत्यन्त कट्टर विप्रदास उसके हाथ का बनाया हुआ भोजन स्वीकार कर लेता है। वन्दना भी विप्रदास से कोई बात छिपाती नहीं और उसके साथ रहने में उसे अत्यधिक सुख तथा शान्ति का अनुभव होता है। वस्तुतः वन्दना के चरित्र-परिवर्तन में विप्रदास का बड़ा हाथ है। जो वन्दना पहले आंग्ल-सभ्यता की अन्ध-भक्त थी, विप्रदास के सम्पर्क में आकर अपनी जातीय संस्कृति की अनुगामिनी बन जाती है। ऐसा लगता है मानो विप्रदास के समीप आकर उसका अधूरा चरित्र पूर्ण तथा सर्वांगीण हो गया हो। अशोक विप्रदास से कहता है, "वन्दना मन-ही-मन आपकी पूजा करती है, इतनी भक्ति वह संसार में किसी पर भी नहीं करती।" वन्दना की विप्रद्रास में सचमुच अडिग निष्ठा है। वह उनको वचन देती है, "इस जीवन में यदि और कभी दर्शन न पाऊँ, तो भी कहूँगी कि वे भ्रान्त नहीं हैं, उनके लिए शोक करना व्यर्थ है।" कभी समाप्त न होने वाले तीर्थ-यात्रा के लिए जाते समय, वह उनसे कहती है, "कलकत्ते में पूजा के कमरे में आपकी जिस मूर्ति को मैंने छिपा रखा था, आज फिर वही मूर्ति मेरी दृष्टि में पड़ गयी है बड़े भैया! और मुझे शोक नहीं है, आपका पता-ठिकाना भले ही न मिले। मन-ही-मन जिस दिन पुकारूँगी; आपको आना ही पड़ेगा। आप जितना भी नहीं-नहीं करें, किसी दिन भी यह बात झूठी न होगी।" 'पथेर-दावी' में जिस प्रकार का सम्बन्ध सव्यसाची तथा भारती में है, बहुत कुछ उसी प्रकार का सम्बन्ध विप्रदास तथा वन्दना में भी है।

द्विजदास के प्रति वन्दना का प्रेम अत्यन्त सहज तथा नैसर्गिक है। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक वह प्रायः एकरस रहता है। इसको यह अपने व्यक्तित्व के एक अपरिहार्य अग के रूप में स्वीकार करती है। द्विजदास की सरलता वन्दना को अत्यन्त ही प्रिय लगती है। उसकी इस निरीहता ने ही वन्दना को जीत लिया है। अनेकानेक जटिलताओं के बावजूद सुधीर तथा अशोक को छोड़कर वन्दना अन्त में द्विजदास को ही पति-रूप में स्वीकार करती है। इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध में न तो कोई जटिलता ही आयी और न कोई विषमता ही। परन्तु फिर भी इन दोनों की एक-दूसरे के प्रति प्रणय-भावना अन्त तक प्रायः मूक ही रही।

वन्दना और दयामयी के पारस्परिक सम्बन्ध में कई प्रकार की स्थितियाँ रही हैं। प्रारम्भ में वन्दना दयामयी द्वारा अपने आपको अपमानित अनुभव करती है और इसके लिए वह कोई समझौता करने को तैयार नहीं होती, पर धीरे-

धीरे स्वयं ही वह उनकी गहरी स्नेहशीलता से प्रभावित होती है। परन्तु यह सम्बन्ध इस स्थिति में बहुत दिनों तक चल भी नहीं पाता कि एकाएक दयामयी को ज्ञात होता है कि वन्दना का विवाह एक विजातीय युवक से निश्चित किया जा चुका है। इसको जानकर उनकी विमुखता का कोई अन्त नहीं रहता। परन्तु जब वन्दना स्वतः सुधीर से अपना सम्बन्ध तोड़ लेती है तो वह फिर दयामयी की विश्वास-भाजन हो जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वन्दना के अत्यन्त स्वच्छ आचरणों से प्रभावित होकर ही कट्टर दयामयी इस 'मलेच्छ लड़की' को अपना सकीं। यह सचमुच वन्दना के चरित्र की एक बड़ी विशेषता है कि वह इस घोर सनातनी घर में इतना आदर स्नेह पा गयी है। दयामयी उसको खोकर बहुत क्षुब्ध हो उठती हैं, परन्तु जब फिर उसे पाती हैं तो उनके आनन्द की सीमा नहीं रहती।

वन्दना तथा सती के सम्बन्ध में कभी किसी भी प्रकार की विरुद्धता नहीं आती। सगी बहिन न होने पर भी दोनों में स्नेह अत्यन्त प्रगाढ़ है। सती को अपनी बहिन के सौन्दर्य तथा गुणों पर गर्व है। वन्दना भी अपनी स्नेहमयी 'मँझली बहिन' का बहुत आदर करती है। यद्यपि यह सच है कि सती तथा वन्दना दोनों एक साथ कभी बहुत दिनों तक नहीं रही हैं; पर शरच्चन्द्र के पात्रों-में स्नेह की गहराई समय के अनुपात से निर्धारित नहीं होती। वन्दना सदैव सती की इच्छाओं को ध्यान में रखकर काम करती है। दोनों के बीच में जो भावात्मक सामंजस्य है, वह सचमुच स्पृहणीय है।

जैसा पहले भी संकेत किया जा चुका है, वन्दना के चरित्र में दृढ़ता होते हुए भी उसके व्यक्तिगत व्यवहार में काफ़ी चांचल्य है। उसकी इस प्रवृत्ति को अंग्रेजी में 'फ्रीकिश' शब्द द्वारा भली-भाँति व्यक्त किया जा सकता है। क्षण भर के लिए कब उसका व्यवहार किसके प्रति कैसा हो जाएगा, इसे कोई भी नहीं समझ सकता। आकर्षण तथा विकर्षण उसके मन में बड़ी तीव्रता से प्रवेश करते हैं; परन्तु किसी के भी प्रति सतत विकर्षण उसका स्थायी भाव नहीं है। उसके इस प्रकार के चंचल व्यवहार का प्रधान कारण उसके व्यक्तित्व की सरलता तथा स्नेहप्रियता है।

शरच्चन्द्र के नारी-चरित्रों में वन्दना का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। नारी-जाति सम्बन्धी उनकी विचार-धारा में वह उनकी अन्तिम मान्यताओं तथा निष्कर्षों को प्रकट करती है। परिवार तथा तत्सम्बन्धी अन्य समस्याओं को लेकर कलाकार के मन में चलने वाला संघर्ष 'नव-विधान' में अत्यन्त प्रमुख रूप से व्यक्त हुआ है। वहाँ भी अँग्रेज़ी आचार-विचार की तुलना में प्राचीन भारतीय परम्पराओं को ही विजयी होता हुआ दिखाया गया है। 'विप्रदास' में शरच्चन्द्र ने इस प्रश्न को फिर से उठाया है, और इस बार भी उनका निर्णय

भारतीय संस्कृति के ही पक्ष में रहा है। 'विप्रदास' की वन्दना प्रारम्भ में आंग्ल सभ्यता से पूर्णतः प्रभावित होने पर भी अपने बहनोई के सम्पर्क में आकर स्वजातीय परम्परागत मान्यताओं को स्वीकार कर लेती है, जिन्हें वह कभी अत्यन्त घृणा की दृष्टि से देखती थी। रचना-क्रम के अनुसार 'विप्रदास' के पहले 'शेष प्रश्न' का स्थान है। 'शेष-प्रश्न' में संस्कृति के उपादानों के पूर्वी तथा पाश्चात्य रूपों के बीच में चलने वाला उपन्यासकार के मन का संघर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। वहाँ पर आशु बाबू के रूप में स्वयं उपस्थित होते हुए भी शरच्चन्द्र अपना मत ठीक-ठीक निर्धारित नहीं कर पाते। किन्तु 'विप्रदास' तक आते-आते उनका मत सुस्थिर हो जाता है, और विप्रदास तथा वन्दना के रूप में वे संस्कृति तथा नारी के भारतीय रूप को ही स्वीकार करते हैं। और इस प्रकार सुधार तथा संस्कार में गहन संघर्ष होने के उपरान्त, शरच्चन्द्र के जन्मगत संस्कार ही अन्ततोगत्वा विजयी होते हैं।

वन्दना का चरित्र बहुत आदर्शवादी धरातल पर हो, ऐसी बात नहीं है। वह अत्यन्त यथार्थ है, और यह यथार्थता ही उसे इतना मोहक बना देती है। मानव-जीवन की सभी अच्छाइयाँ और बुराइयाँ उसके व्यक्तित्व में घुली-मिली हैं। दया, करुणा, उदारता, घृणा, क्रोध, सहानुभूति तथा 'प्रेजुडिस'—सभी उसके मन में वर्त्तमान हैं, परन्तु उसके चरित्र की आधार-शिला मानव-जीवन की उच्चतम प्रवृत्तियों से ही निर्मित है। यही कारण है कि उसका व्यक्तित्व, आदर्शवादी न होते हुए भी, अत्यन्त मोहक तथा प्रभविष्णु है। परन्तु इतनी समीक्षा के उपरान्त भी आलोचक को यह स्वीकार करना पड़ता है कि वन्दना का चरित्र इतना सुकुमार है कि उसके तत्त्वों का पर्याप्त रूप से विश्लेषण बहुत कठिन है। गुलाब के फूल में काँटे भी होते हैं, और छोटे-छोटे कीड़े भी। परन्तु इन दोनों से उसके सौन्दर्य और उसकी मोहकता में कोई अन्तर नहीं आता। बहुत कुछ ऐसी ही स्थिति 'विप्रदास' की वन्दना की भी है।

'विप्रदास' में दूसरा प्रमुख नारी-चरित्र दयामयी का है। प्राचीन भारतीय संस्कृति तथा निष्ठा उनके व्यक्तित्व के प्रधान अंग हैं। यह गहन निष्ठा व्यापक स्नेहशीलता से संयुक्त होने के कारण और भी प्रभविष्णु हो गयी है। सनातन धर्म में प्रचलित सभी आचार-व्यवहारों का वे कट्टरता के साथ पालन करती हैं। छूत-छात का विचार उन्हें बहुत अधिक रहता है। परन्तु उनकी इस आचरण-प्रियता के पीछे कोई अन्धभक्ति नहीं है। वन्दना के व्यवहार से सन्तुष्ट हो जाने पर वे इस 'म्लेच्छ लड़की' को रसोईघर में जाने तक की आज्ञा दे देती हैं। वस्तुतः धार्मिक आचार-विचारों से बद्ध होते हुए भी, उनके विचार बहुत सुलझे हुए हैं। अपने व्यवहार से किसी के मन को ठेस न पहुँचाने का उन्हें बहुत ध्यान रहता है।

विप्रदास के प्रति उनकी ममता की सीमा नहीं। सौतेला पुत्र होते हुए भी उसको वे अपने सगे पुत्र से अधिक चाहती हैं। विप्रदास के प्रति उनका विश्वास अटूट है। केवल एक स्थान पर इन दोनों के सम्बन्ध में व्याघात उत्पन्न होता है; परन्तु उपन्यास के समाप्त होते-होते माँ-बेटे की स्थिति पूर्ववत् हो जाती है। द्विजदास प्रारम्भ में ही वन्दना से कहता है, "सौतेली माँ हैं तो ज़रूर, किन्तु भैया की नहीं, मेरी हैं।" विप्रदास के निकट भी माँ की मर्यादा सबसे बड़ी चीज़ है। सचमुच एक-दूसरे के प्रति दोनों की ही श्रद्धा अनुपम है। 'दयामयी के दो पुत्र हैं—वे ज्येष्ठ के प्रति जैसी अगाध आशा और भरोसा रखती हैं, कनिष्ठ पुत्र के प्रति वैसे ही सन्देह और भय की भावना उनके मन में बनी रहती है।'

द्विजदास से दयामयी बहुत प्रसन्न नहीं रहतीं। उसके साथ तो वे स्वर्ग भी जाने को राजी नहीं। परन्तु फिर इससे उनके पुत्र-प्रेम में कोई अन्तर नहीं पड़ता, मन-ही-मन वे द्विजदास की सुरक्षा का ध्यान रखती हैं। वन्दना को द्विजदास की पत्नी बनाने का भाव उनके मन में इसीलिए आता है।

वन्दना के प्रति दयामयी का भाव प्रारम्भ में कदाचित् कुछ अच्छा न होने पर भी, उसके आचार-विचार को देखकर वे अत्यन्त प्रभावित होती हैं। इसके बाद तो इस म्लेच्छ लड़की के प्रति उनके स्नेह तथा विश्वास की सीमा नहीं रहती। यहाँ तक कि जब उन्हें यह ज्ञात होता है कि उसकी तो सगाई पहले ही हो चुकी है, अतः उसे वे द्विजदास की पत्नी नहीं बना सकतीं, तो वे अपने आपको अत्यन्त क्षुब्ध तथा पराजित अनुभव करती हैं। इस पराजय की भावना से अभिभूत होकर वे झूठ-मूठ ही वन्दना के सम्बन्ध में कुछ कड़ी बातें कह देती हैं। परन्तु फिर शीघ्र ही वे वन्दना को अपने पास रखने के लिए व्याकुल हो उठती हैं। उसके प्रति उनका ममत्व तथा विश्वास अक्षुण्ण रहता है। अपने भण्डार की चाबी, जिसे वे सती के अतिरिक्त और किसी को भी नहीं देतीं, अनायास ही वन्दना को दे देती हैं। परन्तु यह सचमुच नियति का व्यंग है कि वन्दना को इतना अधिक चाहने पर भी, सास के रूप में वह उसके निकट अधिक नहीं रह पायीं।

दयामयी ने स्वयं भी अपनी मर्यादा को बहुत ऊँचा रक्खा है। इसीलिए उनका प्रताप भी वैसा ही है। परिवार से सम्बद्ध कोई भी व्यक्ति उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता। उनकी अनुपस्थिति में भी उनकी इच्छाओं का बराबर ध्यान रखा जाता है। इतनी बड़ी गृहस्थी उनके संकेतों पर चलती है। विप्रदास जैसा महिमामय व्यक्ति सदैव उनके आदेशों को सुनने के लिए तत्पर रहता है। परन्तु यहाँ यह स्मरणीय है कि दयामयी की मर्यादा की आधार-शिला विप्रदास की अटूट मातृ-भक्ति है। जिस दिन से विप्रदास कल्याणी और शशधर के पीछे घर छोड़कर चला जाता है, उसी दिन से मानो दयामयी का तेजस्वी रूप विकृत हो उठता है। उनका पुत्री-प्रेम उनके अन्याय का कारण बना है। किन्तु उनके अन्याय

ने सबसे अधिक उन्हीं के व्यक्तित्व को तोड़ दिया है। उनका 'सोने-सा रंग काला हो गया है, माथे के छोटे-छोटे बाल रूखे हो गये हैं, धूल से मटमैले हैं, आँखें धँस गयी हैं, ललाट पर रेखाएँ पड़ गयी हैं—दुःख और शोक की ऐसी व्यथा का चित्र वन्दना ने कभी नहीं देखा था।' ऐसा बिखरा हुआ व्यक्तित्व वैराग्य में ही शान्ति पाता है। उपन्यास के अन्त में विप्रदास के साथ ही दयामयी भी कभी समाप्त न होने वाली तीर्थ-यात्रा के लिए निकल पड़ती हैं।

विप्रदास की पत्नी सती का चरित्र जितना ही संक्षेप में अंकित किया गया है, उतना ही महिमामय भी है। अपने पति, देवर, बहिन, चाचा तथा सास के प्रति असीम श्रद्धा तथा स्नेह उसके व्यक्तित्व का मूल सूत्र है। देवर के प्रति उसकी ममता असीम है! मृत्यु के समय वे द्विजदास के अतिरिक्त और किसी के लिए कुछ सन्देश नहीं देतीं। यह शरत् की नारियों की एक विशेषता है कि उनका स्नेह अप्रत्याशित स्थलों पर अभिव्यक्त होता है। दयामयी का सगा पुत्र द्विजदास है, परन्तु उनके स्नेह और विश्वास का भागी है सौतेला पुत्र विप्रदास। इसी प्रकार सती यद्यपि पत्नी है विप्रदास की, फिर भी उसका स्नेहाधिकार रहता है द्विजदास पर। घर-भर के विरुद्ध होने पर भी द्विजदास की देशभक्ति के कार्यों में सती उसकी सहायता करतो रहती है। द्विजदास भी भाभी की किसी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता।

सती के इन स्नेह-सम्बन्धों ने उसके व्यक्तित्व में एक सौजन्यपूर्ण शक्ति भर दी है। उसके चरित्र की दृढ़ता तथा अकलुपता ने ही उसे इतनी महिमा दी है। सहिष्णुता, विनय तथा शान्तिप्रियता उसके चरित्र के अन्य प्रमुख गुण हैं। किसी कठिनाई में पड़कर उत्तेजित होना अथवा किसी विरुद्ध परिस्थिति में क्रोध करना उसके स्वभाव के विपरीत है।

और इन सबके ऊपर उसकी अटल पति-भक्ति है। पहले तो यह विप्रदास से कल्याणी आदि से क्षमा माँगने के लिए अनुरोध करती है, परन्तु प्रार्थना विफल होने पर वह उन्हीं के साथ घर छोड़कर चली भी जाती है। पति के हर कार्य के लिए वह स्वयं को भी उत्तरदायी समझती है। किसी परिस्थिति में वह उनका साथ नहीं छोड़ सकती। यही नहीं, विप्रदास की मौलिक सत्प्रवृत्तियों के ऊपर उसकी आस्था कभी रंच-मात्र कम नहीं होती। उनसे कभी कोई अन्याय होगा, ऐसा वह सोच ही नहीं सकती।

वन्दना तथा द्विजदास के लिए उसके मन का अत्यन्त कोमल कोना सुरक्षित है। इन दोनों निरीह प्राणियों को वह अपने आँचल की छाया में रखना चाहती है। यह सचमुच ही नियति का कठोर व्यंग है कि सती वन्दना तथा द्विजदास का विवाह न तो स्वयं देख सकी और न अन्तिम समय में उसकी कल्पना ही कर सकी। इन दोनों का विवाह हो जाय, यह उसके मन की एकान्त साध थी।

परन्तु उसके जीवन-काल में यह साध अपूर्ण ही रह गयी।

'विप्रदास' के कथानक में अन्नदा का स्थान दासी का न होकर, परिवार के एक निकट सदस्य का है। उसकी विनय, कृतज्ञता की भावना, स्नेहशीलता तथा कर्त्तव्यपरायणता उसके व्यक्तित्व को बहुत ऊँचा उठा देते हैं। कुशल उपन्यासकारों के कथानकों में इस प्रकार के पार्श्व-चरित्रों की योजना इसीलिए की जाती है कि वे उपन्यास के अन्य पात्रों तथा पाठकों के मन में मानवता तथा मानवीय सत्प्रवृत्तियों के प्रति आस्था को अक्षुण्ण बनाये रख सकें। अन्नदा का चरित्र अपने इस कार्य को अत्यन्त सफलतापूर्वक सम्पन्न करता है। उसका भद्र तथा सहिष्णु स्वभाव सबको प्रभावित करता है। उसकी गहन स्वामिभक्ति मानवीय विश्वास को बल देती है। उसका अटूट स्नेह मानवीय सम्बन्धों को मधुर तथा स्थायी बनाने की प्रेरणा देता है। उसके व्यक्तित्व के अध्ययन से लगता है मानो जीवन से उसने सब कुछ पा लिया हो। कहीं, किसी के भी प्रति उसकी कोई शिकायत नहीं। उसकी व्यवहार-कुशलता तथा मधुर-संलाप ने उसे सबका प्रिय बना दिया है। मुखर्जी-परिवार की तो वह अपरिहार्य सदस्य है। दयामयी, विप्रदास, द्विजदास, सती तथा वन्दना—ये सभी उसे बहुत चाहते हैं। और इसी से जीवन तथा नियति के प्रति उसकी कृतज्ञता का अन्त नहीं रहता।

मैत्रेयी का चरित्र हमारे सम्मुख एक सुशिक्षित तथा सभ्य नवयुवती के रूप में आता है। परन्तु उसके व्यक्तित्व का धरातल बहुत ऊँचा नहीं है। स्वार्थ तथा ईर्ष्या जैसी भावनाएँ उसके मन में सहज ही में प्रवेश पा जाती हैं। उसकी बुद्धि भी बहुत कुछ सतही है। उसके व्यक्तित्व में वह गहराई नहीं, जो अनायास ही सबको प्रभावित कर लेती है। इस दृष्टि से उसका चरित्र बहुत-कुछ औसत दर्जे का है। अपने को तो वह अपना समझ सकती है, परन्तु दूसरे को अपना समझ सकने वाली व्यापक सहानुभूति उसमें नहीं है। उसके चरित्र में वह स्नेह की गहराई नहीं है, जो शरच्चन्द्र के नारी-पात्रों को इतना महिमामय बना देती है। वन्दना की तुलना में तो उसका व्यक्तित्व नितान्त साधारण-सा लगने लगता है। वस्तुतः किसी भी प्रकार की विशेषता का न होना ही उसके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी कमी है। उसका व्यक्तित्व स्वयं अपने आप में दोषपूर्ण न होने पर भी, मानव जीवन की उच्च भूमियों पर प्रतिष्ठित नहीं है। इसीलिए वन्दना का स्मरण आते ही, मैत्रेयी का रूप अनायास ही कुछ-कुछ खलनायिका का-सा हो जाता है, यद्यपि स्वयं उसका चरित्र इतना बुरा नहीं है।

'विप्रदास' के कथानक में वन्दना की मौसी का चरित्र एक षड्यन्त्रप्रिय तथा कुटिल नारी के रूप में अंकित हुआ है। वे उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं, जो पर्याप्त अवकाश होने के कारण दूसरों के कार्य में हस्तक्षेप करके अपना छोटे-से-छोटा स्वार्थ साधना चाहती हैं। वन्दना जैसी सहानुभूतिमय लड़की भी उनकी

इस प्रवृत्ति के कारण उन्हें घृणा की दृष्टि से देखने लगती है। वे अकारण ही दूसरे-से ईर्ष्या रखती हैं। उनकी मूल प्रवृत्ति अत्यन्त संकुचित है। जीवन की क्षुद्रताएँ उन्हें विशेष प्रिय हैं। अधिक बातूनी तथा कुटिल बुद्धि के कारण उन्हें अपने इस प्रकार के छोटे-बड़े षड्यन्त्रों को रचने में विशेष कठिनाई नहीं होती। मिथ्या अभिमान तथा अनावश्यक कुतूहल की भी उनमें कमी नहीं है। निष्ठाहीन नव्य पश्चिमी संस्कृति की अनुगामिनी होने के कारण, उनके जीवन में अपने स्वार्थ का स्थान सर्वोच्च है। दूसरे को समझ सकने तथा उसके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित कर सकने की शक्ति उनमें एकदम नहीं है। इस नव्य दल की संस्कृति का चित्रण शरत् बाबू ने अत्यन्त व्यंजनापूर्ण ढंग से 'विप्रदास' में किया है। एक ओर प्राचीन भारतीय संस्कृति में आस्था रखनेवाला विप्रदास का परिवार है, दूसरी ओर वन्दना की मौसी का वर्ग है, जो अँग्रेज़ी सभ्यता के एकदम सतही रूप को अपनाकर पूजा-पाठ आदि को 'सुपरीस्टिशन' कहता है। अन्ततोगत्वा विजय निष्ठा की ही होती है; अपनी परम्पराओं से च्युत वन्दना की मौसी अपने षड्यन्त्र में सफल नहीं हो पातीं।

दयामयी की पुत्री कल्याणी का उपन्यास के कथानक में विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। अपनी माँ का कमज़ोर स्नेह उसे प्राप्त है, और इसी के बल पर वह सबको दबाती है। 'विप्रदास' के कथानक में वह बड़ा मोड़ लाती है, इसमें कोई सन्देह नहीं, पर इसका मुख्य कारण उसका पति है, वह स्वयं नहीं। वैसे उसका चरित्र बहुत ही साधारण है, दयामयी की पुत्री तथा द्विजदास की बहिन लगने योग्य वह कुछ नहीं कर पाती।

वन्दना की मौसी की लड़की प्रकृति का तो एक-आध स्थल पर उल्लेख भर हुआ है। हाँ, हेमनलिनी के सम्बन्ध में अवश्य कुछ संकेत हमें मिल जाते हैं। वह भी वन्दना की मौसी के ही वर्ग की है। अंग्रेज़ी शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करके उसने जीवन का बहुत सतही दृष्टिकोण ही अपनाया है। उसका चरित्र भी सम्भवतः औसत दर्जे से कुछ भी ऊपर नहीं है। बलरामपुर के वेटिंग-रूप में मिलनेवाली बैरिस्टर-पत्नी का भी हमें कुछ परिचय नहीं मिल पाता। उपन्यासकार केवल इतना ही कह कर रह जाता है कि पति के एकदम 'साहब' होते हुए, सम्भवतः तब तक भी वे मेम साहब न बन सकी थीं।"

वस्तुतः तो 'विप्रदास' तत्कालीन बंगाली, नारी-समाज के तीन वर्गों का एक मर्मस्पर्शी आख्यान है। पहला वर्ग तो वह है जो पूर्णतः 'मेम साहब' बन चुका है, जैसे वन्दना की मौसी तथा उनके दल के अन्य लोग; दूसरा वर्ग वह है जो इस प्रकार से 'मेम साहब' बनने के प्रयत्न में है जैसे हेमनलिनी; और तीसरे वर्ग की प्रतिनिधि है वन्दना। यह वर्ग वह है जो 'मेम साहब' बनकर भी आन्तरिक शान्ति नहीं पाता, और अन्ततोगत्वा फिर वापस आकर अपनी भारतीय परम्पराओं

को ही स्वीकार करता है। इन तीनों वर्गों का बड़े सम्यक् दृष्टिकोण से शरच्चन्द्र ने परीक्षण किया है। और अन्त में वन्दना तथा द्विजदास का विवाह कराके मानो उन्होंने पाश्चात्य तथा भारतीय संस्कृति के उत्कृष्टतम-अंशों के संगम की महत्ता प्रतिपादित की है। इस सांस्कृतिक सम्मिश्रण में प्रधानता उन्होंने अपने यहाँ की विचारधारा को ही दी है। अन्तिम निर्णय स्वरूप उपन्यासकार ने स्वयं भारतीय नारी के उस महिमामय स्वरूप को ऊँचा ठहराया है, जो 'सास, देवर, नौकर-चाकर, दासी-मजदूरिन, आश्रित-परिजन, ठाकुरवाड़ी, अतिथिशाला तथा गुरु-पुरोहित' सबको साथ लेकर चलता है। 'विप्रदास' के माध्यम से जीवन को उसकी समग्रता में स्वीकार करने की यह दृष्टि शरच्चन्द्र ने बड़े विश्वास के साथ हमें दी है।

परिशिष्ट-1

शरत् के नारी पात्र: सामान्य प्रवृत्तियाँ

शरत् बाबू हमारे देश के अन्यतम विचारक एवं कलाकार हैं। वस्तुतः वे कलाकारों में महान् विचारक एवं विचारकों में महान् कलाकार थे। उन्हें सच्चे अर्थों में जीवन-द्रष्टा कहा जा सकता है। उन्होंने जीवन के मानसिक पक्ष का ही अधिक अंकन किया है, इसीलिए उनकी 'अपील' इतनी व्यापक है। मानव-मनोविज्ञान के तो शरत् आचार्य हैं ही, परन्तु यदि उन्हें प्रमुख रूप से नारी-जीवन की अनुभूतियों का विशेषज्ञ कहा जाय तो कदाचित् अधिक असंगत न होगा। सृष्टि की रहस्य-स्वरूपा नारी के जीवन की जैसी सूक्ष्म परख शरत् की थी, वैसी हमारे देश के किसी साहित्यकार में ही नहीं, वरन् किसी विदेशी कलाकार में भी मुश्किल ही से मिलेगी। नारी-जीवन अपनी सभी अच्छाइयों और बुराइयों के साथ जिस मार्मिक ढंग से शरत् की कृतियों में अभिव्यक्त हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

एक आक्षेप

कुछ विद्वानों का यह आक्षेप है कि शरत् ने अपनी कृतियों में उन्हीं पुरुष-पात्रों को चित्रित किया है, जो नारी-हृदय की महत्ता का शिकार हो चुके हैं, और यह अनुचित है। परन्तु यह धारणा उचित नहीं है, क्योंकि भले ही आज के सामाजिक जीवन में पुरुष की महत्ता नारी से अधिक बढ़ी-चढ़ी हो, फिर भी स्वयं पुरुष के निर्माण में नारी का बहुत बड़ा हाथ है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में व्यक्ति अपनी जननी की क्रोड़ में बनता-बिगड़ता है, फिर तरुणाई में क़दम रखते ही नारी के प्रिया स्वरूप से उसे प्रेरणा मिलने लगती है। इस प्रकार सामाजिक वातावरण से प्रभावित होते हुए भी पुरुष के व्यक्तित्व के गठन में नारी का बड़ा उत्त रदायित्व है। बस इसी अनुपात से शरत् ने अपनी रचनाओं में नारी-पात्रों को प्रधानता दी है। यहाँ यह बात स्पष्ट रूप से कह देनी होगी कि उपन्यासकार की कला में तत्कालीन बंगाली नारी-समाज की दुरवस्था के प्रति ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से एक प्रतिवर्तन की भावना भी अवश्य छिपी है। इस तथ्य की ओर से हम अपनी आँख नहीं मूंद

सकते ।

एक बात और भी है। यद्यपि अपने निबन्ध 'नारीर मूल्य' में शरत् ने बहुत ही विदग्धतापूर्ण ढंग से नारी के महान् मूल्य का निर्धारण किया है, परन्तु फिर भी नारी की महत्ता वे उसके पुरुष से सम्बन्ध में ही आँकते हैं। उसके स्वतन्त्र मूल्य का उन्होंने कहीं विवेचन नहीं किया है; और शायद इसीलिए उनके अधिकांश उपन्यासों का नामकरण उनके नायकों के आधार पर ही हुआ है। 'चन्द्रनाथ', 'काशीनाथ', 'देवदास', 'श्रीकान्त' एवं 'विप्रदास' जैसे उनके प्रमुख उपन्यास इस तथ्य का समर्थन करते हैं; और जिन रचनाओं का नामकरण नायिकाओं के नामों पर हुआ है, उनमें भी नायक को भुला दिया गया हो, ऐसी बात नहीं है। 'बिराजबहू' में ही, उपन्यास का शीर्षक तो है 'बिराजबहू', किन्तु फिर भी विराज के माध्यम से उसमें नीलाम्बर के चरित्र का ही अधिक अंकन हुआ है। इस प्रकार यह कहना कि शरत् ने अपनी कृतियों में नारी को आवश्यकता से अधिक महत्ता प्रदान की है, बहुत संगत प्रतीत नहीं होता।

शरत् के नारी पात्रों का सूक्ष्म अध्ययन लेखक की नारी सम्बन्धी विशिष्ट धारणाओं का स्पष्ट परिचायक है। नारी एवं प्रेम को पर्याय माना जाता है। शरत् की नारियों के प्रेम में सेक्स की प्रधानता नहीं है। उनके पुरुष-पात्रों एवं नारी-पात्रों के पारस्परिक सम्बन्ध सामान्य ऐन्द्रिकता से रहित हैं। इसीलिए शरत् की कृतियों में स्नेह की निर्मल मन्दाकिनी बहती है, वासना की कलुषित वैतरणी नहीं। अँग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यास 'वदरिंग हाइट्स' में प्रदर्शित प्रेम की व्याख्या करते हुए डेविड सेसिल नामक समालोचक ने कहा है "...अपनी सारी गहराई में कैथरीन (उपन्यास की नायिका) का प्रेम सेक्सरहित है, उसमें ऐन्द्रिकता का ऐसा ही अभाव है, जैसाकि उस आकर्षण में जो लहरों को चन्द्रमा की ओर खींचता है और लोहे को चुम्बक की ओर..." हम कह सकते हैं कि शरत् की अधिकांश नारियों का प्रेम प्रायः ऐसा ही है।

शरत् द्वारा अक्षय एवं युग-युगान्तर से चले आनेवाले प्रेम को दी गयी मान्यता भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उनके पुरुष-पात्रों एवं नारी-पात्रों के बीच का पारस्परिक आकर्षण अनिर्वचनीय है। न जाने कौन-सी शक्ति उन लोगों को एक-दूसरे की ओर खींचती है। कवि-कुल-गुरु कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में कहा है—

> "रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
> पर्युत्सुकीभवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
> तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
> भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥"

अर्थात्—रम्य दृश्यों को देखकर या मधुर शब्दों को सुनकर यदि कोई सुखी

व्यक्ति भी उन्मना हो उठता है, तो इसका कारण यही समझना चाहिए कि उसे अपने पूर्व जन्मों के स्नेह-सम्बन्धों की, जो अचेतन मन में स्थिर भावों के रूप में स्थित हैं, अनायास ही सुधि आ रही है।

पूर्व जन्म के इन्हीं स्नेह-सम्बन्धों के आधार पर शरत् की अधिकांश प्रेम-कथाओं की सृष्टि हुई है; और शरत् के नारी-पात्रों का तो निर्माण ही शायद स्नेह एवं ममता के परमाणुओं से सम्भव हो सका है।

पति-भक्त नारी :

शरत् के नारी-समाज की दूसरी प्रमुख विशेषता है उसकी अटल पति-भक्ति। वस्तुतः उपन्यासकार के सभी प्रतिनिधि नारी-पात्रों के संस्कार नितान्त भारतीय हैं। यद्यपि एकनिष्ठ प्रेम के सम्बन्ध में लेखक स्वयं ही बहुत अधिक निश्चित नहीं हो सकता, फिर भी उसके नारी-पात्रों के प्रेम की पवित्रता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। यहाँ हमें 'चरित्रहीन' की किरणमयी एवं 'शेष प्रश्न' की कमल को अपवाद स्वरूप मानना होगा। इस तथ्य के समर्थन में स्वयं शरत् बाबू की स्वीकारोक्ति नीचे उद्धृत की जाती है—"तुम्हारी यह बात मैं मानता हूँ। अन्नदा दीदी के प्रति वास्तव में मेरी भी आन्तरिक श्रद्धा है! मेरे जन्मगत संस्कार आखिर भारतीय ही हैं।"—(इलाचन्द्र जोशी : 'साहित्य सर्जना'—पृष्ठ 143) शरत् के नारी-पात्रों की सामान्य पट-भूमि की विवेचना करते समय हमें यहाँ इस बात का भी स्पष्ट उल्लेख कर देना होगा कि उपन्यासकार के पुरुष-पात्रों में जितनी अधिक चरित्र की विविधता द्रष्टव्य है, उतनी अधिक उनके नारी-पात्रों में नहीं, क्योंकि उनमें से अधिकांश के व्यक्तित्व प्रायः मिलती-जुलती भावधाराओं से अनुप्राणित हैं।

शरत् के नारी-चरित्रों के अंकन के सम्बन्ध में प्रायः कहा जाता है कि उपन्यासकार ने अपने पात्रों को सदैव ही विपत्ति के अथाह सागर में निमज्जित होते दिखाया है, जो कुछ अस्वाभाविक है। ऐसे आलोचकों के अनुसार विपदा पर विपदा पाठक को सहानुभूति निरपेक्ष बना देती है। इस सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जिस प्रकार जीवन के बाह्य क्षेत्र के पीड़न का चित्राधार होने के कारण प्रेमचन्द का 'गोदान' हिन्दी की सिरमौर कृति बन गया है, उसी प्रकार मानसिक व्यथाओं का यथार्थ अंकन करने के कारण शरत् सहृदय साहित्यिकों के इतने निकटवर्ती हो गये हैं कि पाठक उनकी रचनाओं में अपने आपको ही बोलता हुआ पाता है। वस्तुतः शरत् के जीवन-दर्शन में दुर्बलता का नाम नारी नहीं है, वरन् उनके अनुसार तो जो विपत्तियों के सागर की ऊँची से ऊँची लहरों से होड़ ले सके, वही सच्चे अर्थों में सहिष्णुता की प्रतीक नारी कही जा सकती है।

पतित नारियों को उच्च स्थान

इस स्थान पर शरत् के कृतित्व पर लगाये जाने वाले एक प्रसिद्ध आरोप पर भी कुछ विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। प्रायः कहा जाता है कि अपनी रचनाओं में शरत् ने पतित नारियों को बहुत ऊँचा स्थान दिया है। 'चरित्रहीन' की किरणमयी इसका ज्वलन्त उदाहरण है। परन्तु वास्तविक बात यह है कि उक्त आक्षेप दूर से ही संगत प्रतीत होता है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो स्पष्ट जान पड़ेगा कि शरत् ने अपने जीवन-दर्शन में नारी के असत्-स्वरूप को कहीं भी प्रश्रय नहीं दिया है। उसके प्रति सहानुभूति भले ही प्रकट की हो। 'चरित्रहीन' में किरण के प्रति सहानुभूति तो जाग्रत होती है, किन्तु उसके अनैतिक कार्यों के प्रति नहीं। उसकी व्यभिचार-बुद्धि के पीछे एक निश्चित सामाजिक कारण है, जिसे दूर कर देने पर शायद एक सुधारक की दृष्टि में उसका चरित्र इतना नीचे न गिरता। परन्तु आगे चलकर 'शेष प्रश्न' में तो एकनिष्ठ प्रेम को नितान्त निराधार सिद्ध किया गया है। इसका समाधान सामाजिक न होकर पूर्णतः मनोवैज्ञानिक है। आशुबाबू कहते हैं—"स्रोत के खिंचाव से कौन कब पास आ जाता है और कौन कब दूर चला जाता है, इसका हिसाब कोई भी नहीं जानता।"

अस्तु, शरत् ने अपनी रचनाओं में पाप के प्रति कहीं भी सहानुभूति प्रकट नहीं की है। 'चरित्रहीन' में प्रेम की पवित्रता के ही कारण उपन्यासकार ने सावित्री को किरणमयी से ऊँचा उठाया है। किरण यदि हमारी सहानुभूति जाग्रत करती है तो सावित्री हमारी श्रद्धा। किरण एवं सुरबाला की तुलना के समय भी सुरबाला ही हमें महिमामयी दिखाई देती है। सुरबाला के सुदृढ़ विश्वास के सम्मुख किरण को स्वयं झुकना पड़ता है, यह सत् की असत् पर विजय है। नारी का पतित स्वरूप शरत् की समवेदना का विषय हो सकता है, आदर का नहीं।

शरत् का नारी-समाज

नारी के सम्बन्ध में शरत् की कुछ विशिष्ट धारणाओं का संक्षिप्त परिचय देने के बाद अब हम उपन्यासकार के नारी-समाज का एक वर्गीकरण प्रस्तुत कर रहे हैं। यह वर्गीकरण नितान्त वैज्ञानिक एवं पूर्ण है, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, फिर भी इससे यह जानने में अवश्य सहायता मिल सकेगी कि शरत् ने नारी को मूलतः किन-किन रूपों में देखा। वर्गीकरण इस प्रकार है—

1. **स्नेहमयी माताएँ**—जिनमें से कुछ अधेड़ावस्था तक वैधव्य प्राप्त कर चुकी हैं।
2. **कठोर प्रकृति एवं कटुवाणी की गृहिणियाँ।**
3. **सीधी-सरल प्रेमिकाएँ**—अविवाहित, विवाहित एवं विधवा, तीनों प्रकार की।

4. गहनतम रमणियाँ—एकनिष्ठ प्रेम की विरोधिनी।

5. कर्कशा वृद्धाएँ।

अब हम बहुत संक्षेप में एक-एक वर्ग की अलग-अलग विवेचना करेंगे। पहले वर्ग के नारी-पात्र अपनी प्रकृति में अत्यन्त कोमल-सजल हैं। उनका शरीर साधारण हाड़-मांस का बना हुआ है, परन्तु उनका व्यक्तित्व स्नेह एवं ममता से निर्मित है। इस वर्ग की जननी का वात्सल्य केवल अपनी सन्तान तक ही सीमित न रहकर, किसी भी बालक-बालिका के लिए उमड़ सकता है। परोपकार बुद्धि का भी उसमें पर्याप्त विकास हुआ। 'मेजदिदि' की हेमांगिनी, 'परिणीता' की भुवनेश्वरी, 'रामेर सुमति' की नारायणी एवं 'विप्रदास' की दयामयी-जैसी रमणियाँ इसी वर्ग से सम्बन्धित हैं। विधवा माताओं का स्नेह और भी सार्वजनिक एवं व्यापक हो जाता है। उनका हृदय उनके व्यक्तित्व की अपेक्षा कहीं अधिक महिमामय है।

दूसरे वर्ग के अन्तर्गत आती हैं कठोर प्रकृति एवं कटु वाणी की रमणियाँ। इनमें से अधिकांश की चारित्रिक संवेदना मूलतः स्वार्थपरक होती है। उनमें रागात्मक भावनाओं की स्थिति तो अवश्य होती है, परन्तु उनके इस राग का विस्तार बहुत ही सीमित रहता है। इसीलिए उनके जीवन में कटुता और कठोरता घर कर जाती है। लोभ और क्रोध, ये दोनों ही मनोविकार उनके ऊपर आधिपत्य जमाये रहते हैं। इस वर्ग की सबसे विशिष्ट प्रतिनिधि 'मेजदिदि' की कादम्बिनी है।

तीसरे वर्ग की सीधी सरल प्रेमिकाएँ शरत की कथाओं में प्रमुख रूप से अंकित होती रहती हैं। भारतीय नारी-सुलभ गुणों की समष्टि होने के कारण इनका अंकन प्रायः आदर्शवाद के धरातल पर हुआ है। इनमें से विवाहित रमणियाँ प्रायः पति-भक्त तथा शील और स्नेह की प्रतिमा हैं, जैसे 'बिराजबहू' की विराज। इनके अन्दर प्रकृति की दृढ़ता निरपवाद रूप से मिलती है। सरलता एवं सौहार्द्र इनकी चारित्रिक विशेषताएँ हैं। कुछ प्रेमिकाएँ ऐसी भी हैं जो अल्प अवस्था में ही वैधव्य का दुःख भोग रही हैं। इनका व्यक्तित्व ऊपर से निर्विकार, उदासीन रहता है, परन्तु उनके हृदय की रागात्मिका वृत्ति मुक्त होने के लिए छटपटाती रहती है। समाज का भय उन्हें पग-पग पर सताता है, इसीलिए उनका चरित्र कुछ असहाय-सा जान पड़ता है। इस वर्ग का उदाहरण हमें 'बड़ दिदि' की माधवी में मिलता है। निर्मल एवं स्फटिक-सदृश प्रेम इस वर्ग की सभी रमणियों की प्रमुख विशेषता है। उपर्युक्त वर्ग के ठीक दूसरी ओर ऐसी नारियों का समाज है जिनका व्यक्तित्व नितान्त गहन है। यह नारी वर्ग भी मूलतः प्रेमिकाओं का ही है, परन्तु प्रेमिकाएँ सीधी एवं सरल न होकर अपनी प्रकृति में अत्यन्त जटिल हैं। प्राचीन के प्रति विरोध इनके चरित्र की मूल संवेदना है। इनका चरित्र

दृढ़ होते हुए भी अस्थिर एवं अस्थिर होते हुए भी दृढ़ हैं। किस समय ये क्या कर डालेंगी, इसका कुछ भी पता पाठक को नहीं चल पाता। उनकी धमनियों में नया रक्त है, और ऐसा जान पड़ता है कि स्वयं उपन्यासकार भी उनके आवेग से अभिभूत हो उठा है। इनकी नैतिक मान्यताएँ प्राचीन परम्परा से भिन्न, विद्रोहिणी प्रकृति की हैं। ऐसे नारी-पात्रों में किरणमयी एवं कमल सर्वप्रमुख हैं। 'गृहदाह' की अचला को भी इसी वर्ग के अन्तर्गत रखा जा सकता है। पाँचवाँ तथा अन्तिम वर्ग है उन वृद्धा कर्कश स्त्रियों का जो सक्रिय जीवन से अवकाश ग्रहण करके कलह-संग्राम एवं वाग्-युद्ध के लिए सदैव तत्पर दिखाई देती हैं। इनकी बुद्धि रचनात्मक न होकर विनाशात्मक है। इनके मानसिक संस्थान में रागात्मक वृत्तियों का प्रायः अभाव और ईर्ष्या-द्वेष का साम्राज्य है। अकारण क्रोध एवं कलह उनके व्यक्तित्व की विशेषता है। समाज का यह वर्ग पारिवारिक तथा सामाजिक सुख-शान्ति के लिए कितना घातक है, इसे शरत् बाबू भलीभाँति समझते थे। प्रकृति में कठोर एवं कटु होने के साथ-साथ ये वृद्धाएँ अपनी वाणी में भी कटु हैं। उनके वचनों का विष सहन करने के लिए उपन्यासकार ने शिवशंकर सदृश जीवन का गरल पान करने वाले, सहिष्णुता एवं धैर्य के प्रतीक पात्रों का निर्माण किया है। अशिक्षा के वातावरण में पले होने के कारण ऐसी स्त्रियों का चरित्र और भी तीखा हो गया है। इस वर्ग के प्रतिनिधि पात्रों में 'रामेर सुमति' की दिगम्बरी, 'अरक्षणीया' की स्वर्णमंजरी एवं 'पण्डित मोशाइ' की बुढ़िया वैष्णवी की गणना कर सकते हैं।

शरत् के नारी-पात्रों के उपर्युक्त वर्गीकरण के सम्बन्ध में एक बात कह देना आवश्यक है, और वह यह कि उपन्यासकार के ये नारी-पात्र अपने-अपने वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हुए भी स्वयं अपने व्यक्तित्व में अपूर्व हैं। वस्तुतः शरत् ने समान चरित्रों का नहीं, वरन् समानान्तर चरित्रों का अंकन किया है। एक ही भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित होते हुए भी दो पात्रों का चारित्रिक वैशिष्ट्य सदैव द्रष्टव्य है। 'रामेर सुमति' की नारायणी, 'बिन्दुर छेले' की बिन्दु एवं 'मेजदिदि' की हेमांगिनी, इन तीनों के ही व्यक्तित्व एक मूल संवेदना से अनुप्राणित होने पर भी अपने स्वरूप में अलग-अलग हैं। शरत् के चरित्र-निर्माण का यह कौशल वस्तुतः स्पृहणीय है।

विकास के तीन युग

शरत् के नारी-पात्रों में समानता न होते हुए भी उनके अन्दर एक निश्चित विकास की धारा स्पष्ट दिखाई देती है। उपन्यासकार ने अपरिपक्वावस्था में नारी को किस रूप में देखा, फिर परिणत वय में उसकी धारणाएँ किस प्रकार बदलीं, और अन्त में उन्होंने अपने जीवन की गोधूलि-वेला में, जब वे समाज के सारे उतार-चढ़ाव से परिचित हो चुके थे, नारी में किस शान्ति का अनुभव किया,

इसका क्रमिक विकास उनकी रचनाओं में भली-भाँति देखा जा सकता है। नारी के विकास की दृष्टि से शरत् के रचना-काल में तीन युग माने जा सकते हैं—

प्रथम युग : बड़ दिदि—परिणीता

द्वितीय युग : चरित्रहीन—शेष प्रश्न

तृतीय युग : विप्रदास

अपनी रचनाओं के प्रथम युग में शरत् ने नारी को अत्यन्त सरल, सजल एवं स्नेहमय रूप में देखा, प्राची की उषा के समान रंगीन एवं आकर्षक, परन्तु उनके बढ़ते हुए अनुभव ने शीघ्र ही बता दिया कि नारी का स्वरूप वस्तुतः उतना कोमल तथा सीधा-सादा नहीं है, जितना वे समझते थे। इसीलिए उनकी रचनाओं के द्वितीय युग में नारी का व्यक्तित्व बहुत रहस्यमय हो गया, उसके अन्दर कुछ कठोरता का समावेश हुआ। ऐसा जान पड़ता है कि इस समय उनके मन में नारी के प्राच्य एवं पाश्चात्य रूपों के बीच विजय के लिए संघर्ष चलता रहा, जिसकी चरम सीमा उनकी अमर कृति 'शेष प्रश्न' में पहुँच गयी। इस काल की नारी मध्याह्न के समान प्रखर एवं बुद्धिवादिनी है, किन्तु इसके उपरान्त तीसरे युग में शरत् फिर अपनी प्राचीन भारतीय मान्यताओं की ओर बढ़े और उन्होंने नारी को फिर वही प्राचीन श्रद्धा एवं महिमा दी, जिसका मोहक अंकन वे अपनी रचनाओं के प्रथम युग में कर चुके थे। इस काल में उन्होंने नारी का शान्तिप्रद रूप अंकित किया, जैसे प्राची की उषा अपने उन्हीं रंगों के साथ आकर प्रतीची की सन्ध्या में कुछ अधिक गहरी, गम्भीर एवं मौन हो जाय। जीवन की इस गोधूलि-वेला में लेखक ने 'विप्रदास' की दयामयी-जैसे चरित्र की अवतारणा की, जो अनायास ही हमारे मन में उस निष्काम भाव एवं शान्ति का संचार करता है, जो शारीरिक एवं मानसिक विकारों से भरे-पूरे उपन्यास में किसी भी कलाकार द्वारा मुश्किल से अंकित हो पाता।

शरत् के नारी-चित्रण को लेकर उनके कृतित्व पर ही नहीं, उनके व्यक्तित्व पर भी कुछ गम्भीर आरोप लगाये गये हैं। पतित स्त्रियों एवं वेश्याओं के प्रति उनकी सहानुभूति देखकर लोगों ने उनके आचरण को नैतिकता से विहीन समझा। अपनी चर्चा को समाप्त करते हुए हम स्वयं इस सम्बन्ध में कुछ न कह कर, स्वयं लेखक की अपने सम्बन्ध में एक उक्ति उद्धृत करेंगे। अपने एक मित्र की उक्त शंका का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा था—"नारी जाति सम्बन्धे आमार चरित्र कौन कालेउ उच्छृंखल छिल ना, एखनउ नय।"

अर्थात् नारी जाति के सम्बन्ध में हमारा चरित्र कभी उच्छृंखल न था, और न अब है।

परिशिष्ट-2

शरत् के अपेक्षाकृत गौण नारी पात्र

शरच्चन्द्र ने अपने उपन्यासों तथा अपेक्षाकृत बड़ी कहानियों में नारी-चरित्र का जो सांगोपांग वर्णन किया है, उसका विश्लेषण हम प्रस्तुत पुस्तक के अध्यायों में उपस्थित कर चुके हैं। इस परिशिष्ट के अन्तर्गत हम कथाकार के उन नारी-चरित्रों का विवेचन करेंगे जो उनकी अपेक्षाकृत गौण कथाकृतियों में मिलते हैं। इन नारी-चरित्रों की अभिव्यक्ति जीवन की समग्रता में न होकर उसके किसी अंग-विशेष में हुई है। नारी के रूप की वह विशदता जो शरत् के प्रमुख कथा-साहित्य में अत्यन्त सहज रूप से मिलती है, उनकी इन लघु कहानियों में स्वभावतः ही नहीं है। इन संक्षिप्त कथाकृतियों का यह उद्देश्य भी नहीं है। इनके माध्यम से तो कलाकार ने नारी जीवन की कुछ झाँकियों को हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है।

आलोच्य कथा-कृतियों में से 'शुभदा' को छोड़कर, शेष रचनाओं को आकार तथा वर्णन-विशदता—दोनों ही दृष्टिकोणों से कहानी माना जायेगा। दो-एक कथा-कृतियों को लघु-उपन्यास भी कहा जा सकता है। पुस्तक के प्रधान खण्ड तथा इस परिशिष्ट को मिलाकर शरत् के सम्पूर्ण नारी-समाज की व्याख्या हो जाती है। अवश्य ही शरच्चन्द्र की उन रचनाओं को हमने अपनी समीक्षा में सम्मिलित नहीं किया है, जिन्हें वे स्वयं पूरी नहीं कर सके थे।

इस परिशिष्ट से सम्बद्ध कथाकृतियों को भी पूर्वयोजनानुसार समयानुक्रमणिका के आधार पर ही क्रमबद्ध किया गया है। इन रचनाओं के सम्बन्ध में संस्करण आदि की सूचनाएँ नहीं दी गयी हैं, क्योंकि विस्तृत विवेचन न होने के कारण इसकी आवश्यकता नहीं समझी गयी। वैसे 'शुभदा' को छोड़कर, जो इण्डियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुई है, इस परिशिष्ट से सम्बद्ध शरत् की अन्य रचनाओं के संस्करण हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई द्वारा प्रकाशित प्रयुक्त किये गये हैं। इन रचनाओं के प्रथम प्रकाशन आदि की सूचना पुस्तक के अन्त में दी हुई शरच्चन्द्र के कथा-साहित्य की समयानुक्रमणिका से मिल सकती है।

1. मन्दिर

इस कहानी में एक धनिक ज़मींदार की कन्या अपर्णा तथा उसके कुल-पुरोहित के लड़के शक्तिनाथ की हृदय-स्पर्शी प्रणय-कथा अंकित हुई है। शरत् बाबू की इस प्रथम रचना से ही स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने स्त्री-पुरुष के सतत आकर्षण को चित्रित करने में उच्छृंखलता को कहीं भी नहीं आने दिया है। 'मन्दिर' में अपर्णा का शक्तिनाथ के प्रति प्रेम कहानी के अन्त में ही स्पष्ट रूप से प्रकट होता है, जब वह मृत शक्तिनाथ की दी हुई स्नेह-भेंट को देवता के चरणों में रखकर रोती हुई कहती है, 'भगवन्, मैं जिसे नहीं ले सकी, उसे तुम ले लो। अपने हाथों से मैंने कभी पूजा नहीं की, आज कर रही हूँ—तुम स्वीकार करो, तृप्त होओ, मेरे और कोई कामना नहीं है।'

विवाह हो जाने पर अपर्णा पति के घर जाती है, पर वहाँ भी उसे शान्ति नहीं। पति-पत्नी के बीच में एक अज्ञात अवरोध रहता है, जो दोनों को समीप नहीं आने देता। अपर्णा अपनी सारी सरलता तथ सच्चरित्रता के बावजूद अपने पति को स्वीकार नहीं कर पाती। और उनकी मृत्यु के उपरान्त वह अपने प्रथम-प्रिय शक्तिनाथ का भी तिरस्कार कर देती है। अप्रकट प्रणय का अभिमान तीन जीवनों को नष्ट कर देता है। इस सबसे अपर्णा के हृदय की दुर्बलता तथा अव्यावहारिकता सिद्ध होती है। जीवन के व्यापक स्वरूप को स्वीकार कर पाने की शक्ति उसमें नहीं है, और इसके लिए असीम दुःख का भार भी उसे उठाना पड़ता है।

2. काशीनाथ

इस अपेक्षाकृत लम्बी कहानी की नायिका है कमला। बड़े ज़मींदार की एकमात्र पुत्री होने के कारण वह बड़े लाड़-प्यार से पाली गयी है। उसका विवाह एक ऐसे व्यक्ति से हुआ है, जिसके मन में संसार के प्रति आसक्ति से अधिक अनासक्ति है। फलतः पति-पत्नी दोनों के चाहते हुए भी उनका वैवाहिक जीवन सुखमय नहीं हो पाता। कमला सभी सम्भव प्रयत्नों के बावजूद काशीनाथ को अपनी ओर आकर्षित करने में असमर्थ रहती है। यह पराजय उसके मन में विद्रोह तथा प्रतिशोध की भावना को जन्म देती है। उसका चरित्र इतना आदर्शात्मक नहीं है कि पति से प्रकट प्रणय न पाने पर भी वह मन-ही-मन उसकी पूजा करती रहे। एक बार विरुद्ध होने पर वह सब प्रकार से काशीनाथ के मन को दुःख पहुँचाने का यत्न करती है। यहाँ तक कि शारीरिक यातना का भी अन्त में षड्यन्त्र कर डालती है। परन्तु यहीं से पति-पत्नी के मन में सुप्त प्रणय एकबारगी जाग उठता है। और यह दुर्घटना ही दोनों को एक-दूसरे के समीप ले आती है।

कहानी में नायक की मामी का उल्लेख हुआ है एक साधारण स्त्री के रूप में, और विन्दुवासिनी का अंकन हुआ है काशीनाथ की स्नेहमयी ममेरी बहिन के रूप में। कमला तथा काशीनाथ को एक-दूसरे के समीप लाने में विन्दुवासिनी का बड़ा हाथ है।

3. बोझ

'बोझ' में दो प्रमुख नारी-पात्र हैं—सरला और नलिनी। सरला का विवाह बहुत छोटी अवस्था में सत्येन्द्र से हो गया है। वह अपने पति को हृदय से चाहती है, और उसकी सभी छोटी-मोटी सुविधाओं का ध्यान रखती है। पति के लिए उसका निश्छल प्रेम असीम है। परन्तु इस सरल स्नेह का अन्त बहुत शीघ्र हो जाता है। रोगाक्रान्त होकर सरला की मृत्यु हो जाती है और तब सत्येन्द्र का दूसरा विवाह होता है। नयी बहू का नाम है नलिनी। पर वह सरला की याद से पीड़ित रहता है। नलिनी को अपने पति का भरपूर प्रेम नहीं मिल पाता। परन्तु समय बीतने पर अपने कठोर धैर्य के फलस्वरूप वह सत्येन्द्र के मन को जीत लेती है। पति के मन को पहिचानने की शक्ति उसमें है। सहानुभूति तथा बुद्धिमत्ता की भी उसके व्यक्तित्व में कमी नहीं। इस प्रकार कुल मिलाकर उसका चरित्र काफ़ी सशक्त है। परन्तु इतने पर भी अपने अभिमान पर वह पूर्णतः विजय प्राप्त नहीं कर पाती, और यही उसकी असीम वेदना तथा अन्ततोगत्वा उसकी मृत्यु का कारण बनता है। सत्येन्द्र का तीसरा विवाह होने पर वह नववधू को अपनी अँगूठी उपहार-स्वरूप भिजवाती है। यह उसकी व्यापक सहानुभूति तथा सहिष्णुता का प्रमाण है।

'बोझ' में कई अन्य नारी-पात्रों का उल्लेख हुआ है। मातो नलिनी के मायके की नौकरानी है। जैसी वह स्नेहमयी है, वैसी ही स्पष्ट-वक्ता भी। सत्येन्द्र की माँ स्नेहमयी गृहिणी हैं; नलिनी के प्रति उनकी विशेष ममता है। गिरिबाला, राजबाला, नृत्यकाली तथा योगमाया गाँव की लड़कियाँ हैं। दूसरों की चर्चा करने में उन्हें सुख मिलता है। रासमणि नाई की लड़की है। अकारण चारित्रिक दोष देखने तथा उसे प्रचारित करने में उसका मन अधिक लगता है। विधु सत्येन्द्र की तीसरी पत्नी है, परन्तु कहानी में केवल उसका नामोल्लेख भर मिलता है।

4. पथ-निर्देश

इस अपेक्षाकृत लम्बी कहानी में दो प्रधान नारी-पात्र हैं—सुलोचना और उसकी पुत्री हेम। सुलोचना विधवा है तथा अपनी स्थितिजन्य कठिनाइयों को सहन करने के लिए उसमें पर्याप्त धैर्य है। विरुद्ध परिस्थितियों में घबरा जानेवाला

स्वभाव उसका नहीं है। उसके चरित्र में मानवीय सहानुभूति की कमी नहीं है। अपने पड़ोसी के लड़के गुणेन्द्र की माँ की मृत्यु हो जाने पर सुलोचना ने ही उसकी देख-भाल की है। अपने धार्मिक आचारों का सतर्कता के साथ पालन करते हुए भी वह दूसरों के अन्यथा व्यवहार के प्रति असहिष्णु नहीं होती। परन्तु यह धार्मिक कट्टरता केवल एक बार उसे धोखा देती है, और वह तब, जबकि अपनी पुत्री हेम तथा गुणेन्द्र का मूक स्नेह देखकर भी वह उन्हें विवाह के सूत्र में बँधने नहीं देती। बाद में उसे इसका पश्चात्ताप भी होता है। मृत्यु-पर्यन्त वह इस व्यथा से मुक्त नहीं हो पाती। अपनी एक मात्र पुत्री को विधवा बनाने के लिए वह स्वयं उत्तरदायी है, इस बात को वह एक क्षण के लिए भी मन से नहीं निकाल पाती।

हेम इस कहानी की नायिका है। स्वभाव से ही वह अभिमानिनी तथा दृढ़ है। माँ के प्रति उसकी भक्ति असीम है, यद्यपि अपने विवाह के उपरान्त वह सुलोचना के लिए कुछ चिड़चिड़ी-सी रहने लगती है। गुणेन्द्र से प्रेम करते हुए भी वह उससे विवाह नहीं करती, क्योंकि वह ब्रह्मसमाजी है, और इस प्रकार के विवाह में उसकी माँ की सम्मति नहीं मिल पाती। समाज के मिथ्या बन्धनों तथा गहरी मातृ-भक्ति की भावना ने उसके सम्पूर्ण जीवन को दुःखमय बना दिया है। विधवा हो जाने पर, माँ की अप्रकट इच्छा रहते हुए भी, वह फिर गुणेन्द्र को स्वीकार नहीं कर पाती। उसकी इस विवशता के दो कारण हैं— एक तो उसका प्रच्छन्न आत्माभिमान तथा दूसरे सामाजिक रीति-नीति के प्रति उसकी आस्था। वह अपने वैधव्य के दुःख को धार्मिक आचरणों में भुला देना चाहती है, परन्तु इसमें भी उसे शान्ति नहीं मिलती। प्रणय की गहरी व्यथा ने उसके जीवन को अर्थ-हीन बना दिया है। अध्ययन-मनन में उसकी विशेष रुचि रही है, परन्तु इसमें भी अब उसका मन नहीं लगता। मनोवेगों तथा परम्पराओं के संघर्ष में उसका चरित्र उलझ गया है। उसका व्यक्तित्व नितान्त अशक्त नहीं है, पर उसके अन्दर वह निरपेक्ष दृढ़ता भी नहीं है, जो मिथ्या बन्धनों को सहज ही में तोड़ देती है। संस्कारों ने उसे इतना जकड़ लिया है कि बहुत यत्न करने पर भी वह उनसे मुक्त नहीं हो पाती।

'पथ-निर्देश' की मानदा का चरित्र उन दासियों के वर्ग के अन्तर्गत आता है, जो अपने स्वामी के घर में एक पारिवारिक स्वजन का स्थान पा लेती हैं। वह अपने दायित्व को समझने वाली, ईमानदार तथा बुद्धिमती है। गुणेन्द्र की किसी मौसी के लड़के आदि का अत्याचार सहन करके भी वह अपने रुग्ण स्वामी को नहीं छोड़ती। हेमनलिनी के प्रति उसके मन में विशेष ममता है। गुणेन्द्र की मौसी उन नितान्त स्वार्थी परिजनों में से हैं जो केवल धन के आधार पर अपने सम्बन्धों को निर्भर करते हैं। वे स्वाभाविक स्नेह तथा सहानुभूति से हीन हैं

तथा उनके व्यवहार में केवल कृत्रिमता है।

5. प्रकाश और छाया (आलो औ छाया)

'पथ-निर्देश' तथा 'प्रकाश और छाया' की मूल कथा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। अपूर्ण प्रेम की कहानी दोनों में है। 'प्रकाश और छाया' में दो प्रमुख नारी-पात्र हैं—सुरमा तथा प्रतुल। सुरमा का व्यक्तित्व काफ़ी गम्भीर तथा ऊँचे स्तर का है। विधवा वैष्णवी होने के कारण वह यज्ञदत्त से प्रेम करती हुई भी उससे विवाह नहीं करती, और तब, जबकि स्वयं यज्ञदत्त उसे अपनी पत्नी बनाने के लिए बहुत इच्छुक हैं। परन्तु इतने पर भी इन दोनों का प्रेम शब्दों में अभिव्यक्ति नहीं पाता। सुरमा में आत्म-त्याग की भावना इतनी प्रबल है कि वह यज्ञदत्त का विवाह ज़िद करके प्रतुल के साथ करवा देती है, और इसके बाद भी यह उसकी हार्दिक इच्छा रहती है कि इन दोनों का वैवाहिक जीवन सदैव सुखमय रहे। अन्दर के उमड़ते हुए भावों को वह सदैव नियन्त्रित रखती है। संयम तथा निष्ठा उसके व्यक्तित्व में एकदम सहज हो गयी है। यज्ञदत्त अपनी सगाई एक बार करके फिर उसे तोड़ने के लिए भी तत्पर हो उठता है, पर सुरमा उसे ऐसा नहीं करने देती। वह कहती है, "नहीं, सो नहीं हो सकता, दुखिया लड़की को सुखी करना है, यह भी तो ज़रा सोचो; खासकर, वचन देकर मुकरोगे?" सुरमा के अन्दर एक ऐसी कृतज्ञता की भावना है, जो उसे विकल नहीं होने देती। अपने अपूर्ण प्रेम के कारण उसका व्यक्तित्व असन्तुलित नहीं हो पाता।

प्रतुल यज्ञदत्त की पत्नी है। उसका चरित्र इतना सीधा तथा सरल है कि यही उसकी एकमात्र विशेषता है। जीवन के अधिकांश व्यवहारों से अनभिज्ञ यह अबोध लड़की सबके प्रति अपनी आस्था रखती है। अभियोग की भाषा उसे आती ही नहीं। वह बहुत कम बोलती है और सदैव काम-काज में लगी रहती है। 'बैठे रहना उसने सीखा ही नहीं।' वह वस्तुतः इतनी अधिक निर्दोष तथा सरल है कि इस कहानी की ट्रैजडी का अधिकांश दायित्व उसी के ऊपर आता है। यदि इतनी निरीह न होकर वह स्वयं भी अपने व्यक्तित्व को प्रकाश में लाने की चेष्टा करती तो यज्ञदत्त का, सुरमा का तथा स्वयं उसका जीवन बहुत सुखमय हो सकता था।

'प्रकाश और छाया' में यज्ञदत्त की बुआ का बहुत साधारण उल्लेख हुआ है। उनका जितना चरित्र इस कहानी में अंकित हुआ है, उससे उनके व्यक्तित्व की किसी विशेषता पर प्रकाश नहीं पड़ता। वे केवल एक सीधी, सरल तथा स्नेहमयी स्त्री के रूप में दिखाई देती हैं।

6. अनुपमा का प्रेम (अनुपमार प्रेम)

अनेक प्रकार की प्रेम-कथाओं को पढ़-पढ़कर एक नवयुवती का मन किस प्रकार असन्तुलित हो जाता है, इसका अत्यन्त यथार्थ चित्रण इस कहानी में हुआ है। अनुपमा के व्यक्तित्व में भावनाओं तथा बौद्धिकता का उचित सामंजस्य नहीं हो सका है। जीवन के व्यावहारिक पक्ष को वह बिलकुल नहीं समझ पाती है। प्रेम की वेदना ही मानो उसका सर्वस्व है। 'वह समझती है कि मनुष्य के हृदय में जितना प्रेम, जितनी माधुरी, जितनी शोभा, जितना सौन्दर्य, जितनी तृषा है, सबको बीन-बीनकर इकट्ठा करके मैंने अपने मस्तिष्क के भीतर सहेजकर रख लिया है; मनुष्य-चरित्र और मनुष्य-स्वभाव मेरे लिए नख-दर्पण हो गया है।' इतने मिथ्या अभिमान के साथ अनुपमा जब जीवन की गहराइयों में उतरती है तो उसे पता चलता है कि उसने कितनी बड़ी भूल की है। परन्तु व्यक्तित्व में दृढ़ता न होने के कारण वह अपने आपको सुधार भी नहीं पाती। जीवन की अनेक विषमताओं का सामना करने का साहस न होने के कारण केवल एक आत्महत्या का ही मार्ग उसके सम्मुख खुला रहता है। 'प्रेम की जोगिन' बनने की तीव्रतर भावना ने उसके जीवन को एकदम विशृंखल बना दिया है। सब ओर से निरुपाय होकर वह प्राणान्त करने की चेष्टा करती है, परन्तु ऐसा हो नहीं पाता। उसका एक बाल्य सहचर, जिसके प्रणय-निवेदन को वह कई बार ठुकरा चुकी थी, तालाब में कूदकर उसे बाहर निकाल लाता है।

कहानी में अनुपमा की भाभी का चित्रण एक अत्यन्त साधारण कोटि की स्त्री के रूप में हुआ है। जबतक अनुपमा के माता-पिता जीवित हैं; तब तक वह उसके साथ बड़ा अच्छा व्यवहार करती है; परन्तु उनकी मृत्यु के बाद वह अपनी विधवा ननद को घर की दासियों से भी नीचा समझने लगती है। अपने पति तथा बच्चों को छोड़कर वह किसी को भी अपना नहीं समझती। सामान्य स्नेह तथा करुणा से एकदम विहीन होने के साथ-साथ उसके व्यक्तित्व में असहिष्णुता अधिक है। केवल स्वार्थसिद्धि में लगे रहना ही उसके जीवन का परम उद्देश्य है।

अनुपमा की माँ, सुरेश की माँ तथा ललित की माँ, इन तीनों गृहिणियों का कहानी में यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है। अपनी सन्तान के प्रति असीम स्नेह इनके चरित्र का मूल सूत्र है।

7. दर्पचूर्ण

'दर्पचूर्ण' में इन्दुमती तथा विमला इन दो सखियों का चरित्र अत्यन्त स्वाभाविकता के साथ अंकित हुआ है। दोनों का व्यक्तित्व एक-दूसरे का विरोधी-सा है। इस कहानी में पति-पत्नी के सम्बन्ध की भारतीय तथा पाश्चात्य धाराणाओं का तुलनात्मक अध्ययन हुआ है। इन्दुमती पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति की अनुगामिनी है, विमला भारतीय परम्पराओं को मानकर चलने

वाली है।

विदेशी संस्कृति के सतही रूप को ही अपनाकर सन्तुष्ट हो जानेवाली नारियों में से इन्दुमती एक है। जातीय विशेषताओं का वह तिरस्कार कर चुकी है, और अपनी प्राचीन परम्पराओं से पूर्णतः मुक्त न हो पाने के कारण वह अंग्रेज़ी रीति-नीति में एकदम घुल-मिल भी नहीं सकी है। इन दो विचारधाराओं के बीच में उलझ जाने के कारण उसका जीवन निष्ठाहीन हो गया है। उसके व्यक्तित्व में किसी गहरी आस्था का अभाव है, और इसीलिए अपने जीवन में वह सन्तोष अथवा शान्ति का अनुभव नहीं कर पाती।

इन्दुमती का स्वभाव चिड़चिड़ा है। ज़रा-ज़रा-सी बात पर वह झुंझला उठती है। पति-भक्ति के भारतीय आदर्श से उसे चिढ़ है; वह नारी के समान अधिकारों का समर्थन करती है। अपने मिथ्या अभिमान के कारण ही उसका गार्हस्थ जीवन सुखमय नहीं हो पाता। पति की अनेकानेक चेष्टाओं के बावजूद वह उनसे असन्तुष्ट ही रहती है। अपने नारीत्व के आदर्श को वह ग़लत स्थानों में खोजती है। फलतः उसके जीवन में सरसता, स्नेह तथा सामंजस्य नहीं है।

विमला का चरित्र इसके काफ़ी विपरीत है। वह इन्दु के पति नरेन्द्र की ममेरी बहिन है। अपने भैया तथा भाभी के प्रति उसका अत्यन्त गहरा स्नेह है; तथा पति के लिए उसकी श्रद्धा अपरिसीम है। पति-प्रेम ने उसके व्यक्तित्व को बहुत मधुर तथा सरस बना दिया है। उसके मन में किसी के प्रति विरुद्धता नहीं, इसीलिए उसके जीवन में एक सन्तुलन है। संसार से असन्तुष्ट न होकर, मानव जीवन के प्रति कृतज्ञता उसके हर कार्य में परिलक्षित होती है। स्वभाव से मिष्ट-भाषिणी विमला कभी आवेशमय नहीं होती। ऐसा जान पड़ता है मानो जीवन के रहस्य को समझ पाने की कुंजी उसे मिल गयी है। इन्दु की तुलना में तो उसका चरित्र और भी निखरा दिखाई देता है।

'दर्पचूर्ण' में अम्बिका बाबू की पत्नी को पार्श्व-चरित्र के रूप में अंकित किया गया है। अपने रुग्ण पति के प्रति उसकी अगाध भक्ति सचमुच सराहनीय है। अवस्था कम होने पर भी जीवन की अनेकानेक कठिनाइयों से वह डरती नहीं। संघर्षों में पड़ने का आनन्द कितना अधिक है, इसे वह भलीभाँति जानती है। इसीलिए जीवन के प्रति अकृतज्ञता की भावना उसके व्यक्तित्व में भी नहीं दिखाई देती।

8. अन्धकार में आलोक (आँधार आलो)

'अन्धकार में आलोक' एक नर्त्तकी की असफल प्रणय-कथा है। इस कहानी में दो प्रमुख नारी-पात्र हैं—बिजली बाई और राधा रानी। बिजली बाई कलकत्ता की प्रसिद्ध वारांगना है, युवक सत्येन्द्र को उसने सारे अन्तःकरण से चाहा है।

राधा रानी सत्येन्द्र की पत्नी है। इन दो नारियों के पारस्परिक मनोभावों को इस कहानी में अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ अंकित किया गया है।

बिजली बाई का व्यवसाय तो है नाचना-गाना, पर उच्चतम साहित्यिक कृतियों से उसे विशेष अनुराग है। इसीलिए वारांगना होते हुए भी उसकी रुचि काफ़ी परिष्कृत है। सत्येन्द्र के प्रति उसका अज्ञात प्रेम है। इस अज्ञात प्रेम की खोज के कारण ही प्रेम के वशीभूत सत्येन्द्र को घर पर बुलाकर वह उसका अनादर करती है; परन्तु इसके बाद जब दृढ़भक्त सत्येन्द्र कभी उसके पास नहीं जाता तो उसके रूप का गर्व चूर-चूर हो जाता है। उसका असफल प्रणय आत्मोत्सर्ग में परिणत होता है, और शेष जीवन के दिन वह अपने व्यवसाय को छोड़कर सत्येन्द्र की स्मृति में ही बिता देती है।

राधारानी एक कोमलमना गृहस्थ नारी है। छोटी अवस्था में ही वह अशेष-गुणवती तथा अनुपम सौन्दर्य की स्वामिनी है परन्तु इसके कारण गर्व का प्रादुर्भाव उसके मन में नहीं हो सका है। सहानुभूति तथा उदारता जैसी वृत्तियाँ ही उसके व्यक्तित्व में अधिक सहज जान पड़ती हैं। अपने पति की पूर्व-प्रेयसी बिजली बाई का वह तिरस्कार नहीं करती, वरन् बड़ी बहिन के समान आदर देती है। सत्येन्द्र अपने घर बुलाकर उसका अपमान करना चाहता है, परन्तु राधारानी उसे ऐसा करने से रोक देती है। इस प्रकार वह द्वेष के स्थान पर मानो सभी को स्नेह ही देना चाहती है।

'अन्धकार में आलोक' में सत्येन्द्र की विधवा माँ का प्रारम्भ में बहुत थोड़ा उल्लेख हुआ है। उनमें सहनशीलता तथा बुद्धिमत्ता की कमी नहीं दिखाई देती। पति की मृत्यु के उपरान्त वे अपनी एकमात्र सन्तान तथा अपनी बहुत बड़ी ज़मींदारी की देखभाल स्वयं करती हैं। और ऐसा लगता है कि उनके काम में कहीं त्रुटि नहीं होती।

9. वैकुण्ठ का दान-पत्र (वैकुण्ठेर विल)

'वैकुण्ठ का दान-पत्र' अपेक्षाकृत लम्बी कहानी है। स्त्री पात्रों के दृष्टिकोण से इसमें भवानी का चरित्र विशेष उल्लेख योग्य है। विनोद उसका सगा पुत्र है, तथा गोकुल सौतेला, यद्यपि साधारणतः उसके व्यवहार से इसके विपरीत ही सिद्ध होता है। स्नेह की व्यापकता ने उसके चरित्र को प्रभविष्णु बना दिया है। भवानी के चरित्र-अध्ययन के समय 'विप्रदास' की दयामयी का अनायास ही स्मरण हो आता है। इन दोनों चरित्रों में बहुत समानता है।

भवानी के व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषता है उसकी बुद्धिमत्ता तथा दूरदृष्टि। उसे धोखा दे सकना आसान काम नहीं है। परन्तु उसकी बुद्धि में कुटिलता बिल्कुल नहीं है। किसी के प्रति विरुद्धता की बात उसके मन में आती ही नहीं।

सब कुछ चुपचाप सुनते तथा सहन करते जाना ही मानो उसके जीवन का मूल-मन्त्र है। बड़ी-से-बड़ी विपत्ति के समय भी उसका धैर्य अडिग रहता है। मित-भाषिता, सहिष्णुता तथा स्नेहमयता ने उसके व्यक्तित्व को महिमान्वित बना दिया है। शरत् के उन नारी-पात्रों में भवानी का प्रमुख स्थान है जो स्नेह की संकीर्णता के सिद्धान्तों को असिद्ध करते हैं।

मनोरमा गोकुल की पत्नी है। स्वार्थ-बुद्धि का विकास उसमें कुछ अधिक हुआ है। अपने-पराये का भेद-भाव करना वह भलीभाँति जानती है। अविकसित बुद्धि के कारण वह अपना सही कर्त्तव्य निश्चित नहीं कर पाती। जीवन के छोटे-बड़े स्वार्थ ही उसके विविध व्यवहारों के नियामक हैं। इस दृष्टिकोण से उसका चरित्र औसत दर्जे का कहा जा सकता है।

घर की दासी मुनुआ की माँ का कहानी में जहाँ-तहाँ उल्लेख हुआ है। वह मजूमदार परिवार का आवश्यक अंग बन गयी है। वैसे तो सामान्यतः ही उसका स्वभाव स्नेहमय है, परन्तु विनोद को बचपन में पालने-पोसने के कारण उसके प्रति उसकी ममता अधिक है।

गोकुल की बड़ी लड़की हेमांगिनी अपनी दादी के पास रहती है। इस सम्पर्क के कारण उसमें सरलता अधिक है; षड्यन्त्रप्रियता उसके स्वभाव में नहीं है। अन्यान्य बालकों की भाँति इधर की बात उधर करना वह वहीं जानती।

10. निष्कृति

'निष्कृति' की गणना शरत् बाबू की उत्कृष्ट कहानियों में की जाती है। कलकत्ते के एक मध्यवर्गीय परिवार की तीन बहुओं का इसमें बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है। सिद्धेश्वरी बड़ी बहू है, नयनतारा मँझली बहू तथा शैलजा सबसे छोटी बहू है। सिद्धेश्वरी तथा नयनतारा के पति गिरीश तथा हरीश सहोदर भाई हैं; शैलजा का पति रमेश इन दोनों का चचेरा भाई है।

इस कहानी की मुख्य संवेदना शैलजा का ही चरित्र है। इसके द्वारा कथाकार ने एक बार फिर सिद्ध किया है कि रक्त-सम्बन्ध स्नेह की सीमा का निर्धारण नहीं करते। शैलजा के व्यक्तित्व में अनुशासन की भावना प्रधान है। उसका स्नेह सबके लिए समान है, परन्तु वह उसका अपव्यय भी नहीं करती। सदैव घर के काम-काज में लगे रहने के कारण वह अनावश्यक रूप से बातचीत करना पसन्द नहीं करती। तीखे-से-तीखे व्यंगों को वह चुपचाप सुन लेती है, परन्तु जब वह बोलती है तो अत्यन्त स्पष्ट तथा सीधे-सादे ढंग से। छल-कपट की बात उसे एकदम अप्रिय है। सहिष्णुता के साथ-साथ उसमें स्वाभिमान भी है। कुल मिला-कर उसके चरित्र में एक ऐसा सन्तुलन तथा संयम है, जिससे कोई अप्रभावित

नहीं रह सकता।

सिद्धेश्वरी को उनके असन्तुलित स्नेह ने कमजोर बना दिया है। अपने-आप में भली होने पर भी उनका व्यक्तित्व बहुत सशक्त नहीं है। बुद्धि का यथेष्ट विकास न होने के कारण वह अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्धारण उचित रूप से नहीं कर पातीं। उनके चरित्र में दृढ़ता नहीं है। दूसरे के बहकावे में वे आसानी से आ जाती हैं। परन्तु फिर भी उनकी मौलिक सत्प्रवृत्तियाँ सदैव अक्षुण्ण रहती हैं। जान-बूझकर असत् के साथ वह समझौता नहीं कर सकतीं। यही उनके चरित्र की बड़ी विशेषता है।

नयनतारा के व्यवहार साधारण स्वार्थों द्वारा परिचालित होते हैं। जीवन की क्षुद्रताएँ उसके व्यक्तित्व में आसानी से प्रवेश पा गयी हैं। कूट बुद्धि के आधिक्य के कारण वह सदैव अपने स्वार्थ-सिद्धि के जाल रचा करती है। उसकी वाणी कटु तथा हृदय मलिन है। सबके ऊपर वह अपना ही प्रभुत्व चाहती है। इस संकीर्णता ने उसके व्यक्तित्व को कुरूप बना दिया है।

नीला सिद्धेश्वरी की पुत्री है, परन्तु वह रहती अधिक शैलजा के पास ही है। उसकी 'छोटी चाची' ने उसके व्यक्तित्व को बहुत-कुछ ढाला है। इसीलिए उसे नयनतारा का दुर्व्यवहार तथा षड्यन्त्रप्रियता जरा भी अच्छी नहीं लगती। शैलजा के ही गुण उसमें विकसित होते हुए दिखाई देते हैं। उसके सारे व्यवहारों में उसी की शिक्षा प्रतिध्वनित जान पड़ती है।

11. स्वामी

'स्वामी' अठारह-उन्नीस वर्षीय युवती सौदामिनी की आत्मकहानी है। प्रथम यौवन की वंचना तथा लज्जा ने उसके सारे व्यक्तित्व को जर्जर कर दिया है। प्रणय के उद्दाम वेग के सम्मुख वह अपने को अशक्त पाती है। पश्चात्ताप की भावना उसमें अवश्य है, परन्तु बाह्य हठ ने उसे पूर्णतः दबा रखा है। अपने मामा की शिक्षा-दीक्षा के फलस्वरूप वह प्रारम्भ में ईश्वर में विश्वास नहीं करती। इस अनास्था ने उसकी बाद की लज्जा को और भी भयावह बना दिया है। अपरिपक्वावस्था के अपरिपक्व प्रणय ने उसके विवाहित जीवन में चरम वेदना भर दी है। उसका व्यक्तित्व इतना सशक्त भी नहीं है कि वह सब कुछ अपने पति के समक्ष स्वीकार करके अपनी सारी लज्जा से एकबारगी मुक्ति पा ले। नरेन्द्र के प्रति सौदामिनी किसी समय आकर्षित थी। यह प्रथम आकर्षण उसके तथा उसके पति के बीच की खाई बन गया है, जिसे उसकी सारी उदारता के बावजूद वह लाँघ नहीं पाती। उसके चरित्र में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक एक ऐसी अवस्था दिखाई देती है, जिसे हम साधारण तुलना की दृष्टि से हार्डी की टैस के साथ सम्बद्ध कर सकते हैं। उसके जीवन-क्रम में घटनाओं की अनिवार्यता है। अपनी

सारी 'ट्रैजडी' के लिए स्वयं उत्तरदायी होते हुए भी, सौदामिनी स्वयं अपनी नियति का वरण कर सकती थी, ऐसा नहीं जान पड़ता। इसीलिए उसका चरित्र इतना सजल तथा सहानुभूति का उद्रेक करनेवाला बन गया है।

सौदामिनी की माँ के चरित्र में विशेष उल्लेखनीय कुछ भी नहीं है। बंगाल की नारी को अपनी पुत्री के विवाह के लिए कितना चिन्तित रहना पड़ता है, वे इसी का उदाहरण प्रस्तुत करती जान पड़ती हैं।

सौदामिनी की सौतेली सास साधारण स्वार्थों की स्त्री है। सामान्य गृह-कलह में बहुत दक्ष होने के साथ, अप्रिय आलोचनाएँ करना ही मानो उनके जीवन का एक-मात्र ध्येय है। इस कार्य में उन्हें यथावसर अपनी छोटी बहू से भी सहायता मिल जाती है। मुक्ता सौदामिनी के घर की दासी है। कुटिल बुद्धि की होते हुए भी उसमें भलाई का कुछ अंश शेष है। उसके व्यक्तित्व की सद्-प्रवृत्तियाँ एकदम ही नष्ट नहीं हो गयी हैं। सौदामिनी को वह अपने मन में बहुत चाहती है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

12. एकादशी वैरागी

'एकादशी वैरागी' में एकादशी की छोटी सौतेली बहिन गौरी ही एकमात्र नारी-पात्र है। अत्यन्त संक्षेप में अंकित होने पर भी उसका चरित्र काफ़ी प्रभावोत्पादक बन गया है। बुद्धिमत्ता तथा न्यायप्रियता उसके चरित्र की प्रमुख विशेषताएँ हैं। अपनी सम्पूर्ण प्रवृत्तियों में वह मानो परम वैष्णव है। वेदना ने उसके व्यक्तित्व को अत्यन्त सहिष्णु, कोमल तथा सहानुभूतिमय बना दिया है। सब ओर से तिरस्कृत होने पर भी उसके मन में कटुता का प्रवेश नहीं हो सका है। अपने स्वच्छ आचरण तथा निश्छल व्यवहार से वह मानो अपने प्रथम यौवन की लज्जा को मिटा देना चाहती है। विधवा ब्राह्मणी के एकादशी के यहाँ जमा पाँच सौ रुपयों को, जिसका कोई प्रमाण-पत्र अथवा साक्षी शेष नहीं है, वह तत्क्षण दिलवा देती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि लोभी, परन्तु ईमानदार एकादशी के अपरिसीम स्नेह तथा विश्वास ने गौरी के व्यक्तित्व को और भी स्निग्ध तथा कोमल बना दिया है।

13. मुकद्दमे का नतीजा (मामलार फल)

जहाँ शरच्चन्द्र ने नारी के प्रिया रूप को उसकी अनेक जटिलताओं में चित्रित किया है, वहीं उन्होंने नारी के जननी रूप को भी उसकी सारी सरसता के साथ हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है। नारी का वात्सल्य 'सुमति', 'मँझली दीदी' तथा 'बिन्दो का लल्ला' शीर्षक कहानियों में अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढंग से अभि-व्यक्त हुआ है। कुछ-कुछ इसी वर्ग की कहानी है 'मुकद्दमे का नतीजा'। चरित्र-

चित्रण तथा रस-परिपाक की दृष्टि से यह पहली तीन कहानियों जैसी सफल चाहे भले ही न हो, परन्तु अनेक प्रकार की विरुद्धताओं के बीच भी नारी का वात्सल्य किस प्रकार अक्षुण्ण रहता है, यह तथ्य इससे भलीभाँति प्रकट होता है।

'मुक़द्दमे का नतीजा' में केवल दो नारी पात्र हैं—गंगामणि तथा उसकी देवरानी। इन दो में भी गंगामणि का ही चरित्र इस कहानी में प्रधान है, उसकी देवरानी तो मात्र एक पार्श्वचरित्र के रूप में आती है। गंगामणि का व्यक्तित्व नारायणी, हेमांगिनी अथवा विन्दो की भाँति बहुत सरस तथा सुसंस्कृत नहीं है। वह समाज के अपेक्षाकृत निम्न वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है। उसकी वाणी कटु है तथा स्वभाव से भी वह कलहप्रिय है। जरा-जरा-सी बात पर अपने देवर तथा देवरानी से लड़ना उसका मानो नित्यकर्म है। परन्तु इतने कर्कश व्यक्तित्व में भी वात्सल्य का स्रोत प्रवाहित होता है, इस तथ्य से शरत् बाबू भलीभाँति परिचित थे। चरित्र के इस उज्ज्वल पक्ष को उभारना ही मानो उनके कलाकार का चरम उद्देश्य रहा है।

साधारणतः गंगामणि का चरित्र औसत दर्जे का या उससे भी कुछ नीचा ही है। बुराई करना, झूठ बोलना तथा कलह को प्रश्रय देना उसके व्यक्तित्व के काफ़ी प्रमुख अंग हैं। क्षमा तथा दया की प्रवृत्तियों के भी वह निकट नहीं है। इन सबके बावजूद उसके हृदय-तल में वात्सल्य का भाव विकसित हो सका है। अपनी देवरानी के सौतेले पुत्र गयाराम के प्रति उसके मन में अपार ममता है, यद्यपि इस ममता की अभिव्यक्ति भी उसके अपने व्यक्तित्व के समान ही बहुत कुछ कर्कश तथा खुरदरी है। गयाराम की खोज में वह अपने पति के क्रोध की चिन्ता किये विना ही चली जाती है। और जब उसके पति तथा भाई उसका पता लगाते-लगाते गंगाराम की झोंपड़ी तक पहुँचते हैं तो अत्यन्त आश्चर्यचकित होकर वे देखते हैं कि गंगामणि पंखा कर रही है और गयाराम खा रहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि शरत् की नारियों का स्नेह प्रायः अप्रत्याशित स्थलों पर अभिव्यक्त होता है। उनकी ममता में भी संकीर्णता नहीं, व्यापकता है।

गंगामणि की देवरानी का कहानी में जहाँ-तहाँ उल्लेख भर है। स्वभाव से वह स्वल्पभाषिणी है। दूसरों की बातों में उसे दिलचस्पी अधिक नहीं है। वैसे गयाराम से वह बहुत प्रसन्न नहीं है। अपने पति तथा वच्चे की ही उसे चिन्ता रहती है। उसका व्यक्तित्व स्वकेन्द्रित अधिक जान पड़ता है।

14. बिलासी

यह कहानी बहुत कुछ संस्मरणात्मक है। शीर्षक-चरित्र को लेकर ही इसकी रचना हुई है। प्रकृति तथा वातावरण के दृष्टिकोण से बिलासी का चरित्र

'श्रीकान्त' प्रथम पर्व की अन्नदा जीजी से कुछ-कुछ मिलता है। उसका वर्णन करता हुआ उपन्यासकार लिखता है, "यह उसी बूढ़े सपेरे की लड़की थी—बिलासी। उसकी उमर अठारह की थी या अट्ठाईस की—कूत नहीं सका। परन्तु चेहरे की तरफ़ देखते ही मालूम हो गया कि उमर चाहे जितनी भी हो, मेहनत के मारे और रातों जगते-जगते उसके शरीर में अब कुछ रहा नहीं है। ठीक जैसे फूलदानी में पानी दे-देकर जिलाये रखा हुआ बासी फूल हो। हाथ से ज़रा-सा छूते ही, ज़रा-सा हिलाते ही झर पड़ेगा।" श्रीकान्त ने भी प्रथम दर्शन के समय अन्नदा जीजी का वर्णन बहुत-कुछ ऐसा ही किया है।

अपने पति तथा प्रेमी के प्रति अटूट भक्ति बिलासी के चरित्र की प्रमुख विशेषता है। अनेकानेक यातनाओं के बीच भी वह मृत्युंजय की रोग शैय्या को नहीं छोड़ती। सुनसान बाग़ में अकेले रुग्ण पति के साथ बराबर रहने का साहस उसमें है। मृत्युंजय के देहावसान के उपरान्त वह भी विष खाकर आत्महत्या कर लेती है। यह सतीत्व का आदर्श उसने किसी पोथी से पढ़कर नहीं पाया, वरन् यह उसके मन की सहज वृत्ति है। और इस तेज से उसका सारा व्यक्तित्व अभिभूत है। उसके चरित्र में एक ऐसी दीप्ति है, जो अनायास ही पाठक को प्रभावित कर लेती है।

15. तसवीर (छवि)

'तसवीर' में मा-शोये नामक एक बर्मी नवयुवती की प्रणय-कथा है। बा-थिन नामक चित्रकार से वह प्रेम करती है, परन्तु उसका प्रणयास्पद अपने चित्रों में ही व्यस्त रहने के कारण सम्भवतः उसकी आशा के अनुरूप उसका ध्यान नहीं रख पाता। बा-थिन स्वभाव से कुछ अन्यमनस्क प्रकृति का व्यक्ति है। मा-शोये में इतना धैर्य नहीं है कि वह इस अन्यमनस्कता को बराबर सहन करती जाय। एक राजवंश की पुत्री होने के कारण सम्भवतः उसमें कुछ हठ अधिक है। प्रणयास्पद के प्रति आत्म-समर्पण की भावना के स्थान पर, उस पर अधिकार रखने की भावना उसके मन में अधिक प्रबल है। इस अधीरताजन्य वेदना से धीरे-धीरे उसका हृदय परिष्कृत हो जाता है, और तब उसका प्रेम पूर्ण हो पाता है।

मा-शोये के व्यक्तित्व में शील, नम्रता तथा अन्य सद्व्यवहारों की कमी नहीं है। वह मिष्टभाषिणी भी है। परन्तु उसमें सहिष्णुता की मात्रा बहुत कम है। यही कमी उसके चरित्र को बहुत ऊँचा नहीं उठने देती।

16. महेश

करुण-रस-प्रधान इस कहानी की सरसता बहुत कुछ अपनी है, परन्तु इसमें

स्त्री-पात्र लगभग नहीं हैं; ग़फूर की दस वर्षीया पुत्री अमीना का चरित्रांकन अवश्य हुआ है, अत्यन्त संक्षिप्त किन्तु मार्मिक शैली में। पिता की निर्धनता तथा सहिष्णुता ने अमीना को धैर्य की प्रतिमूर्ति बना दिया है। इस छोटी-सी अवस्था में ही उसने बहुत-से सामाजिक व्यवहार सीख लिये हैं। जैसी वह स्नेहमय है, वैसी ही कर्त्तव्य-परायण भी। अपने पिता के बैल महेश के प्रति उसकी ममता कम नहीं, परन्तु ग़फूर की तरह वह एकदम अव्यावहारिक भी नहीं है। वह यथासाध्य कम बोलती है, किन्तु उसकी बातचीत में बुद्धिमत्ता झलकती है। इतनी कम अवस्था में बिना किसी साधन के वह किसी प्रकार अपने पिता की संक्षिप्त-सी गृहस्थी चलाती है। बचपन में ही मानो वार्द्धक्य का अनुभव करने लगी। उसकी इस अवशता को शरच्चन्द्र ने जिस ढंग से अंकित किया है, वह सचमुच बहुत करुणोत्पादक है।

17. अभागिनी का स्वर्ग (अभागीर स्वर्ग)

'महेश' की भाँति 'अभागिनी का स्वर्ग' भी दैन्य तथा विपन्नता की कहानी है। पति से परित्यक्त अभागिनी अपनी एक मात्र सन्तान कंगाली के साथ किसी तरह से अपने दिन काटती है। जितना ही उसे अपने पुत्र से स्नेह है, उतनी ही उसे अपने पति के लिए चिन्ता है। उसके जीवन की एकमात्र साध यह रह गयी है कि मृत्यु के उपरान्त उसका दाह-संस्कार विधिपूर्वक हो और उसका पति उसकी चिता में आग लगाये, परन्तु यह नियति का क्रूर व्यंग्य है कि अभागिनी के पति रसिक के आ जाने पर भी उसका शव जलाया नहीं जाता, गाड़ दिया जाता है।

कहानी में अभागिनी के चरित्र पर विशेष बल नहीं दिया गया है। जहाँ-तहाँ उसके व्यवहार तथा वार्तालाप से प्रकट होता है कि वह एक भली और कोमल-हृदय स्त्री है। इतने दुःख-दैन्य में दिन बिताने पर भी उसे किसी के प्रति शिकायत नहीं। अपनी नियति को वह मौन रहकर स्वीकार करती है। अपेक्षाकृत असंस्कृत समाज से सम्बद्ध होते हुए भी, उसका जीवन-क्रम असंस्कृत नहीं जान पड़ता।

18. हरिलक्ष्मी

'हरिलक्ष्मी' में नारी-हृदय के मौलिक तत्त्व—कोमलता तथा सहानुभूति का उद्घाटन अत्यन्त मार्मिक ढंग से हुआ है। कहानी में दो प्रमुख नारी पात्र हैं—हरिलक्ष्मी तथा मँझली बहू। बुआ जी को पार्श्व-चरित्र कहा जा सकता है। हरिलक्ष्मी एक समृद्ध तथा वयस्क ज़मींदार की दूसरी पत्नी है। प्रकृति की वह बहुत सरल तथा कोमल है। गर्व की भावना कभी उसके मन में प्रवेश नहीं कर

पाती। उसका हृदय किसी के भी दुःख-दैन्य को देखकर अपने आपको अपराधी समझने लगता है। अधिक वार्तालाप-प्रिय न होने के कारण उसकी सहानुभूति का समुद्र अन्दर-ही-अन्दर लहराता रहता है। साथ-ही-साथ उसके व्यक्तित्व में कुछ ऐसी अवशता तथा निरीहता है कि वह इच्छा रहते हुए भी दूसरों के प्रति किये जाने वाले अन्याय का प्रतिकार नहीं कर पाती। गहरी सहानुभूति तथा कर्मगत अक्षमता ने मिलकर उसके व्यक्तित्व को संवेदनशील होते हुए भी नितान्त निरुपाय बना दिया है। इसीलिए सब प्रकार से सम्पन्न होने पर भी हरिलक्ष्मी सदैव पीड़ित दिखाई देती है। दूसरों की वेदना ने उसे जर्जर कर दिया है। उसका व्यक्तित्व भावनाओं का पुंजीभूत समूह होकर रह गया है, जिसमें इच्छा-ही-इच्छा है, शक्ति नहीं।

मँझली बहू हरिलक्ष्मी के रिश्ते में लगने वाले देवर की पत्नी है। कमला का जीवन केवल अभावों की एक करुण गाथा है, परन्तु उन अभावों के कारण उसके आत्म-सम्मान में कहीं भी कमी नहीं आ सकी है। यहाँ तक कि वह हरि-लक्ष्मी की सहायता को भी दृढ़तापूर्वक अस्वीकार कर देती है। उसके व्यक्तित्व की शालीनता तथा सहिष्णुता ने उसे महिमान्वित कर दिया है। आवश्यकता से अधिक वह कभी बात नहीं करती। सारे कष्टों को चुपचाप सहन करते जाना उसका स्वभाव बन गया है। वह सदैव किसी-न-किसी काम-काज में लगी रहती है। जीवन के अविराम संघर्ष में थकना वह जानती ही नहीं। अकेले ही सारी विषमताओं के बीच चलते रहना उसकी नियति है। इसके बाद भी वह कुछ चाहती है, ऐसा नहीं जान पड़ता।

बुआजी का कहानी में बहुत अधिक उल्लेख नहीं हुआ है। वार्तालाप तथा आचरण में कृत्रिमता के साथ, उनके व्यक्तित्व में कर्कशता भी है। उनकी वाचालता प्रायः परनिन्दा का ही रूप लेती है। उनका दृष्टिकोण संकीर्ण तथा वाणी तिक्त है। कमला के प्रति उनकी अप्रसन्नता की कोई सीमा नहीं। उसे नीचा दिखाने का अवसर वे सदैव ही खोजती रहती हैं।

19. अनुराधा

अपने कथा-साहित्य में शरत् बाबू ने स्थान-स्थान पर निश्छल स्नेह की शक्ति तथा महिमा को अंकित किया है। 'अनुराधा' इसी वर्ग की कहानियों में से एक है। पुरुष की कटुता तथा विरुद्धता को नारी का स्नेह किस प्रकार बदल सकता है, यही इस कहानी की संवेदना है।

बाईस-तेईस वर्ष की अविवाहित अनुराधा सब प्रकार के अभावों के बीच किस प्रकार जीवन व्यतीत कर रही है। अचानक एक दिन गाँव के ज़मींदार विजय बाबू की आज्ञा होती है कि वह उनका घर खाली करके अन्यत्र चली जाय।

विजय स्वयं इस कार्य के लिए अनुराधा के पास जाता है। साथ में उसका लड़का कुमार है। कहानी यहीं से प्रारम्भ होती है, परन्तु उसका अन्त होता है वहाँ, जहाँ विजय अपने मातृ-विहीन एकमात्र पुत्र को अनुराधा के संरक्षण में छोड़कर वापस कलकत्ता आ जाता है, इस विचार के साथ कि कभी अवसर मिलने पर वह अनुराधा को अपनी पत्नी बना सकेगा।

अनुराधा का चरित्र यद्यपि प्रिया वर्ग के ही अन्तर्गत आता है, परन्तु उसके आचरण से स्पष्ट पता चलता है कि उसके व्यक्तित्व में मातृत्व के तत्त्वों का पूर्ण विकास हुआ है। विजय का पुत्र कुमार तो उसे अपनी माँ के स्थानापन्न मान लेता है। ऐसा जान पड़ता है कि अनुराधा के अदम्य यौवन की समस्त अपूर्ण वासनाएँ वात्सल्य के अप्रतिहत स्रोत में एकदम विलीन हो गयी हैं। अनुराधा का व्यवहार अत्यन्त नम्र, शालीन तथा परिष्कृत है। उसका बातचीत करने का ढंग प्रभावोत्पादक है। घोर विपन्नता भी उसके चरित्र को कहीं कटु नहीं बना सकी है। उसका भद्र आचार सबके ऊपर है, जो विरुद्ध जनों के हृदय को भी जीत लेता है। अत्यन्त स्नेहमय होने पर भी कोई उसके प्रति निकटता का अनुभव नहीं कर पाता। यह नम्र पार्थक्य उसकी व्यवहार-कुशलता द्वारा ही सम्भव है। उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व में जो स्निग्धता है, वह नारी के प्रिया तथा जननी के रूपों के सम्मिलन में ही प्रायः मिल पाती है, और आश्चर्य की बात यह है कि वास्तविक अर्थ में न अनुराधा प्रिया ही है, और न जननी ही। स्नेह के अविरल प्रवाह ने जहाँ उसके चरित्र को बहुत सरस तथा मधुर बनाया है, वहीं आचरण की कठोरता ने उसके मांस के विद्रोह को एकदम दबा दिया है। कुल मिलाकर उसका चरित्र बहुत सन्तुलित तथा मर्यादित है, और सम्भवतः: शरत् के आदर्श नारीत्व के बहुत समीप है।

अनुराधा के ठीक विपरीत इस कहानी में विजय की भाभी प्रभा का चरित्रांकन हुआ है। उसके व्यक्तित्व में कृत्रिमता तथा छिछलापन है। अंग्रेजी संस्कृति के अन्धानुकरण ने उसके दृष्टिकोण को बहुत सतही बना दिया है। बिना किसी आस्था तथा निष्ठा के उसका व्यक्तित्व एकदम खोखला हो गया है। वह जिस वर्ग की नारी है, उसका मूल मन्त्र स्वार्थ है। उच्च शिक्षा प्राप्त करने पर भी उसके उद्देश्य ऊँचे नहीं हो पाते। शरत् बाबू इस प्रकार के पात्रों को प्रायः अपने उपन्यासों तथा कहानियों में लाये हैं, और इस वर्ग की नारियों का उन्होंने बड़े सजीव ढंग से चित्रण किया है। प्रभा इसी श्रेणी का एक अत्यन्त संक्षिप्त चरित्र है।

20. शुभदा

पूरे आकार का उपन्यास होने पर भी 'शुभदा' को इस परिशिष्ट में

सम्मिलित करने का एक प्रधान कारण यह है कि इसे शरत् बाबू की रचनाओं की समयानुक्रमणिका में ठीक-ठीक नहीं रखा जा सकता। उनकी मृत्यु के उपरान्त प्रकाशित होने पर भी, यह उनकी प्रारम्भिक काल की रचना है। इसके लेखन-समय का निर्धारण ठीक-ठीक नहीं हो सका है। शरत्-साहित्य के गम्भीर अन्वेषक तथा समीक्षक श्रीव्रजेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय के अनुसार तो यह 'चन्द्रनाथ' तथा 'देवदास' से भी पहले की कृति है ('शरत्-परिचय' : पृष्ठ 10, पाद-टिप्पणी) इसीलिए चरित्रांकन के दृष्टिकोण से यह बहुत अपरिपक्व जान पड़ती है।

'शुभदा' में नारी-चरित्रों की संख्या कम नहीं है। पुरुष-पात्रों की अपेक्षा नारी-पात्र ही घटना-क्रम में अधिक प्रधान हैं; परन्तु इनमें से एक भी चरित्र ऐसा नहीं है जो पूर्णतः विकसित हुआ हो। चरित्र-चित्रण के दृष्टिकोण से वे सबके सब अप्रौढ़ हैं।

उपन्यास के कथानक में शुभदा तथा उसकी दोनों पुत्रियों, ललना तथा छलना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शेष कात्यायनी, रासमणि, विन्दो, विन्दो की माता, कृष्णप्रिया तथा जयावती या तो पार्श्व-चरित्र हैं या स्थानीय चरित्र। शरत् बाबू का यह सम्भवतः अकेला उपन्यास है, जिसमें कोई भी नारी-चरित्र जीवन्त नहीं बन सका है। इसका प्रधान कारण यह जान पड़ता है कि इसके किसी भी नारी पात्र की कोई अपनी विशेष संवेदना नहीं है।

शुभदा को एक प्रकार से कहानी की नायिका माना जा सकता है। कठोर विषमताओं के बीच अपने आपको स्थिर बनाये रखना उसका स्वभाव बन गया है। धैर्य, आत्म-त्याग तथा आत्म-सम्मान उसके व्यक्तित्व के प्रधान गुण हैं। विपत्तियों ने उसके साहस में वृद्धि की है, कमी नहीं। संघर्ष ही मानो उसकी नियति बन गया है।

ललना तथा छलना, दोनों ने अपनी माता से अधिकांश चारित्रिक गुण प्राप्त किये हैं। दोनों के चरित्र में दृढ़ता तथा साहसिकता का पूर्ण उन्मेष हुआ है। अपने परिवार के प्रति उनका मोह अपरिसीम है। दैन्य तथा विपन्नता ने उनमें आत्मनिर्भरता का संचरण किया है। अपने जीवन-क्रम को निर्धारित करने में वे स्वयं समर्थ हो सकी हैं।

कात्यायनी एक ग्रामीण वेश्या है। किसी भी प्रकार के मूल्यों से रहित उसका जीवन मागाचार में ही बीतता है। किन्तु शुभदा के पति हारान के प्रति उसकी सच्ची सहानुभूति है। घर के प्रति उसकी नितान्त विमुखता कात्यायनी को ज़रा भी अच्छी नहीं लगती।

वृद्धा रासमणि का चरित्र उपन्यास में कुछ अच्छा बन सका है। वाणी की कटु होने पर भी उसका हृदय बहुत निश्छल है। विन्दो, विन्दो की माता तथा कृष्णप्रिया अपने से अधिक दूसरों की बात में रुचि रखने वाली स्त्रियाँ हैं।

पर-निन्दा में उनका विशेष मन लगता है। जयावती वेश्या होने पर भी स्वभाव की अच्छी है। उसके व्यक्तित्व में सहानुभूति तथा उदारता है। उसकी माँ का व्यक्तित्व ठीक इसके विपरीत है। वह कलह-प्रिय तथा कर्कशा है। किन्तु अकारण ही वह भी किसी को कष्ट नहीं पहुँचाती। वह आसानी से रुष्ट और उतनी ही आसानी से प्रसन्न होने वाली स्त्री है। उसके मन में किसी प्रकार का स्थायी विद्वेष नहीं है।

परिशिष्ट-3

शरत् के नारी-पात्रों की सामाजिक पृष्ठभूमि

जिस युग में शरच्चन्द्र अपने उपन्यासों तथा कहानियों का सृजन कर रहे थे वह युग बंगाल के सामाजिक इतिहास में अपना एक विशेष महत्त्व रखता है। कुछ तो राष्ट्रीय चेतना की जागृति के फलस्वरूप और कुछ पाश्चात्य संस्कृति के संक्रमण के फलस्रूप, सुधार-आन्दोलन की लहर इस प्रदेश के निवासियों के ऊपर अपना काफ़ी गहरा रंग चढ़ा चुकी थी। ब्राह्मो समाज की स्थापना हुए इतना समय हो गया था कि उसके नियमों तथा अनुशासनों के अन्दर भी रूढ़ि का प्रवेश हो चला था। ब्राह्मो समाज के अतिरिक्त कई अन्य छोटे-मोटे सुधारवादी आन्दोलन भी अपनी जड़ जमाने के प्रयत्न में थे, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि तत्कालीन बंगाली समाज की मान्यताओं तथा आचरणों पर सबसे अधिक प्रभाव ब्राह्मो समाज का ही था। समाज का एक बड़ा वर्ग यद्यपि अभी अपने प्राचीन हिन्दू धर्म में ही बँधा हुआ था, फिर भी ब्राह्मो समाज के अनुयायियों में प्रभावशील तथा महत्त्वपूर्ण सदस्यों की संख्या कम नहीं थी। जो भी हो, उस समय कलकत्ता में ब्राह्मो समाज के आन्दोलन के फलस्वरूप जातीय विभेदों के विरोध में आवाज़ उठायी जा रही थी, सती प्रथा को बन्द करने का प्रयत्न किया जा रहा था तथा स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जा रहा था। बंगाल के गाँवों को सुधारक की यह लहर अब तक भी बहुत प्रभावित न कर सकी थी।

ब्राह्मो समाज की अधिकांश धाराएँ तत्कालीन नारी समाज से सम्बद्ध थीं। स्वयं उसके संस्थापक राजा राममोहन राय स्त्री-सुधार के प्रबल समर्थक थे। बहु-विवाह, बाल-विवाह तथा अनमेल विवाह का उन्होंने विरोध किया था; विधवा-विवाह तथा स्त्री-शिक्षा के वे हामी थे तथा पर्दा-प्रथा और सती-प्रथा को भी समूल उखाड़ फेंकने का उन्होंने यत्न किया था। बहुत-सी कुरीतियों का मूल कारण कुलीनता की भावना थी। राजा राममोहन राय ने इन विभेदक तत्त्वों की भी बहुत निन्दा की थी। इस प्रकार उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप लोग तत्कालीन बंगाल की नारी की दुरवस्था को तो कम-से-कम पहचान ही सके थे। उसे दूर करने की बहुत-सी चेष्टाएँ सफल भी हुईं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

शरत्चन्द्र ने जिस समय लिखना प्रारम्भ किया था, उस समय तक सुधारवादी आन्दोलन के कुछ-कुछ शुभ प्रभाव तो परिलक्षित होते थे, परन्तु उसकी तीव्रता बहुत कुछ नष्ट हो चुकी थी। गाँवों में सुधार का सन्देश पहले भी नहीं पहुँचा था, इसीलिए वहाँ की दशा तो बहुत ही गिरी हुई थी। कलकत्ता में भी सुधार की प्रत्येक लहर के साथ अनिवार्य रूप से आनेवाला कठमुल्लापन प्रवेश पा चुका था। इस प्रकार कुल मिला-जुलाकर एक महान् सुधारक को जन्म देने की तैयारियाँ फिर से पूर्ण हो गयी थीं। परन्तु इस बार का सुधारक अपने पूर्वागतों की परम्परा में न था। सुधार के लिए उसने अधिक मनोवैज्ञानिक साधनों को अपनाया। अपने उपन्यासों तथा कहानियों में उसने बंगाल का इतना यथार्थ चित्र उपस्थित किया कि उसे पढ़कर लोग स्वयं ही सुधार के लिए आकुल हो उठे।

अशिक्षित होना एक बड़ा अभिशाप है जो सदा के लिए दृष्टि को अवरुद्ध कर देता है। बंगाल के तत्कालीन नारी समाज के साथ भी ठीक यही बातें हुईं। अपनी पुस्तक 'वुमेन ऑफ बंगाल' में श्रीमती मार्गरेट एम. उरखार्ट लिखती हैं, "यद्यपि लड़कियों की शिक्षा में लोगों की अभिरुचि है, परन्तु अभी तक इसे कार्य रूप में परिणत करने का यत्न नहीं किया गया; यहाँ तक कि शिक्षा का जो प्रबन्ध उपलब्ध भी है उसका भी उपयोग नहीं किया जाता।" जैसाकि लेखिका ने आगे स्वयं बताया है, यह शिक्षा का अभाव बहुधा बाल-विवाह के कारण है। बहुत कम अवस्था में ही लोग लड़कियों का विवाह करने के लिए यत्नशील रहते थे, और इसके परिणाम-स्वरूप उनकी शिक्षा प्रायः नहीं के बराबर होती थी। इस शिक्षा के अभाव के कारण अंधविश्वासों तथा रूढ़ियों का प्रवेश बहुत आसानी से समझा जा सकता है।

सामाजिक सन्तुलन बिगड़ जाने के कारण कन्या के विवाह में काफ़ी अधिक दहेज दिया और लिया जाने लगा था। यह इसी का फल था कि उस समय के बंगाल में पुत्री का जन्म प्रायः एक शोचनीय घटना हो गयी थी। इसी के साथ-साथ कुलीनता की प्रथा भी जुड़ी हुई थी। क्योंकि लड़की का विवाह एक बहुत ही सीमित वर्ग में किया जा सकता था, इसीलिए उपयुक्त वर का मिलना प्रायः असम्भव हो गया था। इन दोनों प्रथाओं का सम्मिलित परिणाम यह हुआ कि बाल-विवाह तथा बहु-विवाह अधिकाधिक संख्या में होने लगे। बहु-विवाह के अन्तर्गत प्रायः अनमेल विवाह भी होते थे। पचास-पचपन के बुड्ढे का विवाह तेरह-चौदह वर्ष की लड़की से हो जाना एक साधारण बात थी।

बहुत छोटी अवस्था में विवाह कर देने का एक धार्मिक कारण भी था। श्रीमती उरखार्ट के अनुसार, "लड़की की अपने पिता के घर रहने की अवधि यथासम्भव संक्षिप्त की जाती थी···माता-पिता का यह पुनीत कर्त्तव्य माना जाता

है कि वे लड़की को अपने संरक्षण से उसी अवस्था में दान कर दें जबकि उसका कौमार्य नितान्त असन्दिग्ध है। प्रचलित परम्पराओं के अनुसार आठवर्ष की आयु बहुत पवित्र मानी जाती है, क्योंकि साधारण विश्वासों के अनुसार इसी अवस्था में शिव की पत्नी गौरी का विवाह हुआ था।" इसी भावना के कारण बाल-विवाह सामान्य धर्म का एक अंग माना जाता था। एक निश्चित अवस्था तक विवाह न कर देने के दण्ड-स्वरूप लड़की के पिता को जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता था। अतः वंश मर्यादा तथा कुलीनता की रक्षा के लिए अधिकांश पिता लड़की के सुख-दुख की ज़रा भी चिन्ता किये विना उसका विवाह बहुत कम अवस्था में ही कर दिया करते थे। इसके फलस्वरूप जब कभी अनमेल विवाह होते थे तो प्रायः उन्नीस-बीस वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते अधिकांश सधवाएँ विधवा हो जाती थीं। प्रथम यौवन में ही विधवा हो जाना बहुतों की नियति बन गया था; और क्योंकि विधवा-विवाह एकदम निषिद्ध था, इसीलिए विधवाओं की एक बड़ी संख्या समाज के लिए एक विकट समस्या बन गयी थी। विधवाओं की दुर्दशा का वर्णन उस युग के सामाजिक इतिहास में स्थान-स्थान पर मिलता है।

यदि ध्यान से देखा जाये तो उपर्युक्त सभी समस्याएँ एक-दूसरे के साथ अनिवार्य रूप से सम्बद्ध जान पड़ती हैं। उस युग का पूरा सामाजिक ढाँचा ही ऐसा था कि उसमें नारी-जाति की समस्याओं का उचित ढंग से पर्यवेक्षण नहीं हो पाता था। अपने धर्म तथा विश्वासों को समाज काफ़ी अंशों में विकृत कर चुका था और बाहर की सभ्यता तथा संस्कृति को वह अग्राह्य समझता था। ऐसी स्थिति में अधिक दुर्भाग्य का भागी स्त्री जाति को ही बनना पड़ा। जबरन सती कराने की प्रथा जिस युग में प्रचलित थी, उस युग में नैतिक मान्यताओं का कितना अधिक विघटन हो चुका था, यह स्पष्ट ही है।

शरत्च्चन्द्र तथा उनके कुछ पूर्व के समय में पारिवारिक जीवन में भी बहुत अव्यवस्था आ गयी थी। सम्मिलित परिवार की प्रथा अकाट्य थी। पिता-पितामह के जीवन-काल में ही लड़के का अलग रहने लगना एक अकल्प्य बात थी। इसका परिणाम यह हुआ कि पारिवारिक जीवन में सुख-सुविधा के स्थान पर कलह, असन्तोष तथा वैर ने अपना स्थान बना लिया। स्त्रियों की सहिष्णुता का अनुचित लाभ उठाया गया, परन्तु जब उसकी भी सीमा का अतिक्रमण हो गया तो फिर ऐसी व्यवस्था में नित नयी दुरभिसन्धियों के अतिरिक्त और फिर चारा ही क्या रहा? गृह-कलह प्रायः ही स्थायी वैमनस्य तथा वैर का रूप धारण कर लेता था। और इस प्रकार सम्मिलित परिवार तब तक अलग नहीं होता था, जब तक कि उसके सदस्यों का पारस्परिक कलह तथा असन्तोष अपनी चरम सीमा तक न पहुँच जाये।

धर्म में जड़ निष्ठा सम्भवतः पुरुषों से अधिक स्त्रियों का गुण होता है।

तत्कालीन बंगाल में धर्म का यह मिथ्या आचरण इतना अधिक बढ़ गया था कि उसकी मूल आत्मा लगभग नष्ट हो चुकी थी। परम्परा से चले आनेवाले आचारों का बिना उनका रहस्य समझे हुए पालन करना धार्मिक जीवन का एकमात्र चिह्न था। इन मिथ्या आचारों में अशिक्षा के कारण स्त्रियों की ही आस्था अधिक थी। समय व्यतीत करने का कोई अन्य साधन न होने के कारण वे या तो कलह और पर निन्दा में रत रहती थीं, या फिर इस धार्मिक कर्मकाण्ड को करते रहने में ही उनका समय जाता था। स्पष्ट है कि इन दोनों ही प्रकार के कार्यों में वृद्धाओं को अवसर अपेक्षाकृत अधिक रहता था।

धर्म के रूप में इस प्रकार की विकृतियाँ आने पर अन्धविश्वासों का अधिकाधिक संख्या में प्रचलित होना एक स्वाभाविक परिणाम है। इन रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों से समाज का बौद्धिक स्तर एकदम जर्जर हो उठता है। धर्म की प्रथम मान्यता सहिष्णुता का विघटन भी इसी के फलस्वरूप होता है। ऐसे समय में नैतिक मूल्य तथा मर्यादाएँ भी धीमे-धीमे लुप्त होने लगती हैं, और एक प्रकार से समाज में गत्यवरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। शरच्चन्द्र के समय में यह गत्यवरोध बहुत कुछ अपना रूप स्पष्ट कर चुका था, और उनका कलाकार मन इससे अत्यन्त विक्षुब्ध हो उठा था। इसीलिए शरत् में सर्वत्र एक रूमानी भावना दिखाई पड़ने के बावजूद, उनमें 'सोशल कण्टेण्ट' का कहीं अभाव नहीं दिखाई देता।

शरच्चन्द्र के समय के समाज का जो एक संक्षिप्त चित्र ऊपर प्रस्तुत किया गया है, उससे यह जान पड़ सकता है कि तत्कालीन समाज पतन के निम्नतम स्तरों तक पहुँच चुका था। परन्तु बात ठीक ऐसी ही नहीं है। उचित सन्दर्भ में अध्ययन करने से स्पष्ट हो जायगा कि 19वीं शताब्दी के उत्तर भारत में कुछ अन्तरों के साथ लगभग सर्वत्र ही ऐसी स्थिति थी। बंगाल में कुछ विशेष कारणों से स्त्री जाति की दुर्दशा अवश्य ही कुछ अधिक थी। इसके अतिरिक्त आंग्ल संस्कृति के साथ सर्वप्रथम सम्पर्क पाने के कारण, वहाँ संस्कृति-संघर्ष भी कुछ अधिक तीव्र हो उठा था। शेष उत्तर भारत में इस संस्कृति-संघर्ष के आने तक वहाँ के निवासी इससे भलीभाँति परिचित हो चुके थे। बंगाल की नारियों की दुरवस्था को देखकर तत्कालीन बहुत-से कलाकारों ने उसके विरुद्ध आवाज़ उठायी, परन्तु शरच्चन्द्र का विद्रोह सबसे अधिक सशक्त, तर्कपूर्ण तथा प्रभावोत्पादक था। अपने समाज की कुरीतियों का जहाँ उन्होंने चित्रण किया, वहीं वे उसकी अमिट आस्था तथा मर्यादा का भी अंकन करते रहे। इस सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण कभी निराशावादी नहीं रहा।

स्त्री-समाज की वकालत शरच्चन्द्र ने नितान्त बौद्धिक स्तर पर की है। उनका निबन्ध 'नारी का मूल्य' उनके गहन अध्ययन, चिन्तन तथा संवेदनशीलता का

सूचक है। भले को बुरे से अलग करना वे भलीभाँति जानते थे। प्राचीन तथा नवीन में जहाँ भी जो कुछ अच्छा तथा शुभ है, वह उनके लिए ग्राह्य है। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन उन्होंने अपने साहित्य में किया है—निबन्धों में एक ढंग से तथा उपन्यासों और कहानियों में दूसरे ढंग से। उनकी कला का चरम उद्देश्य पतित को सहानुभूति देना तथा उसे ऊपर उठाना रहा है। उनके समाज में जितना ही अधिक मूल्यों का विघटन हुआ था, उसी अनुपात से उनकी कला में निखार आया है। बंगाल के नारी-समाज के लिए शरच्चन्द्र ने जो भी कुछ किया, उसका सही-सही मूल्यांकन आने वाले युग के सामाजिक इतिहासकार ही कर सकेंगे। जिस कार्य को बड़े-से-बड़े सुधारक भी एक साथ मिलकर नहीं कर पाये, उस कार्य को शरत् की कला ने मानो अनायास ही सम्पन्न कर दिया। इस दृष्टिकोण से, बंगाल के नारी-समाज को (Emancipation) दिलाने का श्रेय बहुत कुछ शरच्चन्द्र को दिया जा सकता है।

●

शरच्चन्द्र की रचनाओं की समयानुक्रमणिका

(इस तालिका में दिये गये वर्ष बंगला समय के अनुसार हैं। साधारणत: बंगाब्द में 593 जोड़ने से ईसवी सन् की संख्या प्राप्त होती है। शरच्चन्द्र की अधिकांश रचनाओं का प्रथम प्रकाशन तत्कालीन बंगाली पत्र-पत्रिकाओं में हुआ था। अत: उनका वास्तविक रचनाकाल उनके प्रथम प्रकाशन-काल के कुछ ही पूर्व माना जा सकता है।)

वर्ष	रचना	पत्रिका तथा मास
1309	मन्दिर	......
1314	बड़दिदि (बड़ी बहिन)	'भारती' : वैशाख-आषाढ़
1319	रामेर सुमति (सुमति)	'यमुना' : फाल्गुन-चैत्र
	काशीनाथ	'साहित्य' : फाल्गुन-चैत्र
	बोझ	'यमुना' : कार्त्तिक-पौष
	वाल्यस्मृति	'साहित्य' : माघ
1320	चन्द्रनाथ	'यमुना' : वैसाख-आश्विन
	विन्दुर छेले (बिन्दो का लल्ला)	'यमुना' : श्रावण
	विराजवहू	'भारतवर्ष' : पौष-माघ
	पथ-निर्देश	'यमुना' : वैशाख
	परिणीता	'यमुना' : फाल्गुन
	आलो और छाया	'यमुना' : आषाढ़-भाद्र
	अनुपमार प्रेम	'साहित्य' : चैत्र
	चरित्रहीन (आंशिक)	'यमुना' कार्त्तिक-चैत्र (एवं 1321 में)

वर्ष	रचना	पत्रिका तथा मास
1321	पंडित मौशाइ (पण्डित जी)	'भारतवर्ष' : वैशाख-श्रावण
	निष्कृति (आंशिक)	'यमुना' : वैशाख
	मेजदिदि (मझली बहन)	'भारतवर्ष' : कार्त्तिक
	दर्पचूर्ण	'भारतवर्ष' : माघ
	आंधार आलो	'भारतवर्ष' : भाद्र
	हरिचरण	'साहित्य' : आषाढ़
1322	पल्ली समाज (ग्रामीण समाज)	'भारतवर्ष' : आश्विन, आग्रहायण-पौष
	श्रीकान्त—प्रथम पर्व	'भारतवर्ष' : माघ-चैत्र (एवं वैशाख-माघ 1323)
1323	वैकुंठेर विल	'भारतवर्ष' : ज्येष्ठ-श्रावण
	अरक्षणीया	'भारतवर्ष' : आश्विन
	देवदास	'भारतवर्ष' : चैत्र (एवं वैशाख-आषाढ़ 1323)
1323	निष्कृति (समाप्त)	'भारतवर्ष' : भाद्र, कार्त्तिक, पौष
	गृहदाह	'भारतवर्ष' : माघ-चैत्र (एवं वैशाख-आश्विन आग्रहायण-फाल्गुन 1324; पौष-चैत्र 1324; आषाढ़-आग्रहायण, पौष-माघ) ।

वर्ष	रचना	पत्रिका तथा मास
1324	स्वामी	'नारायण' : श्रावण-भाद्र
	एकादशी वैरागी	'भारतवर्ष' : कार्त्तिक
	दत्ता	'भारतवर्ष' : पौष-चैत्र (एवं वैशाख-भाद्र 1325)
	श्रीकान्त—द्वितीय पर्व	'भारतवर्ष' : आषाढ़-भाद्र, आग्रहायण-चैत्र (एवं वैशाख-आषाढ़, भाद्र-आश्विन 1325)
1325	मामलार फल	'पार्वती' : आश्विन
	विलासी	'भारती' : वैशाख
1326	छवि	'आगमनी' : पूजा वार्षिकी
1327	वामुनेर मेये (ब्राह्मण की बेटी)	आश्विन
	देना पावना (लेन-देन)	'भारतवर्ष' : आषाढ़-आश्विन, पौष, चैत्र (एवं ज्येष्ठ, श्रावण, कार्त्तिक, चैत्र 1328; वैशाख-श्रावण; आश्विन-कार्तिक, माघ-चैत्र 1329; वैशाख, आषाढ़-श्रावण 1330)
	श्रीकान्त—तृतीय पर्व (आंशिक)	'भारतवर्ष' : पौष-फाल्गुन (एवं वैशाख, आषाढ़, भाद्र-आश्विन, पौष 1328

1329	महेश	'वंगवाणी' : आश्विन
	अभागीर स्वर्ग	'वंगवाणी' : माघ
	पथेर दावी (पथ के दावेदार)	'वंगवाणी' : फाल्गुन-चैत्र (एवं वैशाख-आषाढ़ भाद्र, आग्रहायण-फाल्गुन 1330 ज्येष्ठ, आश्विन-कार्तिक, पौष-माघ 1331; वैशाख ज्येष्ठ-भाद्र, कार्तिक, फाल्गुन 1332; वैशाख 1333)
1330	नारीर मूल्य (पुस्तकाकार)	(चैत्र, वैशाख-आषाढ़, भाद्र-आश्विन 1320 की 'यमुना' में श्रीमती अनिला देवी के नाम से प्रकाशित)
	नवविधान	'भारतवर्ष' : माघ-फाल्गुन (एवं वैशाख, आषाढ़, आश्विन-कार्तिक 1331)
1332	हरिलक्ष्मी	'वसुमती' : शारदीया
	परेश	'शरतेर फूले' : भाद्र
1334	षोड़शी (पुस्तकाकार)	श्रावण
	शेष प्रश्न (पत्रिका में प्रकाशित अंश पुस्तकाकार उपन्यास से कुछ भिन्न हैं।)	'भारतवर्ष' : श्रावण-कार्त्तिक, माघ-चैत्र (एवं ज्येष्ठ-श्रावण, कार्त्तिक, पौष, फाल्गुन 1335; वैशाख, श्रावण, कार्त्तिक, पौष, फाल्गुन, चैत्र, 1336; चैत्र 1337; वैशाख 1338)
	सती	'वंगवाणी' : आषाढ़

1335	रमा (पुस्तकाकार)	श्रावण
	तरुणेर विद्रोह	(18 अप्रैल 1929 ई०)
1338	श्रीकान्त—चतुर्थ पर्व	'विचित्रा' : फाल्गुन-चैत्र (एवं वैशाख-माघ 1339)
1339	स्वदेश और साहित्य	भाद्र
	विप्रदास	'विचित्रा' : फाल्गुन-चैत्र (एवं वैशाख-आषाढ़, आश्विन, फाल्गुन 1340; वैशाख, श्रावण-भाद्र, कार्त्तिक-माघ 1341 इसके पूर्व 10 परिच्छेद तक 1336-38 की 'वेणु' में प्रकाशित,
1340	अनुराधा	'भारतवर्ष' : चैत्र
1342	विराजबहू (नाटक-पुस्तकाकार)	श्रावण
	विजया (नाटक-पुस्तकाकार)	पौष
1345	शुभदा	ज्येष्ठ (शरत् बाबू की मृत्यु के उपरान्त प्रकाशित, यद्यपि इस उपन्यास का अधिकांश लेखक के रचनाकाल के प्रारम्भिक भाग में लिखा गया था।)

(उपर्युक्त सामग्री श्री व्रजेन्द्रनाथ वंद्योपाध्याय लिखित 'शरत्-साहित्य-परिचय' पौष, माघ, फाल्गुन 1352 की 'शनिवारेर चिठि' से ली गयी है। बाद में इस सामग्री का समावेश वंद्योपाध्याय जी की 'शरत्-परिचय' शीर्षक पुस्तक में भी किया गया है। 'शरत्-साहित्य-संग्रह' के अब तक प्रकाशित भागों के परिशिष्ट में दी हुई प्रथम प्रकाशन की भी तिथियाँ लगभग यही हैं।)

□

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रयुक्त शरच्चन्द्र के हिन्दी संस्करणों का परिचय

नाम	अनुवादक	सन्	प्रकाशक	
1. बड़ी बहिन (शरत्-साहित्य 10)	—रामचन्द्र वर्मा	1950 ई० :	हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर,	बम्बई
2. सुमति (शरत्-साहित्य 1)	—धन्यकुमार जैन	1949 ई० :	हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर,	बम्बई
3. चन्द्रनाथ (शरत्-साहित्य 3)	—रामचन्द्र वर्मा	1943 ई० :	हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर,	बम्बई
4. विन्दो का लल्ला (शरत्-साहित्य 8)	—धन्यकुमार जैन	1947 ई० :	हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर,	बम्बई
5. विराज बहू	—ठाकुरदत्त मिश्र	1945 ई० :	किताब महल,	इलाहाबाद
6. परिणीता (शरत्-साहित्य 12)	—धन्यकुमार जैन	1946 ई० :	हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर,	बम्बई
7. चरित्रहीन	—कार्त्तिकेय चरण मुखोपाध्याय	1950 ई० :	हिन्दी पुस्तक एजेंसी,	कलकत्ता
8. पण्डितजी (शरत्-साहित्य 11)	—रामचन्द्र वर्मा	1946 ई० :	हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर,	बम्बई
9. मँझली बहिन (शरत्-साहित्य 11)	—रामचन्द्र वर्मा	1946 ई० :	हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर,	बम्बई
10. ग्रामीण समाज (शरत्-साहित्य 19)	—रामचन्द्र वर्मा	1947 ई० :	हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर,	बम्बई
11. अरक्षणीया (सरस्वती सीरीज़ 65)	—रूपनारायण पांडेय		इण्डियन प्रेस,	इलाहाबाद

12. श्रीकान्त, प्रथम पर्व (शरत्-साहित्य 4) हेमचन्द्र मोदी 1947 ई० : हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर, बम्बई

श्रीकान्त, द्वितीय पर्व (शरत्-साहित्य 6) —हेमचन्द्र मोदी 1946 ई० : हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर, बम्बई

श्रीकान्त, तृतीय पव (शरत्-साहित्य 7)—धन्यकुमार जैन 1950 ई० : हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर, बम्बई

श्रीकान्त, चतुर्थ पर्व (शरत्-साहित्य 22) —कमल जोशी 1949 ई० : हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर, बम्बई

13. देवदास (शरत्-साहित्य 10) —रामचन्द्र वर्मा 1950 ई० : हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर, बम्बई

14. दत्ता (शरत्-साहित्य 18) —सुन्दरलाल त्रिपाठी 1947 ई० : हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर, बम्बई

15. गृहदाह (शरत्-माहित्य 16-17) —धन्यकुमार जैन 1948 ई० : हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर, बम्बई

16. ब्राह्मण की बेटी (शरत्-साहित्य 5) धन्यकुमार जैन 1940 ई० : हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर, बम्बई

17. लेन-देन —हरिदास शास्त्री तथा गोपालचन्द्र वेदान्त शास्त्री 1940 ई० : इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद

18. पथ के दावेदार (अधिकार)
(शरत्-साहित्य 13-14) —धन्यकुमार जैन 1946 ई० : हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर, बम्बई

19. नवविधान (सरस्वती सिरीज) इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद

20. शेष प्रश्न —कमलाप्रसादराय शर्मा, बी० ए० 1949 ई० : साहित्य-सेवक-कार्यालय, बनारस

21. विप्रदास —कमलाप्रसादराय शर्मा, बी० ए० 1947 ई० : साहित्य-सेवक-कार्यालय, बनारस

सहायक पुस्तकें

अंग्रेज़ी—

1. उरुखार्ट, मार्गरेट एम० वूमेन ऑफ़ बेंगाल 1927 ई० : एसोशिएशन प्रेस, कलकत्ता
2. मदान, इन्द्रनाथ शरत्चन्द्र चटर्जी—हिज़ माइण्ड एण्ड आर्ट 1944 ई० : मिनर्वा पब्लिशर्स, लाहौर
3. मित्रा, शिशिरकुमार : कल्चरल फ़ेलोशिप ऑफ़ बेंगाल 19.6 ई० : कल्चर पब्लिशर्स, कलकत्ता
4. सेनगुप्त, एस० सी० शरत्चन्द्र —मैन एण्ड आर्टिस्ट 19.5 ई० : सरस्वती लाइब्रेरी, कलकत्ता
5. हुमायूँ कबीर शरत्चन्द्र चटर्जी पद्मा पब्लिकेशन, बम्बई

बांग्ला—

1. कन्हाईलाल घोष : शरत्चन्द्र 1357 (बँगला वर्ष) : कन्हाई लाल घोष, 81, शिमला स्ट्रीट, कलकत्ता
2. ब्रजेन्द्रनाथ वंद्योपाध्याय : शरत् परिचय 1357 (बँगला वर्ष : रंजन पब्लिशिंग हाउस, कलकत्ता
3. शैलेश विशी : विप्लवी शरत्चन्द्रर जीवनप्रश्न ज्योति प्रकाशालय, कलकत्ता
4. श्रीकुमार वंद्योपाध्याय : वांग्ला उपन्यास 1354 (बँगला वर्ष) : विश्वभारती ग्रन्थालय, कलकत्ता
5. श्रीकुमार वंद्योपाध्याय : वंग साहित्य उपन्यासेर धारा 1948 ई० : मॉडर्न बुक एजेन्सी, कलकत्ता
6. सुबोधचन्द्र सेनगुप्त : शरत्चन्द्र 1356 (बँगला वर्ष) ए० मुखर्जी एण्ड कम्पनी लिमिटेड, कलकत्ता
7. सुरेन्द्रनाथ गंगोपाध्याय : शरत् परिचय ओरियण्टल बुक कम्पनी, कलकत्ता

हिन्दी—

1. गुप्त, मन्मथनाथ : शरच्चन्द्र किताब महल, इलाहाबाद
2. जोशी, इलाचन्द्र—व्यक्ति और कलाकार 1954 ई० : अशोक प्रेस, पटना
3. मदान, इन्द्रनाथ : शरत्चन्द्र—चिन्तन व कला हिन्दी भवन, इलाहाबाद
4. शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय : नारी का मूल्य 1946 ई० : हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर, बम्बई
5. शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय :—शरत् निबन्धावली 1954 ई० : हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर, बम्बई
6. शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय :—शरत् पत्रावली 1952 ई० : हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर, बम्बई

अनुक्रमणिका

[प्रत्येक नारी-पात्र के नाम के आगे उस कहानी अथवा उपन्यास का नाम दिया गया है, जिसमें उस पात्र विशेष का अंकन हुआ है; अनुक्रमणिका में दिये हुए अंक पृष्ठ-संख्या के सूचक हैं।]

[अ]

अंबिका बाबू की पत्नी (दर्पचूर्ण) 255

अघोरमयी (चरित्रहीन) 52. 62

अचला (गृहदाह) 21, 45, 50, 118, 126-139, 247

अन्नदा (विप्रदास) 229, 239

अन्नदा (श्रीकान्त) 42, 91, 98-101, 103, 135, 244, 261

अन्नपूर्णा (बिन्दो का लल्ला) 32-37

अनुपमा (अनुपमा का प्रेम) 254

अनुपमा की भाभी (अनुपमा का प्रेम) 254

अनुपमा की मां (अनुपमा का प्रेम) 254

अनुराधा (अनुराधा) 263, 264

अपर्णा (मन्दिर) 250

अपूर्व की माँ (पथ के दावेदार) 160, 161, 168, 175, 176

अभया (श्रीकान्त) 52, 91, 94, 99-100, 154, 172, 191

अभागिनी (अभागिनी का स्वर्ग) 262

अमीना (महेश) 262

अलका (लेन-देन) देखो षोड़शी

[इ]

इन्दुमती (दर्पचूर्ण) 254, 255

[उ]

उमा (नवविधान) 178, 183, 188

उषा (नवविधान) 177-189

[ए]

एलोकेशी (बिन्दो का लल्ला) 32-34 36, 42, 86

[क]

कमल (शेष प्रश्न) 21, 42, 48, 53-56, 100, 104, 135, 145, 149, 154, 158, 172, 190-225, 244, 247

कमललता (श्रीकान्त) 92-93, 95, 103-106

कमला (काशीनाथ) 250-251

कमला (हरिलक्ष्मी) 262-263

करुणामयी (पथ के दावेदार) देखो अपूर्व की माँ

कल्याणी (विप्रदास) 229, 237, 238, 239, 240
कात्यायनी (शुभदा) 269
कादम्बिनी (मझली बहिन) 72-76, 246
कामिनी (चरित्रहीन) 52, 59, 63
कामिनी की माँ (ग्रामीण समाज) 82
कालीतारा (ब्राह्मण की बेटी) 142, 148, 149
काशीनाथ की माँई (काशीनाथ) 251
किरणमयी (चरित्रहीन) 42, 61-63, 69, 100, 102, 103, 143, 154, 172, 191, 192, 233, 244, 245, 247
कुंज की सास (पंडित जी) 70, 247
कुआरी पत्नी (श्रीकान्त) 93, 96, 106
कुसुम (पंडित जी) 65-72
कृष्णप्रिया (शुभदा) 265

[ग]

गंगामणि (मुकद्दमे का नतीजा) 260
गंगामणि की देवरानी (मुकद्दमे का नतीजा) 260
गिरिबाला (बोझ) 251
गुणेन्द्र की मौसी (पथ-निर्देश) 252
गौरी (एकादशी वैरागी) 259

[च]

चन्द्रमुखी (देवदास) 108, 113-116
चक्रवर्ती गृहिणी (श्रीकान्त) 93, 96, 106
चारुबाला की माँ—मनोरमा परिणीता) 49

[छ]

छलना (शुभदा) 265
छोटी बहू (अरक्षणीया) 87

[ज]

जगततारिणी (चरित्रहीन) 52, 62
जगद्धात्री (ब्राह्मण की बेटी) 142-144, 146-148
जयावती (शुभदा) 265, 266
जलदबाला (देवदास) 112, 116

[ट]

टगर (श्रीकान्त) 93, 105

[द]

दयामयी (विप्रदास) 42, 70, 229, 230, 231, 233-235, 238-240, 246, 248, 256
दिगम्बरी (सुमति) 26, 29, 36, 86, 147, 247
दुर्गा (अरक्षणीया) 83-84, 86-89
देवदास की भाभी (देवदास) 116
देवदास की माँ (देवदास) 116, 118

[न]

नयनतारा (निष्कृति) 257-258
नलिनी (दत्ता) 119, 121, 124-125
नलिनी (बोझ) 251
नवतारा (पथ के दावेदार) 161, 162, 172, 175
नृत्यकाली (बोझ) 251

नारायणी (सुमति) 22, 23-26, 35, 36, 70, 72, 246, 247, 260
नीला (निष्कृति) 258
नीलिमा (शेष प्रश्न) 190-191, 206, 212, 221-224

[प]

पदमा (श्रीकान्त) 93, 106
प्रकृति (विप्रदास) 231, 240
प्रतुल (प्रकाश और छाया) 253
प्रभा (अनुराधा) 264
पार्वती (देवदास) 108-116
पारो की दादी (देवदास) 108, 116
पारो की माँ (देवदास) 108, 116
पुटी (विराज बहू) 39, 43
पुटूं (श्रीकान्त) 93, 105-106
प्यारी (श्रीकान्त) देखो राजलक्ष्मी

[ब]

बर्मी स्त्री (श्रीकान्त) 93, 106
बिन्दु (बिन्दो का लल्ला) 32-36, 72, 247, 260
विलासी (विलासी) 260-261
बुआजी (गृहदाह) 125, 139
बुआजी (हरिलक्ष्मी) 262
बुआजी (श्रीकान्त) 93, 106
बिजलीबाई (अन्धकार में आलोक) 255, 556
बेला (शेष प्रश्न) 191, 221, 223-226
बैरिस्टर पत्नी (विप्रदास) 231, 240

[भ]

भवानी (वैकुण्ठ का दान-पात्र) 256, 257
भामिनी (अरक्षणीया) 87-88
भारती (पथ के दावेदार) 160-176, 234
भारती की महरी (पथ के दावेदार) 161, 176
भुवनेश्वरी (परिणीता) 49, 50, 70, 246
भैरव आचार्य की पत्नी (ग्रामीण समाज) 81
भैरव आचार्य की पुत्री (ग्रामीण समाज) 81

[म]

मणिशंकर की पत्नी (चन्द्रनाथ) 30
मनोरमा (देवदास) 42, 110, 113, 116
मनोरमा (वैकुण्ठ का दान-पत्र) 257
मनोरमा (शेष प्रश्न) 190-192, 198, 217-220
महेश्वरी (चरित्रहीन) 52, 63
मातो (बोझ) 251
माधवी (बड़ी बहिन) 19-22, 53, 78, 109, 246
मानदा (पथ-निर्देश) 252
मालती (श्रीकान्त) 93, 106
मालिनी (शेष प्रश्न) 191, 227
मा-शोये (तसबीर) 261
मुक्ता (स्वामी) 259

मनुआ की माँ (वैकुण्ठ का दान-पत्र) 257
मोहिनी (विराजबहू) 42, 43, 44
मृणाल (गृहदाह) 127, 128, 130, 131, 132, 133, 135, 136-139, 158
मैत्रेयी (विप्रदास) 230, 237-38
मोक्षदा (चरित्रहीन) 63

[य]

यशोदा (देवदास) 112
यज्ञदत्त की बुआ (प्रकाश और छाया) 253
योगमाया (बोझ) 251

[र]

रमा (ग्रामीण समाज) 78-81, 151
रमा की मौसी (ग्रामीण समाज) 81
राजबाला (बोझ) 251
राजलक्ष्मी (श्रीकान्त) 92-100, 101, 103, 106
राधारानी (अन्धकार में आलोक) 255, 256
रायगृहिणी (बड़ी बहिन) 22, 23, 35
रासमणि (बोझ) 251
रासमणि (शुभदा) 265
रासी ब्राह्मनी (ब्राह्मण की बेटी) 142, 143, 147-148
राक्षसी (गृहदाह) देखो वीणापाणि

[ल]

ललना (शुभदा) 265
ललित की माँ (अनुपमा का प्रेम) 254
ललिता (परिणीता) 45-50, 53, 69, 85, 118, 124
ललिता की माँईं (परिणीता) 49

[व]

वन्दना (विप्रदास) 42, 239
वन्दना की मौसी (विप्रदास) 229, 230-232, 234, 239, 240
विन्दुवासिनी (काशीनाथ) 251
विन्दो (शुभदा) 265
विन्दो की माता (शुभदा) 265
विजया (दत्ता) 118-125
विधु (बोझ) 251
विभा (नव विधान) 177-178, 181-188
विमला (दर्पचूर्ण) 254, 255
विराज बहू (विराजबहू) 38-44, 48, 53, 69, 78, 243-46
विश्वेश्वरी (ग्रामीण समाज) 78, 81
वीणापाणि (गृहदाह) 128, 133, 134, 139
वृन्दावन की माँ (पंडितजी) 69-70
व्रजेश्वरी (पंडितजी) 70-71

[श]

शान्ति (बड़ी बहिन) 22
शिवचन्द्र की स्त्री (बड़ी बहिन) 22
शिवानी (शव प्रश्न) देखो कमल
शुभदा (शुभदा) 265
शैलजा (निष्कृति) 257-258
षोड़शी (लेन-देन) 151-159, 191

[स]

सन्ध्या (ब्राह्मण की बेटी) 141 145, 146-148
सत्येन्द्र की माँ (अन्धकार में आलोक) 256
सत्येन्द्र की माँ (बोझ) 251
सती (विप्रदास) 232-236, 238
सरयू (चन्द्रनाथ) 27-31, 43
सरोजिनी (चरित्रहीन) 52, 61, 62
सरला (बोझ) 251
स्वर्णमंजरी (अरक्षणीया) 86-87, 247
सावित्री (चरित्रहीन) 51, 52, 59-64, 245
सिद्धेश्वरी (निष्कृति) 257-258
सुन्दरी (विराज बहू) 43
सुनन्दा (श्रीकान्त) 93, 96, 105
सुमित्रा (पथ के दावेदार) 161, 162, 170-175, 191
सुरबाला (चरित्रहीन) 52-55, 60-64, 245
सुरमा (प्रकाश और छाया) 253
सुरेश की माँ (अनुपमा का प्रेम) 254
सुलोचना (चन्द्रनाथ) 30
सुलोचना (पथ-निर्देश) 251, 252
सौदामिनी (स्वामी) 258, 259
सौदामिनी की माँ (स्वामी) 259
सौदामिनी की सास (स्वामी) 259

[ह]

हरकाली (चन्द्रनाथ) 29
हरिबाला (चन्द्रनाथ) 28, 30
हरिया की माँ (गृहदाह) 128, 139
हरिलक्ष्मी (हरिलक्ष्मी) 262-263
हेम (पथ-निर्देश) 251, 252
हेम (लेन-देन) 152-156, 159
हेम की माँ (लेन-देन) 152, 158
हेमनलिनी (विप्रदास) 231, 240
हेमांगिनी (मँझली बहिन) 70, 72-76, 246, 248, 260
हेमांगिनी (बैकुण्ठ का दान-पत्र) 257

[क्ष]

क्षेन्ती (ग्रामीण समाज) 81

[ज्ञ]

ज्ञानदा (अरक्षणीया) 83-89, 109
ज्ञानदा (ब्राह्मण की बेटी) 142, 146, 149

□□□

भारतीय ज्ञानपीठ

उद्देश्य

ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध और अप्रकाशित सामग्री का अनुसन्धान और प्रकाशन तथा लोक-हितकारी मौलिक-साहित्य का निर्माण

•

भारतीय ज्ञानपीठ
18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003

भारतीय ज्ञानपीठ

उद्देश्य

ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध और अप्रकाशित सामग्री का अनुसन्धान और प्रकाशन तथा लोक-हितकारी मौलिक-साहित्य का निर्माण

•

भारतीय ज्ञानपीठ
18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003